प्रकाशक
साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद



प्रथम संस्करण
सं० २०१२



पाँच रुपया



मुद्रक
रामआसरे कक्कड़
हिन्दी-साहित्य-प्रेस
इलाहाबाद

# भूमिका

इस समय हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बंध रखनेवाली अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें उपलब्ध हैं और उनमें प्रपादित सामग्री प्रामाणिक, उपयोगी एवं पठनीय है। उनके रहते हुए इस दिशा में मेरे प्रवेश करने का केवल एक कारण है और वह यह है कि उनमें से कुछ तो इतनी छोटी हैं कि उनसे हिन्दी भाषा और साहित्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का समुचित ज्ञान नहीं होता और कुछ इतनी बड़ी हैं कि उनके अध्ययन के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित है। प्रस्तुत पुस्तक दोनों के बीच की शृंखला मात्र है।

भाषा और साहित्य का इतिहास किसी जाति अथवा राष्ट्र का इतिहास नहीं है, पर राष्ट्र विशेष, उसके निवासियों और उन निवासियों की भाषा में लिखित एवं संगृहीत भावों तथा विचारों का वह इतिहास अवश्य है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का इतिहास लिखना बड़े दायित्व का कार्य है। अपने आपको इस दायित्व के सफल निर्वाह में अयोग्य समझते हुए भी मैंने इस दिशा में लेखनी उठाने की जो धृष्टता की है उसका मूल कारण है विद्यार्थी-वर्ग का आग्रह। इंटर, विशारद, बी० ए० तथा इसी कोटि की अन्य परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थी तद्विषयक अन्य पुस्तकों द्वारा अपनी जो जिज्ञासाएँ शान्त नहीं कर पाते, प्रस्तुत इतिहास में उनकी पूर्ति का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। विषय-सूची को देखने से ज्ञात होगा कि मैंने हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग को विद्यार्थियों के सामने यथार्थ रूप में रखने की चेष्टा की है। जहाँ तक हो सका है प्रत्येक युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन आधुनिकतम खोजों-द्वारा प्राप्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर किया गया है। साथ ही कवियों के समय और उनकी रचनाओं के क्रमिक विकास पर भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रत्येक युग में नाटक, उपन्यास, कहानी,

निबंध, आलोचना, एकांकी आदि साहित्य के विभिन्न अंगों के विकास की सम्यक् रूपरेखा प्रस्तुत की गई है और हिन्दी के [illegible] विशिष्टताओं का उल्लेख किया गया है। हिन्दी के [illegible] होने से [illegible] इस प्रकार हिन्दी [illegible] स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैं कुछ आलोचकों का [illegible] नहीं कर सकता हूँ। इस दिशा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० श्यामसुन्दर दास, पं० [illegible] वाजपेयी, श्री [illegible], पं० रामनरेश त्रिपाठी, आचार्य [illegible], डा० नगेन्द्र, डा० रामकुमार वर्मा, डा० [illegible] आदि की महत्त्वपूर्ण रचनाओं से विशेष लाभ उठाया है। साथ ही डा० [illegible] आदि के [illegible] तथा [illegible] सहायता ली है। अतः इन सभी [illegible] के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। मैं साहित्य-भवन के अधिकारियों, विशेषतः पं० [illegible] चतुर्वेदी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके परामर्श, सहयोग तथा प्रोत्साहन से मैं प्रस्तुत पुस्तक को अपने विद्यार्थियों के हाथ देने में समर्थ हो सका हूँ। पुस्तक में क्या है, क्या नहीं है, यह देखना आलोचकों का काम है। परन्तु मुझे आशा और विश्वास है कि इसमें जो कुछ और जितना है, उससे विद्यार्थियों को अवश्य लाभ होगा।

२२७, मीरापुर : इलाहाबाद—३
नवरात्र, सं० २०१५

राजेन्द्रसिंह गौड़

# विषय-सूची

## १. भाषा और साहित्य



## २. हिन्दी भाषा का विकास



## ३. हिन्दी साहित्य की प्रगति



## ४. हिन्दी-साहित्य का आदि काल



## ५. हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काल



## ६. संत-काव्य का विकास

---

# १. भाषा और साहित्य

पृथ्वी पर मानव का आविर्भाव एक अत्यंत रहस्यपूर्ण घटना है और उससे भी अधिक रहस्यपूर्ण घटना है उसके द्वारा भाषा की उत्पत्ति। भाषा कब और कैसे बनी—इस सम्बन्ध में भाषा-शास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई भाषा को ईश्वर-दत्त मानता है, कोई मानव-कृत और किसी का कहना है कि भाषा विकास का परिणाम है। इन मतो में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य है। ईश्वर-दत्त वह इसलिए है कि इस जगत की समस्त वस्तुएँ ईश्वर की देन हैं। ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है और इसके साथ ही उसने उसे बोलने की शक्ति से भी विभूषित किया है। पर बोलने-मात्र से भाषा का निर्माण नहीं होता। पशु-पक्षी बोलते हैं और मनुष्य भी, पर दोनों की बोलियो में महान अन्तर है। भाषा के जिस रूप को लेकर हम यहाँ उसकी चर्चा कर रहे हैं उसका सम्बन्ध पशु-पक्षी की बोलियों से नहीं, मनुष्य की बोली से है। इसलिए वह केवल ईश्वर-दत्त ही नहीं, मानव-कृत भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के आरम्भ में जब मानव का जीवन पशु-पक्षियों के जीवन की भाँति सर्वथा अविकसित अवस्था में था तब स्पष्ट वाणी के अभाव में वह मुख की भाव-भंगियों, हाथों की चेष्टा, भ्रू-संचालन, आँखों के हेर-फेर तथा शरीर के अन्य अवयवों के परिचालन-द्वारा अपना आत्म-प्रकाशन करता रहा होगा। वह बोलता रहा होगा, पर उसका बोलना शारीरिक क्रिया के रूप में मौन निवेदन ही रहा होगा। समय की गति के साथ शनैः शनैः उसकी इस दशा में परिवर्तन हुआ होगा, फिर उसने प्रकृति की ध्वनियों का अनुकरण कर अपने पास कतिपय मूल ध्वनियों का समूह एकत्र कर लिया होगा और इसी आधार पर उसने अपनी टूटी-फूटी भाषा का निर्माण किया होगा। यह भी संभव है कि भावावेग के समय

**भाषा की उत्पत्ति**

उसके मनोरागों की व्यञ्जक कुछ ध्वनियाँ सहसा निकल पड़ी होगी और उनसे उसकी वाणी को शक्ति मिली होगी। जो भी हो, यह निश्चित है कि भाषा मानव-कृत है और क्रमशः विकास का परिणाम है।

**भाषा और समाज**

भाषा का शाब्दिक अर्थ है—बोली जिसके माध्यम से हम सोचते और अपने भाव एवं विचार दूसरों पर प्रकट करते हैं। इसलिए भाषा ही वह बन्धन है जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता; वह समाज में रहता है और इसी कारण उसका शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है। भाषा भी समाज की अपेक्षा करती है। उसकी उत्पत्ति, उसका पालन-पोषण, उसका विकास—सब कुछ समाज-द्वारा ही होता है। समाज ही उसमें अपनी प्रवृत्तियों का रङ्ग भरता है, उसका रूप निर्धारित करता है और उसे सशक्त और सप्राण बनाकर अपने अस्तित्व का परिचय देता है। समाज से भाषा के अस्तित्व का और भाषा से समाज के अस्तित्व का पता चलता है। मनुष्य हो, समाज हो और यदि भाषा न हो तो जिस प्रकार समाज अस्तित्व-हीन हो जाता है उसी प्रकार यदि भाषा हो और उसे बोलनेवाला समाज न हो तो उस भाषा का कोई महत्त्व नहीं रहता। भाषा और समाज में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समाज से भाषा की और भाषा से समाज की प्रगति का आभास मिलता है। जो समाज जितना उन्नत होता है उसकी भाषा भी उतनी उन्नत होती है। भाषा समाज के परख की कसौटी है। इसलिए जो समाज अपनी भाषा को उन्नत रूप देना चाहता है वह उस पर नियंत्रण रखता है और उसकी सीमाएँ एवं मर्यादाएँ निश्चित कर देता है। वह उसे व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग-विशेष की संपत्ति नहीं बनने देता। वह उसके सामान्य रूप की रक्षा करता है। हो सकता है कि एक समाज के भीतर किसी वर्ग-विशेष की भाषा ऐसी हो जिसे उस वर्ग के सदस्य तो समझते हों, पर दूसरे वर्ग के व्यक्ति उससे अपरिचित हों। इसी देश में एक ही समाज के भीतर जब एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से किसी ग्राहक के सामने कोई रहस्यपूर्ण बात करना

चाहता है तब वह अपने वर्ग की भाषा का प्रयोग करता है। ग्राहक खड़ा-खड़ा मुँह ताकता है और दोनों व्यापारी आपस में बातें करते रहते हैं। ऐसी भाषा उस वर्ग-विशेष की भाषा हो सकती है, पर वह समाज की भाषा नहीं बन सकती। वर्ग-विशेष की भाषा का महत्त्व उसी वर्ग के इने-गिने व्यक्तियों के लिए होता है। व्यापक अर्थ में भाषा व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष की देन नहीं है। वह समाज की देन है, उस समाज की देन है जिसमें हजारों व्यक्ति और हजारों वर्ग हैं और जो किसी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला हुआ है। आज जो भाषा हम बोल रहे हैं उसका वर्तमान रूप ऐसे ही समाज ने स्थिर किया है।

**भाषा का विकास**

भाषा और समाज में परस्पर इतनी घनिष्ठता होने पर प्रश्न उठता है कि भाषा का विकास किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा का सम्बन्ध मानव-जीवन से है और उसका आरंभ वाक्य से होता है। हम वाक्यों में ही सोचते और वाक्यों में ही बोलते हैं। वाक्य ही हमारे चिन्तन और भाषण की इकाई है। बालक वाक्यों में ही बोलना सीखते हैं। अनुकरण-द्वारा वे, सब से पहले, अपनी माता की भाषा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि माता शुद्ध भाषा बोलती है और बालक उसके मुख से निकले हुए शब्दों को सुनकर उनका ठीक-ठीक उच्चारण करते हैं तब भाषा में विकास नहीं हो सकता। विकास तो तब होता है जब वक्ता के वाग्यंत्र अथवा श्रोता की श्रवणेन्द्रिय में कोई विकार होता है। इससे शब्दों के शुद्ध उच्चारण में विभिन्नता आ जाती है। कभी-कभी वक्ता प्रयत्न-लाघव द्वारा भी शब्दों के उच्चारण में परिवर्तन कर देता है। उसका यह स्वभाव है कि जिन अक्षरों का उच्चारण वह कठिन समझता है उन्हें वह त्याग देता है और उनके स्थान पर उनसे मिलते-जुलते शब्दों को वह अपना लेता है। श्रम घटाने की इस चेष्टा में ही भाषा की क्रियाशीलता निहित रहती है। इसके द्वारा भाषा में नूतन रूपों की सृष्टि होती है और पुरातन रूपों का लोप होता है। हमारे वाग्यंत्र तथा श्रवणेन्द्रिय पर पहाड़, मैदान, मरुभूमि

आदि की जलवायु का जो प्रभाव पड़ता है उसके कारण भी हमारी भाषा के वाह्य रूप में परिवर्तन होता रहता है। भाषा में आन्तरिक परिवर्तन मानसिक वृत्तियों की भिन्नता के कारण भी होता है। जहाँ जिस मानव-समुदाय की जैसी मानसिक वृत्ति रहती है उसके अनुरूप वह शब्दो के सामान्य अर्थ में परिवर्तन कर लेता है और उनका अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग करता है। ऐसी दशा में शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठते हैं और नितान्त नवीन अर्थ धारण कर लेते हैं। शब्दो में इसी प्रकार के वाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तनों के कारण ऐसी अनेक विभाषाएँ और बोलियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो अपनी मूल भाषा से संबंधित होने पर भी एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हो जाती हैं। हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी आदि सब संस्कृत के ही परिवर्तित रूप हैं, पर उनमें से प्रत्येक का अपना व्याकरण और अपना साहित्य है। हिन्दी हमारी राष्ट्र-भाषा है, पर उसमें भी अवान्तर भेद पाए जाते हैं। खड़ीबोली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी आदि अनेक विभाषाएँ उसके अन्तर्गत आती हैं। इन विभाषाओं का भी अपना व्याकरण और अपना साहित्य है।

देश, काल, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विदेशी उपजातियो के सम्मिश्रण तथा राजनीतिक एवं साहित्यिक कारणों से भी भाषा के स्वरूप और उसके गठन में परिवर्तन हो जाता है और कोई विभाषा भाषा का रूप धारण कर लेती है। उस समय वह अपनी भौगोलिक सीमाएँ लाँघकर समस्त जाति और राष्ट्र में प्रवेश कर जाती है। आज हमारे साहित्य में खड़ीबोली का प्राधान्य है, कभी इस क्षेत्र में ब्रजभाषा का बोलबाला था। इस प्रकार समय के हेर-फेर से भाषा उपभाषा और उपभाषा भाषा बनती रहती है। दोनों में भेद केवल इतना ही रहता है कि जहाँ विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल स्थिर करता है, वहाँ भाषा की सीमाएँ संस्कृति, सभ्यता एवं जातीय भाव स्थिर करते हैं। इस प्रकार भाषा की परिवर्तनशीलता में ही उसके विकास का रहस्य अन्तर्निहित रहता है जिसका उद्घाटन दो-चार-दस वर्षों मे नहीं, अपितु कई शताब्दियों के पश्चात् होता है।

ऊपर की पंक्तियों में भाषा के विकास की जो रूप-रेखा अंकित की गई है उससे यह न समझना चाहिए कि उसका कोई नियम ही नहीं है।

**भाषा और व्याकरण**

भाषा-शास्त्रियो का कहना है कि भाषा के विकास में कोई न कोई नियम अवश्य काम करता है। यदि ऐसा न हो, तो भाषा का रूप ही विकृत हो जाय और एक मनुष्य की भाषा दूसरा मनुष्य समझ ही न सके। व्याकरण ऐसे ही नियमो का पता लगाता है। वैयाकरण भाषा विशेष के अध्ययन से उन समस्त नियमों की खोज एवं उनका सकलन करता है जो भाषा के विकास में अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करते हैं। इस प्रकार जहाँ वह एक ओर भाषा के विकास की गति-विधि का रहस्य उद्घाटित करता है, वहाँ दूसरी ओर अपनी खोज-द्वारा संकलित नियमों के आधार पर वह उस भाषा के सीखनेवालो के लिए मार्ग सरल कर देता है। इसी प्रकार भाषा का व्याकरण बनता है। भाषा पहले बनती है, उसका व्याकरण उसके पश्चात् बनता है और फिर वही उस भाषा पर अनुशासन करता है। व्याकरण राजा है, भाषा उसकी प्रजा है। राजा न होने से प्रजा की जो दशा होती है, वही दशा व्याकरण के अभाव में भाषा की हो जाती है। व्याकरण का उद्देश्य भाषा को संयत करना है। वह विज्ञान भी है और कला भी। विज्ञन होने के नाते वह किसी भाषा-विशेष में प्रचलित नियमो की खोज करता है और कला होने के नाते वह उन्हीं नियमो से उस भापा को संयत करता है। किसी भाषा को सीखने के लिए जब हम उस भापा के व्याकरण का अध्ययन करते हैं तब हमारा तात्पर्य व्याकरण की केवल उस कला से होता है जो भाषा और उसके शब्दों की साधुता एवं असाधुता का विचार करती है। व्याकरण का संबंध एक काल की किसी एक भाषा से होता है और उसके सिद्ध रूप की ही वह शिक्षा देता है। वह उसकी शुद्धता और साधुता की रक्षा करता है और आवश्यकतानुसार नियमो के अनुकूल उसमें संशोधन, परिमार्जन और परिष्करण करता है। वह उसे विदेशी आक्रमणो से वचाता है और उसकी मौलिकता को स्थायित्व प्रदान करता है। परन्तु अपने इन्ही गुणों के वल पर जब वह उस

पर अधिक काल तक अनुशासन करता रहता है तब वह उसकी स्वाभाविकता, मौलिकता तथा पाचन-शक्ति को नष्ट भी कर देता है। ऐसी दशा में उससे संबंधित कोई विभाषा उसका स्थान लेकर उसे मृतकों की सूची में सम्मिलित कर देती है। संभवतः प्रतिक्रिया के रूप मे ही आज के साहित्यकार व्याकरण के कठोर नियमो के पक्ष में नही हैं। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह को बनाए रखने के लिए उन्होंने उसके बन्धन ढीले कर दिए हैं। युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण भी विश्व की भाषाएँ एक-दूसरे के सम्पर्क में इतनी शीघ्रता से आ रही हैं और उनमें इतनी तीव्रता से परिवर्तन हो रहे हैं कि उनके व्याकरण उनका साथ देने मे असमर्थ-से होते जा रहे हैं। फिर भी जबतक भाषा रहेगी, उसका अपनी मर्यादा और साधुता की रक्षा के लिए कोई-न-कोई व्याकरण भी रहेगा। भाषा व्याकरण की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकती।

**भाषा और साहित्य**

अब भाषा और साहित्य के संबंध पर विचार कीजिए। हम बता चुके हैं कि भावों और विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। भाषा संयत हो अथवा असंयत, उसमें हमारे मनोभाव अन्तर्निहित रहते हैं। अनन्त काल से हमारे ज्ञान की निधि भाषा में ही संचित होती आ रही है। इसी संचित ज्ञान-राशि को हम 'साहित्य' कहते हैं। धातुगत अर्थ के अनुसार 'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् जिसमें सहित का, सम्मिलन का, भाव निहित रहता है वस्तुतः वही साहित्य है। साहित्य सम्मिलन का ही परिणाम है। उसके माध्यम-द्वारा केवल भाव का भाव के साथ तथा भाषा का भाषा के साथ ही सम्मिलन नही होता, वरन् मानव का मानव के साथ, शुद्ध का श्रेष्ठ के साथ, बाह्य का अन्तर के साथ, वर्तमान का अतीत के साथ और भविष्य का वर्तमान के साथ सम्मिलन होता है। दूसरे शब्दो में मनुष्य के सार्थक एवं सर्वोत्तम विचारो की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है। हम अपने दैनिक जीवन में जो बोलते या लिखते हैं, वह सब भी साहित्य के व्यापक

अर्थ में साहित्य ही होता है। साहित्य मौखिक और लिखित दोनों ही रूपों में हो सकता है। मौखिक साहित्य मौखिक भाषा अर्थात् बोली में और लिखित साहित्य लिखित भाषा में पाया जाता है। इस प्रकार साहित्य और भाषा का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दोनों का विकास मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ होता है। भाषा जब सर्वसाधारण में प्रचलित और शब्द-संपत्ति संपन्न बनकर पुष्ट हो जाती है तब उसमें साहित्य का सर्जन होता है। साहित्य ही भाषा की आत्मा है। साहित्य भाषा को अपने अनुकूल बनाता है। व्याकरण भाषा का परिमार्जन करता है, साहित्य उसमें सौंदर्य और सौष्ठव का विधान करता है। किसी भाषा का उत्कृष्ट रूप उसके साहित्य से ही जाना जाता है। साहित्य में विश्व-आत्मा प्रतिबिंबित होती है जिसकी अभिव्यक्ति भाषा-द्वारा ही संभव है। भाषा की स्वर-लहरी में ही विश्व का संगीत गूंजता है। उसके द्वारा ही साहित्य अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। साहित्य का उद्देश्य है—चिरंतन सत्य की खोज करना और उस खोज-द्वारा मानव-हृदय में नवीन भावों, नवीन विचारों और नवीन कल्पनाओं की प्रतिष्ठा करना। यदि भाषा न हो तो साहित्य के इस लक्ष्य की पूर्ति हो ही नहीं सकती। भाषा ही साहित्य के वाह्य अभिव्यक्ति की माध्यम है। किसी विषय के संबंध में विचार करते समय हम एक प्रकार का मानसिक संभाषण करते हैं जिससे हमारे विचार भाषा के रूप में अवतरित होते हैं। बिना भाषा के विचार उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इस प्रकार भाषा हमारे विचारों का सृजन और वहन दोनों करती है।

**साहित्यिक भाषा की विशेषताएँ**

भाषा के दो रूप होते हैं : (१) मौखिक और (२) लिखित। मौखिक भाषा अथवा बोली में साहित्य तो पाया जाता है, पर वह साहित्यिक भाषा नहीं कही जाती। साहित्यिक भापा लिखित भाषा होती है। मौखिक भाषा ही व्याकरण-सम्मत और लिपिबद्ध होकर साहित्यिक भाषा बन जाती है। साहित्यिक भाषा वह भाषा होती है जिसमें श्रेष्ठ साहित्य अर्थात् काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबंध, इतिहास, भूगोल, दर्शन,

अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि का सृजन होता है। मौखिक भाषा में इन गंभीर विषयों का समावेश नहीं हो सकता, इसलिए वह साहित्यिक भाषा नहीं होती। साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है और अपने देश की संस्कृति एवं सभ्यता से अनुप्राणित रहती है। वह वैज्ञानिक होती है और इसलिए वह सीखने में सरल और लोक-प्रिय होती है। उसके लिखित और उच्चरित रूपों में समता होती है। संसार की अधिकांश भाषाएँ इस नियम की अवहेलना-मात्र हैं। उनके लिखित और उच्चरित रूपों में पर्याप्त अन्तर है, पर वे भी साहित्यिक भाषाएँ हैं। उन्हें साहित्यिक बनाने का श्रेय उनके व्याकरण और उनके बोलनेवालो की राष्ट्रीय भावना को है। किसी भाषा को, चाहे वह अवैज्ञानिक ही क्यों न हो, राष्ट्रीय भावना के कारण ही साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। अँगरेज़ी, स्पेनिश, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओ को साहित्यिक रूप राष्ट्रीय भावना के कारण ही प्राप्त हुआ है। अवैज्ञानिक होने पर भी इन भाषाओं की एक विशेषता है—ग्रहणशीलता। जो भाषा नए वातावरण में पडकर उसके अनुकूल हो जाती है, जिसमें नए भावो और विचारो को व्यक्त करने के लिए शब्द मिल जाते हैं और जिसमें विदेशी शब्दों को पचाने की इतनी शक्ति होती है कि उनका विदेशीपन जाता रहता है वह भाषा ग्रहणशील कही जाती है। भाषा का ग्रहणशील होना उसके जीवन और विकास का चिह्न है। इस दृष्टि मे अँगरेजी संसार की अत्यन्त ग्रहणशील साहित्यिक भाषा है। उसमें सूक्ष्मतम भावों एवं विचारों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। इसलिए वह उत्कृष्ट समझी जाती है। उसका शब्द-भाण्डार अत्यन्त वृहत् और व्यापक है। उसमें पर्यायवाची शब्द, नानार्थक शब्द, विपरीतार्थक शब्द, पारिभाषिक शब्द आदि इतनी बडी संख्या में मिल जाते हैं कि उनसे वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण में विशेष सहायता मिलती है। हमारी भाषा 'हिन्दी' वैज्ञानिक होने पर भी अँगरेज़ी की भाँति न तो ग्रहणशील है और न उसका शब्द-भाण्डार ही पूर्णरूपेण वैज्ञानिक विषयो के अनुकूल है। अब वह तीव्र गति से अपने अभाव की पूर्ति कर रही है और उसका शब्द-भाण्डार बढ़ता जा रहा है।

---

# २. हिन्दी भाषा का विकास

ससार में अनेक भाषाएँ हैं। उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनमे रचना और अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से साम्य है, परन्तु शेष ऐसी हैं जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने उन सब का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया है—एक तो उनकी रचना और गठन की दृष्टि से और दूसरे उनकी उत्पत्ति अथवा परिवार की दृष्टि से। पहले प्रकार के विभाजन को आकृति मूलक वर्गीकरण और दूसरे प्रकार के विभाजन को पारिवारिक वर्गीकरण कहते हैं। आकृति मूलक वर्गीकरण के अनुसार भाषाओं के इतिहास आदि की ओर ध्यान न देकर उनके शब्दों के रूप आदि की दृष्टि से भाषाओं का विभाजन किया जाता है। भाषाओं के इस प्रकार के वर्गीकरण के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि मनुष्य ने आदि काल में वाक्यों मे ही बोलना सीखा था। इस दृष्टि से भाषाओं के तीन वर्ग किए जाते हैं: (१) अयोगात्मक भाषाएँ, (२) योगात्मक भाषाएँ और (३) विभक्तियुक्त भाषाएँ। आयोगात्मक भाषाएँ वे भाषाएँ हैं जिनमें प्रत्येक शब्द स्वतंत्र रीति से पृथक-पृथक प्रयुक्त होते हैं। इसलिए उन्हें एकाक्षरात्मक भाषाएँ कहते हैं। ऐसी भाषाओं में प्रत्यय नहीं होते। लहजा उनका आवश्यक अंग होता है और इसी से शब्दो के अर्थ का निर्णय होता है। चीन, तिब्बत, वर्मा, श्याम आदि देशों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। योगात्मक भाषाएँ उन भाषाओं को कहते हैं जिनके शब्द एक से अधिक अंशों के मेल से बनते हैं। इन अंशों में से जिस अंश का अर्थ स्थिर रहता है उसे प्रकृति कहते हैं। टर्की, हंगरी, फिनलैण्ड आदि देशों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं। विभक्तियुक्त भाषाएँ वे भाषाएँ हैं जिनके शब्द प्रकृति-प्रत्यय के योग से बनते हैं। संस्कृत, फ़ारसी आदि इसी वर्ग की भाषाएँ हैं। भाषाओं के इस प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार उनके विकास का पथ अयोगात्मक—योगात्मक—

**संसार की भाषाओं में हिन्दी का स्थान**

विभक्तियुक्त रहा है, अर्थात् आरंभ में अयोगात्मक, फिर योगात्मक और अन्त में विभक्तियुक्त, परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है।

भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण इस अनुमान पर अवलंबित है कि सृष्टि के आरंभ में एक नहीं, वरन् अनेक भाषाएँ थीं। इस दृष्टि से उन समस्त भाषाओं की गणना एक कुल अथवा परिवार में की जाती है जिनके संबंध में भाषा-शास्त्रियों ने शब्दों की समता, रचना की समता तथा ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर यह निश्चय कर दिया है कि वे एक ही मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। अबतक की खोजों के आधार पर संसार की समस्त भाषाएँ बारह कुलों में विभाजित की गई हैं जिनमें से भारोपीय कुल तथा द्रविड़-कुल की भाषाओं से हमारा विशेष संबंध है। दक्षिण भारत की तामिल, तेलेगू, मलयालम, कन्नड़ आदि भाषाएँ द्रविड-कुल की हैं। उत्तर भारत, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, तथा यूरोप में बोली जानेवाली भाषाएँ भारोपीय कुल में सम्मिलित की जाती हैं। प्राचीन काल में संस्कृत, पाली, जेंद, पुरानी फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक इत्यादि भाषाएँ इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, नई फ़ारसी, पख्तो आदि की गणना की जाती है। इस कुल की दो प्रधान शाखाएँ हैं: (१) केंटम् जिसका संबंध यूरोपीय भाषाओं से है और (२) शतम् जिसका संबंध भारत-ईरानी भाषाओं से है। भारत-ईरानी शाखा के अन्तर्गत ईरानी और भारतीय आर्य-भाषाएँ आती हैं। हिन्दी भाषा का संबंध भारतीय आर्य-भाषाओं से है। प्राचीन काल में संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की गणना भारतीय आर्य-भाषाओं के अन्तर्गत की जाती थी। इनका प्रधान क्षेत्र था पंजाब में सरस्वती नदी के लुप्त स्थान और उत्तर प्रदेश में प्रयाग के बीच का देश जिसे मध्य देश कहते थे। आधुनिक आर्य-भाषाओं में सिंधी; लहन्दी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगला, आसामी, मराठी आदि की गणना की जाती है। इनमें से हिन्दी मध्य देश की आधुनिक भाषा है।

हमारी भाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग कब से हो रहा है, यह कहना कठिन है। संस्कृत, प्राकृत अथवा आधुनिक आर्य-भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि यह शब्द 'सिन्धी' का रूपान्तर-मात्र है। संस्कृति की 'स' ध्वनि

**हिन्दी शब्द का प्रयोग**

फ़ारसी में 'ह' हो जाती है। अतः संस्कृत के सिन्धु, सिन्ध और सिन्धी शब्द फ़ारसी में 'हिन्दू', 'हिन्द' और 'हिन्दी' मे परिवर्तित हो जाते हैं। 'सिन्धु' एक नदी को, 'सिन्ध' एक प्रदेश को और 'सिन्धी' उस प्रदेश के निवासियों को कहते हैं, परन्तु 'हिन्दू' से एक जाति का, 'हिन्द' से भारतवर्ष का और 'हिन्दी' से एक भाषा का बोध होता है। फ़ारसी-ग्रंथो में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द-देश के निवासियों और हिन्द-देश की भाषा, दोनों अर्थों में हुआ है। इस प्रकार शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द अथवा भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्रविड अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है। यह 'हिन्दी' शब्द का व्यापक अर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग उत्तर भारत के मध्य देश के निवासियों की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया तथा इसी भू-भाग की बोलियों और उनसे संबंध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भू-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से नैपाल के छोर तक के पहाडी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खँडवा तक पहुँचती हैं। इतने विशद क्षेत्र के निवासियों के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओ, शिष्ट बोलचाल तथा शिक्षा की भाषा एक मात्र खडीबोली हिन्दी है। इसके अतिरिक्त मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, अवधी, मगही, मैथिली आदि सभी हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं और इनके बोलनेवालो की संख्या पन्द्रह करोड़ से भी अधिक है। इस समय तो हिन्दी संपूर्ण देश की राष्ट्र-भाषा के रूप में सम्मानित है और उसका विदेशो में भी प्रचार हो रहा है।

**हिन्दी भाषा की उत्पत्ति**

हिन्दी भाषा ने कब जन्म लिया, यह बताना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि उसका जन्म आर्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। प्राचीन आर्य-भाषा काल १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। इस समय की भाषा का आभास हमें प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद से मिलता है। ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है और उसमें हमें आर्यों की ठेठ बोली के उदाहरण भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के प्राचीनतम काल में आर्यों की अपनी ठेठ बोली रही होगी और उसीके माध्यम से वे विचारो का आदान प्रदान करते रहे होंगे, पर कालान्तर में जब उसे साहित्यिक रूप मिला होगा तब वह ऋग्वेद की भाषा बनी होगी। ऋग्वेद की भाषा का स्तर सर्वत्र एक-सा नहीं हैं। भाषा की दृष्टि से उसके अनेक अंशों की रचना भिन्न-भिन्न कालो में हुई जान पड़ती है। इससे उस काल की भाषा की परिवर्तनशीलता का आभास मिलता है। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रंथो की भाषा ऋग्वेद की भाषा का परिवर्तित रूप है जिसे ३०० ई० पू० पाणिनि नामक प्रसिद्ध वैयाकरण ने व्याकरण के नियमों में ऐसा बांध दिया कि उसके रूप में परिवर्तन होना ही असंभव हो गया। इस प्रकार आर्यों की साहित्यिक भाषा अभिनव रूप में संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध हुई, पर उनकी बोलचाल की भाषा में बराबर परिवर्तन होता रहा। पर्याप्त समय बीतने पर जब संस्कृत केवल शिष्ट समाज की भाषा बन गयी और उसका संपर्क जन-साधारण से छूट गया तब जन-साधारण की बोलियो को एक बार फिर आगे बढ़ने का अवसर मिला। बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रचारकों ने अपने-अपने उपदेशो के लिए संस्कृत भाषा को माध्यम न बनाकर जन-साधारण की भाषा को ही अपनाया और इस प्रकार आर्य-भाषाओं का दूसरा काल प्रारंभ हुआ जो ५०० ई० पू० से १ ई० तक माना जाता है। इस समय की जन-भाषा को बौद्ध 'मागधी' अथवा 'मूलभाषा' कहते हैं। बाद को इसका नाम पाली हुआ। पाली में जन-भाषा और साहित्यिक भाषा का मिश्रण है। अशोक के शिला-लेख ब्राह्मी और खरोष्ट्री, दोनों लिपियों में मिलते

हैं और उनकी भाषा पाली कही जाती है। पाली प्राकृत का पूर्व रूप है। १ ई० से ५०० ई० तक का समय प्राकृत-काल माना जाता है। अशोक की धर्म-लिपियो की भाषाएँ ही इस काल में प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुईं और संस्कृत के साथ-साथ इनमें रचनाएँ भी होने लगीं। प्राकृत के चार रूप थे: (१) महाराष्ट्री (२) मागधी, (३) अर्द्धमागधी और (४) शौरसेनी। इनमें से वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रधानता दी। वह राष्ट्र में व्यापक होने के कारण महाराष्ट्री कहलायी। मराठी और गुजराती से उसका संबंध नहीं था। मागधी का प्रचार मगध (बिहार) में था और अर्द्ध मागधी कौशल (अवध) की प्राकृत थी। इसका क्षेत्र शौरसेनी प्रान्त और मगध के बीच था। बौद्धों ने मागधी को और जैनियो ने अर्द्धमागधी को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। ब्रजमण्डल से विशेष संबंधित होने के कारण शौरसेनी का प्रचार देश के मध्य भाग में हुआ। यह शूरसेन के अधिकृत देशों की भाषा थी, इसलिए शौरसेनी कहलाती थी। पैशाची नाम की एक पांचवीं प्राकृत भी थी जो काश्मीर के उत्तर प्रान्त पिशाच अथवा पिशास की भाषा थी। कालान्तर में वैयाकरणों ने इन प्राकृत भाषाओं को भी व्याकरण के नियमों से जकड दिया जिसके फलस्वरूप उनकी स्वाभाविक गति अवरुद्ध हो गयी और उनके मूल रूप तथा साहित्यिक रूप में अन्तर आ गया।

व्याकरण के नियमों से बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सामने वैयाकरणों ने जन-साधारण की बोलियों को अपभ्रंश अर्थात् बिगडी हुई भाषा का नाम दिया। 'अपभ्रंश' नाम पहले-पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिला-लेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (स० ६५० के पूर्व) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का कवि कहा है। इससे पता चलता है बाद को अपभ्रंश में भी साहित्यिक रचनाएँ होने लगीं थीं। कुछ लोगों ने जनता की अपभ्रश भाषा को त्यागकर साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश में परिवर्तित कर दिया जिसके कारण प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश हो गया। जैसे, शौरसेनी प्राकृत का

'शौरसेनी अपभ्रंश,' मागधी प्राकृत का 'मागधी अपभ्रंश' आदि। समय बीतने पर अपभ्रंश मे भी पर्याप्त साहित्यिक रचनाएँ हुई और हेमचन्द्र ने (सं० ११४५-१२२६) उसका व्याकरण भी बना डाला। गुजरात के जैनाचार्यों ने उसमें ग्रंथ लिखकर उसका बहुत मान बढ़ा दिया। 'प्राकृत सर्वस्व' के रचयिता आचार्य मार्कण्डेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंश भाषाएँ मानी हैं: (१) नागर, (२) व्राचड़ और (३) उपनागर। नागर शौरसेनी से प्रभावित थी और गुजरात तथा राजपूताने में प्रचलित थी। व्राचड़ का प्रचार सिंध में था और उपनागर, नागर और व्राचड बोलेजानेवाले प्रान्तों के बीच बोली जाती थी। अपभ्रंश भाषाओ का यह समय ५०० ई० से १००० ई० तक माना जाता है।

१००० ई० से अबतक भारत मे आधुनिक आर्य-भाषा-काल माना जाता है। आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है। भाषा के आचार्यों का कहना है कि शूरसेन प्रदेश अर्थात् मथुरा से संबंधित **शौरसेनी अपभ्रंश** से हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ; **मागधी अपभ्रंश** से बिहारी, बंगला, आसामी और उड़िया; **अर्द्धमागधी अपभ्रंश** से पूर्वी हिन्दी; और **महाराष्ट्री अपभ्रंश** से महाराष्ट्री आदि का जन्म हुआ है। विद्वानों का कहना है कि हिन्दी तथा अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं का आविर्भाव-काल ईसा की आठवीं शताब्दी माना जाता है। पुरानी हिन्दी, अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की,भाषा है। इसे 'अवहट्ट' नाम दिया गया है और इसकी गणना अपभ्रंश साहित्य के ही अन्तर्गत की जाती है।

**हिन्दी भाषा का विकास**

पुरानी हिन्दी ने कब और किस प्रकार आधुनिक हिन्दी का रूप धारण कर लिया,यह बताना कठिन है। इस संबंध में राहुल सांस्कृत्यायन ने जो खोज की है उसके आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने 'सरहा' अथवा 'सरहपा' नाम के एक सिद्ध को हिन्दी का प्रथम लेखक माना है। 'सरहपा' सातवी शताब्दी में विद्यमान थे। उनकी रचनाओं में पुरानी हिन्दी के जो उदाहरण मिलते हैं वे यद्यपि अपभ्रंश के अन्तर्गत आते हैं तथापि उनके आधार पर आधुनिक हिन्दी का

विकास-क्रम स्थिर किया जाता है। भाषा-शास्त्रियो का कहना है कि जैसे-जैसे पुरानी हिन्दी का विकास होता गया, वैसे-वैसे वह प्राकृत और अपभ्रंश के बन्धनो से मुक्त होती गयी और सस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाती गयी। अरब-निवासी मुहम्मद बिन-क़ासिम के आक्रमण ( सं० ७६६ ) के पश्चात् इस नव-विकसित भाषा को हिन्दी की सज्ञा मिली और इसमें रचनाएँ होने लगी। महमूद गज़नवी (मृत्यु सं० १०८७) के पश्चात् मुहम्मद ग़ोरी (प्रथम आक्रमण सं० १२४८) के समय मे 'रासो' नाम के कई काव्य-ग्रथो की रचना हुई। चंदबरदाई (सं० ११८३-४६) ने इसी समय 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की जो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इन ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर आधुनिक हिन्दी भाषा का आरम्भ ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के लगभग अनुमान किया जाता है। तब से अब तक हिन्दी के विकास की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं :—

१. **आदि काल**—हिन्दी भाषा के विकास का आदि काल ईसा की ग्यारहवी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी के अन्त तक माना जाता है। इन दो सौ वर्षों में हिन्दी भाषा प्राकृत और अपभ्रंश के बन्धनों से मुक्त होने की चेष्टा करती है और शनैः शनैः रासो-परम्परा के काव्य-ग्रन्थो में अपना नवीन रूप प्रदर्शित करती है।

२. **मध्य काल**—इस काल का आरम्भ चौदहवीं शताब्दी से और अन्त अठारहवीं शताब्दी तक होता है। भाषा के विचार से इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: एक चौदहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक और दूसरा सोलहवी शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक। पहले भाग में संस्कृत के तत्सम शब्दों से हिन्दी भाषा को विशेष शक्ति मिलती है और हिन्दी की पुरानी बोलियाँ क्रमशः ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली का रूप धारण करती हैं। दूसरे भाग में ब्रजभाषा और अवधी साहित्यिक रूप धारण करती हैं और उनमें प्रौढ़ता आती है। मुसलमानों के प्रभाव के कारण उनमें फ़ारसी और अरबी के तद्भव शब्दों का समावेश होता है।

३. आधुनिक काल—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी भाषा का आधुनिक काल आरम्भ होता है। इस काल के प्रथम चरण में मुसलमानों के शासन का अन्त और अँगरेजी सत्ता का आरम्भ होता है। इसलिए राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ भाषा भी अपना रूप बदलती है और ब्रजभाषा तथा अवधी का स्थान खड़ीबोली ले लेती है। खड़ी बोली संस्कृत के तत्सम शब्दों से पर्याप्त शक्ति संचय करती है और कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (सं० १८५७) के समय से गद्य की साहित्यिक भाषा बन जाती है। भारतेन्दु-काल (सं० १९०७-४१) में उसका रूप निश्चित होता है और द्विवेदी-काल (११२७-९५) में वह परिष्कृत एवं परिमार्जित होकर काव्य-भाषा बन जाती है। आज स्वतंत्र भारत की वही राष्ट्रभाषा है।

**हिन्दी भाषा की व्यापकता**

हिन्दी भाषा अपनी व्यापकता के कारण ही राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हुई है। भारत के विभिन्न भागों में जो बोलियाँ बोली जाती हैं उन सब के वह निकट है। भाषा-शास्त्रियों के विचार से उसके दो रूप हैं: (१) पश्चिमी हिन्दी और (२) पूर्वी हिन्दी। यद्यपि इन दोनों रूपों में शब्द, रचना और इतिहास की दृष्टि से न्यूनाधिक विभिन्नता पायी जाती है, तथापि राष्ट्रीयता की दृष्टि से इनमें एकता है। पश्चिमी हिन्दी का विस्तार उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में रायपुर और खँडवा तक तथा पूर्व-पश्चिम में सरहिन्द से प्रयाग तक है। इस विशाल भू-भाग में खड़ीबोली, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली बोल-चाल की भाषाएँ हैं जिनमें से साहित्य की दृष्टि से खड़ीबोली और ब्रज ही महत्त्वपूर्ण हैं। खड़ीबोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ्फर नगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला, कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। बांगरू दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद में बोली जाती है। ब्रजभाषा मथुरा, आगरा, अलीगढ़, तथा धौलपुर में अपने विशुद्ध रूप में बोली जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमी

भाग में जो ब्रजभाषा बोली जाती है वह राजस्थानी और बुन्देली से प्रभावित है। बुलन्दशहर, बदायूँ तथा नैनीताल की तराई की बोलियों पर खड़ीबोली का प्रभाव है। एटा, मैनपुरी और बरेली की बोलियों में कुछ कन्नौजीपन आ जाता है। **कन्नौजी** का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के मध्य में है। यह फरुखाबाद, हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, इटावा और कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। **बुंदेली** झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड्छा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी और होशंगाबाद में बोली जाती है। दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ा में इसका मिश्रित रूप है। **पूर्वी हिन्दी** का विस्तार पश्चिमी हिन्दी तथा बिहारी भाषाओं के बीच के स्थानों में है। इसके अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी नाम की तीन बोलियाँ मुख्य हैं। **अवधी** लखनऊ, रायबरेली, उन्नाव, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर तथा जौनपुर के कुछ भागों में बोली जाती है। **बघेली** विन्ध्य प्रदेश, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट तक और **छतीसगढ़ी** मध्यप्रान्त, उदयपुर तथा जयपुर तक बोली जाती है। **भोजपुरी** का विस्तार बनारस, गाजीपुर, आज़मगढ़, मिर्जापुर, जौनपुर, गोरखपुर, बलिया, बस्ती, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक है। यह बिहारी भाषा के अन्तर्गत आती है। **मैथिली** और **मगही** भी बिहारी भाषाएँ हैं। बंगला उसी मागधी अपभ्रंश की प्रतिछाया है जिससे बिहारी हिन्दी की कुछ उपभाषाएँ निकली हैं। पुरानी **गुजराती** पुरानी हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। **मराठी** और हिन्दी में भी बहुत कम भेद है। **राजस्थानी** भी मध्य प्रदेश की प्राचीन भाषा का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। उर्दू तो खड़ीबोली की ही एक फारसी शब्द-प्रधान-शैली है। इस प्रकार भारत की कई प्रादेशिक भाषाएँ हिन्दी के निकट हैं और इस कारण उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है।

किसी भाषा की व्यापकता उसके अन्तर्गत व्यवहृत होनेवाली विभिन्न प्रादेशिक उपभाषाओं अथवा बोलियों से ही नहीं परखी जाती, वरन् यह भी

देखा जाता है कि उसके कितने साहित्यिक रूप हैं। इस दृष्टि से भी हिन्दी-भाषा अग्रगण्य है। उसके छः साहित्यिक रूप मिलते हैं: (१) राजस्थानी, (२) अवधी, (३) बिहारी, (४) ब्रजभाषा, (५) खड़ीबोली और (६) उर्दू। राजस्थानी राजस्थान अथवा आधुनिक राजपूताना की उपभाषा है। इस पर पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी, दोनों का प्रभाव है। इसकी चार बोलियाँ (१) मारवाड़ी, (२) जयपुरी, (३) मेवाती और (४) मालवी हैं जिनके अनेक उपभेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल कहलाता है। 'रासो' की रचना इसी भाषा में हुई है और चन्दवरदाई (सं० ११८३-४६) इसके प्रथम कवि हैं। जयपुरी पर नागर अपभ्रंश का विशेष प्रभाव है और इसमें कतिपय संत-कवियों की रचनाएँ मिलती हैं। 'मेवाती' और 'मालवी' मे कोई साहित्य नहीं है।

हिन्दी के प्रमुख साहित्यिक रूप

अवधी का प्रचार अवध, आगरा, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कुछ भाग तक है। यह अर्द्धमागधी पर आधारित पूर्वी हिन्दी का विकसित रूप है। इसके दो भेद हैं: (१) पूर्वी और (२) पश्चिमी। पूर्वी अवधी गोंडा और अयोध्या में तथा उसके आस-पास बोली जाती है। पश्चिमी अवधी का प्रचार लखनऊ से कन्नौज तक है। इस पर ब्रजभाषा का विशेष प्रभाव पड़ा है। इसलिए पूर्वी अवधी ही शुद्ध मानी जाती है। इसके दो रूप हैं: (१) बोलचाल की अवधी और (२) साहित्यिक अवधी। बोलचाल की अवधी के प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १४८३-१५६६) और साहित्यिक अवधी के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास (सं० १५८६-१६८० ) हैं।

बिहारी मागधी अपभ्रंश का विकसित रूप है पर शब्द-भाण्डार और शब्दों के उच्चारण की दृष्टि से इसका संबंध पूर्वी हिन्दी से अधिक है। इसके तीन रूप हैं: (१) मैथिली, (२) मगही और (३) भोजपुरी। मैथिली में अच्छा साहित्य पाया जाता है और विद्यापति ठाकुर (सं० १४१७-१५०५) इसके प्रमुख कवि हैं। भोजपुरी बनारस, आजमगढ़,

गाजीपुर, बलिया आदि की मुख्य बोली है। इसमें भी साहित्य मिलता है। मगही में उल्लेखनीय साहित्य नहीं है।

ब्रजभाषा का मुख्य स्थान ब्रज है, पर दक्षिण में करौली राज्य; पश्चिम में जयपुर; पूर्व में बरेली, बदायूँ, एटा आदि तथा उत्तर में गुडगाँव तक इसका क्षेत्र है। यह शौरसेनी अथवा नागर अपभ्रंश से विकसित हुई है। इसका एक नाम 'पिङ्गल' भी है। हिन्दी भाषा के साहित्यिक रूपों में इसका विशेष स्थान है। मध्य काल के उत्तरार्द्ध में यह अवधी के साथ साहित्य की व्यापक भाषा रही है। भक्ति-काल के महाकवि सूरदास (सं० १५४०-१६२०) के अतिरिक्त रीति-काल के कवियों ने भी इसे अपनाया था। आजकल भी इसमें कविता होती है। इसकी एक शाखा बुन्देली है। बुन्देली बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बोली जाती है। महाकवि केशवदास ( सं० १६१२-७४ ) बुन्देलखण्डी थे, इसीलिए उनकी भाषा ब्रजभाषा होने पर भी बुन्देली से विशेष प्रभावित है।

खडीबोली मेरठ के आस-पास की उपभाषा और आजकल हमारी राष्ट्र-भाषा है। इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर नहीं हुआ है। हिन्दी-साहित्य में यह नाम पहले-पहल लल्लूलाल ( सं० १८२०-८२ )-कृत 'प्रेमसागर' ( सं० १८६० ) की भूमिका में मिलता है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब इसका नाम 'रेख़ता' हो गया। 'रेख़ता' का अर्थ गिरता या पडता है। उस समय यह भी गिरी या पड़ी हुई भाषा थी। संभव है, 'रेख़ता' नाम के विरोधियों ने इस भाषा को गौरव प्रदान करने के लिए 'खड़ीबोली' कहना उचित समझा हो। जो भी हो, नामकरण का कोई प्रामाणिक कारण अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है। इसकी अकारान्त प्रवृत्ति का आभास अपभ्रंश-काव्य में भी मिलता है। अमीर खुसरो ( स० १३१०-८२ ), संत कबीर (सं० १४२५-१५०५), रहीम (सं० १६१०-८३), घनानंद (सं० १७४६-९६), भगवतरसिक (ज० सं० १७६५), सीतल कवि (ज० सं० १७८०), सहचरीशरण (र० क० १८२०), सदासुख लाल 'नियाज़' (सं० १८०३-८१),

इंशा अल्ला खाँ (सं० १८२१-७४), लल्लूलाल (सं० १८२०-८२) आदि की रचनाओं में इसके प्रारंभिक रूप मिलते हैं। इसके पश्चात् भारतेन्दु-काल (सं० १९०७-४१) तथा द्विवेदी-काल ( सं० १९२७-९५ ) में यह प्रधान रूप से गद्य और पद्य की भाषा बन गई और अब यह हमारी राष्ट्र-भाषा है।

उर्दू खड़ीबोली की ही एक शैली है। इसका प्रचार मुख्यतः उत्तर तथा दक्षिण भारत के मुसलमानो, पंजाबियो तथा काश्मीरयों में है। व्याकरण की दृष्टि से हिन्दी-खडीबोली और उर्दू में विशेष अन्तर नहीं है, पर साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह और लिपि की दृष्टि से दोनो एक नहीं हैं। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है और उसकी शब्दावली अरबी तथा फारसी के तत्सम शब्दो से प्रभावित है। खडीबोली देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और उसकी शब्दावली पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रभाव है। तुर्की भाषा में 'उर्दू' शब्द का अर्थ 'बाजार' है। आरंभ में उर्दू बाज़ारू भाषा थी और शाही फौजी बाज़ारो में बोली जाती थी। मुसलमान फारसी और अरबी जानते थे। दिल्ली और मेरठ के आस-पास रहने के कारण उन्होने वहाँ की भाषा 'खड़ीबोली' को अपनाकर उस पर फारसी और अरबी का रंग चढ़ा दिया। अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल (सं० १३५३-८३) में जब मुसलमानों का प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ तब वे अपने साथ अपनी नई भाषा को भी ले गये। दक्षिण भारत में जनता की भाषाएँ द्रविड़-वंश की थीं। इसलिए मुसलमानों की नई भाषा, उर्दू, का वहाँ आदर हुआ और उसमें रचनाएँ होने लगीं। कालान्तर में वह दिल्ली और लखनऊ पहुँची जहाँ उसका स्वरूप निखर आया और अनेक मुसलमान कवियों ने उसे साहित्यिक रूप दे दिया। तब से अबतक उसमें उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ है। भारत-विभाजन (सं० २००४) के पश्चात् हिन्दी-खडीबोली को राष्ट्र-भाषा होने का जो गौरव मिला है उसके कारण उर्दू का महत्त्व बहुत कम हो गया है, पर उसमें अब भी उत्तम रचनाएँ होती हैं और उसका अपना साहित्य है।

यहाँ तक हमने यह देखा कि हिन्दी भाषा अपने विकास-काल में

कई भाषाओं के संपर्क में आई है। इसलिए उस पर उन सब का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। सुविधा की दृष्टि से हम इन प्रभावों को दो भागो में विभाजित कर सकते हैं:(१) भारतीय प्रभाव और (२) अभारतीय प्रभाव। **भारतीय प्रभाव** की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी में मिलते हैं। इसी प्रकार द्रविड-भाषाओं के अनेक शब्द संस्कृत आदि से होते हुए हिन्दी में आए हैं। बंगला के अलता, चूड़ान्त, भद्र लोग, उपन्यास, गल्प, नितान्त, आदि; मराठी के लागू, चालू आदि, गुजराती के हड़ताल आदि शब्द हिन्दी में इतने घुल-मिल गए हैं कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाता है। **अभारतीय प्रभाव** के अन्तर्गत फ़ारसी, अरबी, तुर्की, अंगरेजी, पुर्तगाली आदि भाषाओ के शब्द आते हैं। अरबी के एतराज, अदालत, अदना, हकीम आदि; फारसी के आदमी, दूकान, शर्म, होश, खून आदि; तुर्की के तोप, लाश, बावर्ची, कुमक, कालीन आदि; पुर्तगाली के कमरा, नीलाम, मेज, गोदाम आदि; अंगरेजी के प्रेस, टिकट, स्कूल, रेल, ट्रेन, फुट, इंच आदि शब्द हिन्दी में पाए जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा के शब्द-कोश में हमें कई देशी और विदेशी भाषाओं के शब्द मिलते हैं। ऐसे शब्दों का मेल-जोल किसी भाषा में किसी की आज्ञा से नहीं होता। वह तो स्वाभाविक गति से अपने संपर्क में आनेवाली भाषाओं के कूलों को छूती हुई अग्रसर होती है और उनके उन्हीं शब्दों को अपने प्रवाह में लपेटती चलती है जिन्हें वह पचा सकती है। उसके क्षेत्र में विशुद्ध प्रजातंत्र है। वह साधारण जनता की संपत्ति है। साधारण जनता ही देशी और विदेशी शब्दों को अपनाकर उन पर अपनी मानसिक वृत्तियो की छाप लगाती है।

**हिन्दी भाषा पर प्रभाव**

---

# ३. हिन्दी-साहित्य की प्रगति

मानव-समाज में दो मूल प्रवृत्तियाँ होती है : एक विचार-विनिमय की प्रवृत्ति और दूसरी सौंदर्य-प्रियता की प्रवृत्ति। उसकी इन्हीं दो मूल प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्य की सृष्टि होती है। सुन्दर भाव, सुन्दर विचार और सुन्दर कल्पनाएँ ही साहित्य की निधि हैं। जगत के लौकिक और अलौकिक विषयो के सम्बन्ध में मानव-समाज ने अपने आविर्भाव-काल से कल्पना और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अबतक जितना सोचा है वह सब साहित्य की परिधि में आता है। उसमें मानव-समाज से सम्बन्धित सभी विषयों का समावेश होता है। विद्वानो ने उसके दो विभाग किए हैं : (१) भाव-प्रधान साहित्य और (२) ज्ञान-प्रधान साहित्य। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि भाव और कल्पना प्रधान होते हैं, इसलिए इनका समावेश भाव-प्रधान साहित्य के अन्तर्गत होता है। इनमें भावों और कल्पनाओं का वेगपूर्ण प्रवाह रहता है। भूगोल, इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, गणित आदि अन्य लोकोपयोगी विषय ज्ञान-प्रधान-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनमें वह आनन्द-जनक और अनुरञ्जन-कारी भाव नहीं रहता जो भाव प्रधान-साहित्य मे रहता है। सूरदास का एक पद पढ़ने से हृदय में आनन्द का जो स्रोत फूट पड़ता है वह कृष्ण का जीवन-चरित्र पढ़ते-पढ़ते शुष्क-सा हो जाता है। यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य की परिधि को इतना संकुचित कर दिया था कि उसमें केवल छन्दोबद्ध रचनाएँ ही प्रवेश पा सकती थीं। उन्होंने इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों का प्रतिपादन काव्य के माध्यम से ही किया था; गद्य के विकास की ओर उनकी रुचि नही थी। प्राचीन आचार्यों की यह प्रवृत्ति मध्य युग तक बराबर बनी रही। आधुनिक युग मे गद्य का

साहित्य का विस्तार

विकास होने पर इस प्रवृत्ति का अन्त हो गया और साहित्य में मानव-समाज से सम्बन्धित सभी उपयोगी विषयों का समावेश होने लगा। साहित्य के विकास में यह गद्य का युग माना जता है।

**साहित्य का आदर्श**

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य मानव-समाज के बौद्धिक एवं मानसिक विकास के सम्मिलन का प्रतिफल है। मानव-समाज सर्वत्र एक-सा नहीं है। संसार में अनेक देश हैं और उन देशों के अपने-अपने मानव-समाज हैं जिनमें भौगोलिक वातावरण, जातीय संस्कार, संस्कृति एवं सभ्यता की विभिन्नता के कारण पर्याप्त अन्तर है। इसलिए उनके साहित्य-निर्माण के आदर्श भी पृथक-पृथक हैं। विद्वानों ने इन्हें दो भागों मे विभाजित किया है: (१) साहित्य-निर्माण का प्राच्य आदर्श और (२) साहित्य-निर्माण का पाश्चात्य आदर्श। साहित्य-निर्माण का प्राच्य आदर्श भारतीय आदर्श हैं। भारतीय आदर्श के अनुसार साहित्य में सर्वत्र मानव-संस्कार की प्रतिष्ठा की गयी है। मानव-प्रवृत्ति गुण-दोष से संपन्न है। उसमें पशुत्त्व, मनुष्यत्त्व और देवत्त्व तीनों ही मिलते हैं। आहार, निद्रा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के साथ रहने के कारण मनुष्य में पशुत्त्व हैं; बुद्धि, विद्या और विचार-शक्ति के कारण उसमें मनुष्यत्त्व है और दया, करुण, सहानुभूति आदि के कारण उसमें देवत्त्व है। इन्हीं तीनों को क्रमशः तम, रज और सत्व की संज्ञा दी जाती है और इन्हीं से मानव-प्रकृति का सङ्गठन होता है। भारतीय साहित्य का लक्ष्य मानव-प्रकृति में सत्व की स्थापना करना और उसे देव-तुल्य बनाना है। इसलिए उसमें मानव-प्रकृति के रज और तम का चित्रण अत्यंत धूमिल दिखाई देता है। व्यास-कृत 'महाभारत' और वाल्मीकि-कृत 'रामायण' में सत्व को इतनी प्रधानता दी गयी है कि उसके सामने रज और तम के चित्र निष्प्राण हो जाते हैं। कालिदास, भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि साहित्यकारो की कृतियों मे भी इसी आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। तात्पर्य यह कि मानव-जीवन जैसा है उसको उसी रूप में चित्रित न करके भारतीय साहित्यकारों ने आदर्शवाद की स्थापना की है। इसके विरुद्ध पाश्चात्य साहित्यकारो का

आदर्श यथार्थवादी है। उन्होंने अपने साहित्य में मानव-प्रकृति के गुण-दोषों का उसी मात्रा में चित्रण किया है जिस मात्रा में वे उसमें मिलते हैं। ईसाई-धर्म के अनुसार मानव में पापांश ही अधिक है और इसका कारण यह है कि जन-समाज के अधिक व्यक्ति राजसिक और तामसिक हैं। इस धर्म-भावना से प्रभावित पाश्चात्य साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में जितने उत्साह और कौशल से मानव की रजोगुणी एवं तमोगुणी प्रवृत्तियों का चित्रण किया है उतने उत्साह और कौशल से उसकी सतोगुणी प्रवृत्ति का अंकन नहीं किया है। इससे उनका साहित्य मानव-प्रवृत्तियों का अखाड़ा-सा बन गया है। उसमें आसुरी शक्ति की इतनी वेगपूर्ण आँधी है कि उसके सामने देव-भाव टिकने ही नहीं पाता। मिल्टन (सं० १६६५-१७३१) के महाकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' का 'शैतान', वाल्मीकि और तुलसी के 'रावण' के अनुरूप होते हुए भी इतना स्वतंत्र है कि समस्त महाकाव्य में उसी की तूती बोलती है। उसे हतप्रभ करने के लिए उसमें किसी 'राम' की कल्पना ही नहीं की गयी है। शेक्सपियर (सं० १६२१-७३) के नाटकों में भी हमें मानव की राजसिक एवं तामसिक प्रवृत्तियों की ही विजय दिखाई देती है। उनमें हमारे भावों और विचारों को उभारनेवाले तो पर्याप्त पात्र हैं, पर उन्हें नियन्त्रित और संयत करनेवाले पात्रों की कमी है। भारतीय साहित्य में दोनों को उचित स्थान दिया गया है। उसमें रामत्त्व और रावणत्त्व, दोनों का भीषण द्वन्द्व चित्रित किया गया है और अन्त में रामत्त्व की विजय घोषित की गयी है। मानव-जीवन के लिए रामत्त्व की विजय ही कल्याणप्रद है और जो साहित्य इस आदर्श की पूर्ति करता है वही सत्साहित्य है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जहाँ भारतीय साहित्य ने कई पाश्चात्य वादों को अपनाया है, वहाँ पाश्चात्य साहित्य ने भी भारतीय साहित्य से बहुत कुछ लिया है। फिर भी दोनों की अपनी-अपनी जातीय एवं देशगत विशेषताएँ हैं जिनका लोप होना असंभव है।

प्रश्न उठता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा पुरातन आधारों

पर स्थित रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है?

**हिन्दी-साहित्य की विशेषताएँ**

इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानो का कहना है कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन तो हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। पुरातन आदर्शों की नीव पर ही नवीन आदर्शों की उद्भावना होती है। जहाँ कारण-विशेष से ऐसा नहीं हो पाता, वहाँ नवीन आदर्शों की स्थापना में स्थायित्त्व का अभाव रहता है। जातीयता के स्थायित्त्व के लिए आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। जातीयता का लोप साहित्य और कला के विकास में बाधक होता है। हिन्दी-साहित्य का अब तक जो विकास हुआ है वह जातीयता के आधार पर ही हुआ है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं; अपितु गुण की भी अधि-कारिणी होती है उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्य-जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परंपरागत संपत्ति प्राप्त की है। आर्य-साहित्य की परम विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म और सामाजिक क्षेत्र में वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के प्रति भारतीय साहित्यकारों की समन्वय की भावना रही है उसी प्रकार उन्होंने अपने साहित्य के सृजन और अन्यान्य कलाओं के निरूपण में भी समन्वय की भावना को प्रतिष्ठित किया है। उनके साहित्य मे प्रदर्शित सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, उत्थान-पतन आदि प्रतीपी भावों के समीकरण और अंततोगत्वा एक अलौकिक आनंद मे उनकी परिणति से समन्वय की भावना का जैसा सुन्दर उदाहरण मिलता वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। समन्वय की भावना हमारी जातीय विशेषता है। इसलिए हमारे प्राचीन साहित्य में ही नहीं, अपितु हमारे हिन्दी-साहित्य में भी उसकी प्रतिष्ठा हुई है।

समन्वय की भावना की भाँति ही हमारे साहित्य में धार्मिक भावो

की प्रचुरता मिलती है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। इसलिए केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक पक्ष में भी उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। प्राचीन वैदिक साहित्य से हिन्दी के वैष्णव-साहित्य तक धर्म के अध्यात्म-पक्ष की अत्यंत विशद विवेचना हुई है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में लौकिक पक्ष प्रधान है, पर वह भी धर्म की उच्च भावनाओं से समन्वित है। धर्म हमारे जातीय जीवन के विकास का मूल आधार है, इसलिए हमारे साहित्य में सर्वत्र यतोधर्मस्ततो जयः का उद्घोष सुनाई देता है।

उपर्युक्त दो जातीय विशेषताओं के अतिरिक्त हमारे साहित्य की देशगत विशेषता भी है। भारत की शस्य-श्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है उसके प्रति हमारे साहित्यकारों का चिरकाल से अनुराग रहा है। उन्होंने प्रकृति की सुरम्य गोद में बैठकर ही अपने साहित्य का निर्माण किया है। यही कारण है कि उनकी कृतियों में प्रकृति के जैसे संश्लिष्ट एवं सजीव चित्र मिलते हैं वैसे अन्य देशों के साहित्यकारों की रचनाओं में नहीं मिलते। प्रकृति-चित्रण में उपमा-उत्प्रेक्षा की उनकी योजना उनके प्रकृति-निरीक्षण और तत्संभव सौंदर्य-ज्ञान का प्रत्यक्ष एवं पुष्ट प्रमाण है। प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है उसका भी चित्रण उन्होंने अपनी रहस्यमयी भावनाओं के अन्तर्गत किया है। वैदिक और संस्कृत-साहित्य में हमें ऐसी अनेक रहस्यमयी रचनाएँ मिलती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा करने का एकमात्र श्रेय भारतीय साहित्यकारों को है। हिन्दी के संतों और सूफ़ी कवियों ने भी रहस्यवाद को अपनाया है और उसमें सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अतः यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

यहाँ तक हमने हिन्दी-साहित्य की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जो प्रायः उसके स्थायी अंग हैं और जिन्हें उसने अपने प्राचीन साहित्यों से प्राप्त किया है। इनके अतिरिक्त उसका अपना गतिशील अंग भी है जो अस्थायी होने पर भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। गतिशीलता प्रत्येक

साहित्य का धर्म है। पुष्कर के बंधे हुए जल की भाँति वह प्रवाह-हीन नहीं रहता, सरिता की धारा की भांति वह सदैव प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार की गतिशीलता उसमें समय और समाज के परिवर्तन के साथ आती है। जिस समय समाज की जैसी चित्तवृत्ति रहती हैं उसी के अनुकूल वह परिवर्तित हो जाता है। हिन्दी-साहित्य की बहुत-कुछ ऐसी ही अवस्था रही है। देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सांप्रदायिक आन्दोलनो के कारण उसके स्वरूप में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं और कभी-कभी तो उसकी अवस्था में आश्चर्य-जनक उलट-फेर हो गया है। आधुनिक युग में मार्क्सवाद, साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद आदि अनेक वादों ने हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टिकोणों में जो परिवर्तन उपस्थित किए हैं उनका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है और यही उसकी गतिशीलता का प्रमाण है।

हिन्दी-साहित्य की कुछ अपनी कलात्मक विशेषताएँ भी हैं। यहाँ 'साहित्य' शब्द से हमारा तात्पर्य हिन्दी-काव्य से और कलात्मक विशेषता से हमारा अभिप्राय उसमें भावों को अभिव्यक्त करने की शैली से है। हिन्दी-काव्य और विशेषतः संस्कृत-काव्य की विशेषता उसमें स्थापित 'रस' के कारण है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर हमारे साहित्यकार विश्वनाथ ने 'रस' को ही काव्य का प्राण माना है। रस की निष्पत्ति में ही हमारे काव्य का सौंदर्य प्रस्फुटित हुआ है। विदेशी प्रभाव के कारण इस समय उसमें रस-परिपाक का विशेष आग्रह नहीं है, पर वह रसहीन नहीं है। छन्द की दृष्टि से भी उसकी अपनी विशेषता है। उसमें वर्णिक और मात्रिक छन्दों की जैसी विविधता है वैसी किसी भी विदेशी काव्य में नहीं मिलती। शब्दगत और अर्थगत अलंकारों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना तथा नायिका-भेद आदि उसकी अपनी थाती हैं। स्वर और लय का भी उसमें ध्यान रखा गया है। पाश्चात्य संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरो के सामंजस्य अथवा राग की बहुत-कुछ अवहेलना की गयी है। भारतीय संगीत में दोनो का पूर्ण समन्वय हुआ है और इसी कारण

हिन्दी-काव्य में उसे स्थान मिला है। 'देशी' संगीत के अतिरिक्त राग-रागिनियों के अनेक भेदों को अपनाने की जैसी क्षमता हिन्दी ने दिखाई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी के संत और भक्त-कवियों की रचनाएँ राग-रागिनियों से भरी पड़ी हैं। ऐसी रचनाओं को 'पद' अर्थात् 'गीति-काव्य' कहते हैं। गीति-काव्य भाव-प्रधान होता है और वह आत्मकथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप में व्यक्त होता है। हिन्दी के भक्ति-काल में ही ऐसी रचनाएँ अधिक हुई हैं। काव्य-शैली की दृष्टि से हिन्दी-काव्य में वस्तुगत अर्थात् वर्णात्मक शैली का प्राधान्य है। हिन्दी-साहित्य में जितने महाकाव्य और खण्डकाव्य मिलते हैं उतने किसी विदेशी साहित्य में नहीं मिलते। आधुनिक युग में विदेशी काव्य-शैली के प्रभाव से हिन्दी में गीतों और प्रगीतों की रचना भी हो रही है और उनका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

गद्य-शैली का विकास हिन्दी-साहित्य की आधुनिक प्रवृत्ति का द्योतक है। अपने लगभग डेढ़ सौ वर्ष के जीवन में हिन्दी-गद्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। उसमें उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना, निबंध, रेखा-चित्र आदि साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि अनेक लोकोपयोगी विषयों पर भी ग्रंथ-रचना हो रही है। उसका क्षेत्र दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है जिसके कारण हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग 'गद्य-युग' कहा जाता है।

हिन्दी-साहित्य की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि उसका आरंभ काव्य से हुआ है। यह हिन्दी-साहित्य की ही नहीं, प्रत्येक साहित्य की विशेषता है। विद्वानों का कहना है कि गद्य सीखने से बहुत पहले मानव-जाति गीतों की रचना और उन्हें कण्ठस्थ करती आई है। गीतों में हृदय का हर्ष-विषाद रहता है और गद्य में बुद्धि का विलास। मानव में बुद्धि से पूर्व भावनाओं का

**हिन्दी-साहित्य का आरम्भ**

उद्रेक होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में हर्ष-विषाद के अवसरो पर मानव-हृदय में जो भावनाएँ उठी होंगी उन्होंने टूटी-फूटी वाणी के माध्यम से गीतों का रूप धारण कर लिया होगा और कालान्तर में इसी परम्परा ने लोक-गीतो को जन्म दिया होगा। हमारे लोक-गीत हमारी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास के परिणाम हैं और उनमें हमें प्राचीनतम भाव निहित मिलते हैं। हमारे साहित्य का आरम्भ उन्हीं गीतो से होता है, पर वह मौखिक भाषा का मौखिक साहित्य है और इसलिए वह अस्थाई है। स्थायी साहित्य का जन्म तब होता है जब मौखिक भाषा लिखित भाषा का रूप साधारण कर लेती है। हमारी मौखिक भाषा वर्तमान लिखित भाषा में कब परिणत हुई और उसमें साहित्य का सूत्रपात किन परिस्थितियों में हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि हिन्दी-भाषा का आविर्भाव अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था से हुआ है। अपभ्रंश-काल विक्रम की छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समय कुमार गुप्त के शासन-काल (सं० ४७२-५०२) के आस-पास से आरम्भ होता है। गुप्त-साम्राज्य का पतन होने पर जब भारत की राजनीतिक सत्ता हर्षवर्द्धन (सं० ६४७-७०४) के हाथ में आती है तब एक बार फिर साहित्य और कला को पनपने का अवसर मिलता है। हर्षवर्द्धन भारत का अंतिम सम्राट माना जाता है। वह सं० ६६३ में थानेश्वर की गद्दी पर बैठा और सं० ७०४ तक शासन करता रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् भारत की केन्द्रस्थ शक्तियाँ बिखर गयीं और उनके स्थान पर अनेक छोटे-छोटे राजपूत-राज्य स्थापित हो गये। इन राज्यों में आपसी संघर्ष बढ़ गया। तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चंदेल, परमार, गहरवार आदि आपस में लड-भिड कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। इसी समय अरब निवासी मुहम्मद बिन-कासिम ने सं० ७६६ में सिंध प्रदेश पर आक्रमण किया। इसमें मुसलमानों की विजय हुई। इस विजय के

फलस्वरूप मंसूर (सं० ८१०-३१) और हारूँ (सं० ८४३-६५) के ख़िलाफ़त के समय में अरबी तथा संस्कृत के साहित्यकारो में संपर्क स्थापित हुआ, पर वह स्थाई न रह सका। विक्रम की दसवीं शताब्दी में तुर्कों ने भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया। गजनी के सुबुक्तगीन (सं० १०३३-५४) और महमूद (सं० १०५४-८७) ने अपने कई आक्रमणों-द्वारा उत्तरी भारत को रौंद डाला, जिससे चारो ओर अशांति फैल गयी। कालान्तर मे गजनी-वंश का अन्त (सं० १२३०) होने पर जब शासन-सत्ता ग़ोर-वंश के हाथ में आई तब मुहम्मद ग़ोरी (सं० १२३०-६३) के आक्रमण और भी भंयकर सिद्ध हुए और अन्त मे मुसलिम-राज्य की स्थापना हो गयी। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता नष्ट हो गयी और देखते-देखते सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर मुसलमानो का अधिकार हो गया। इस्लामी संस्कृति और सभ्यता भारतीय संस्कृति और सभ्यता से नितान्त भिन्न थी। इसलिए जातीय एवं राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ सांस्कृतिक और धार्मिक संघर्ष आरम्भ हो गया। हिन्दुओ के मंदिरों और तीर्थो की पवित्रता नष्ट हो गयी और उनके स्थान पर मस्जिदें बन गयीं। लाखों हिन्दू अपनी इच्छा के विरुद्ध मुसलमान हो गये। इस प्रकार की राजनीतिक और धार्मिक विशृङ्खलता के कारण भारतीय सामाजिक जीवन भी अनियंत्रित हो गया। ऐसा विपाक्त और अशांत था उस समय भारत का वातावरण जब हिन्दी-साहित्य ने जन्म लिया। भाषा की दृष्टि से वह समय अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था का समय था। हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव इसी अवस्था से हुआ। विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में तांत्रिक और योग मार्गी बौद्धों की जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें अपभ्रंश से प्रभावित पुरानी हिन्दी के रूप मिलते हैं। मालवा के परमार-वंशीय मुंजराज (सं० १०३१-५४) और उसके भतीजे राजा भोज (सं० १०७५-१११७) के समय में तो अपभ्रंश-मिश्रित पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार काव्य-रचनाओं में पाया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से यह सामंती युग है। इसलिए हिन्दी-साहित्य का अभ्युदय हम सं० १००० से मानते हैं। 'शिवसिंह सरोज' के

अनुसार सं० ७७० में भोजराज के पूर्व पुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बन्दीजन ने दोहों में एक अलंकार-ग्रंथ की रचना की थी, पर इसका न तो कोई प्रमाण है और न वह ग्रन्थ ही उपलब्ध है।

**हिन्दी-साहित्य की प्रगति का अध्ययन**

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी-साहित्य की प्रगति का अध्ययन कैसे किया जाय? इस सम्बन्ध में विद्वानों ने दो साधन बताए हैं: (१) अन्तः साक्ष्य और (२) वाह्य साक्ष्य। अन्तःसाक्ष्य का आधार साहित्यकार की अपनी रचनाएँ होती है। वह जिस देश, जिस समाज, जिस वातावरण और जिस परिस्थिति मे रहता है उसका अङ्कन वह अपनी रचनाओं में करता है। इस लिए उसकी रचनाओं से हमें उसके समय के समाज की चित्तवृत्तियो का पता लग जाता है। साथ ही उनमें आत्म-निवेदन के रूप में वह जो कुछ कहता है उससे हमें उसके जीवन की अनेक बातो का ज्ञान हो जाता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीराँ आदि के सम्बन्ध में अब जो जानकारी हुई है उसका मूलाधार उनकी रचनाएँ ही हैं। ऐसी रचनाओं के अध्ययन से हमें हिन्दी-साहित्य की प्रगति का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री वाह्य साक्ष्य के रूप में मानी जाती है। प्रायः यह देखा जाता है कि साहित्यकारों के जीवन और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में अन्य व्यक्ति भी कुछ-न-कुछ लिख जाते हैं। ऐसी सामग्री प्रायः दो रूपो में मिलती है: (१) प्राचीन रचनाओं के सपादित संग्रहों और उनके रचयिताओं की जीवनियो के रूप में और (२) साहित्य के इतिहास के रूप में। पहले प्रकार की सामग्री के अन्तर्गत कालिदास-कृत 'हजारा', बलदेव-कृत 'सत्कवि-गिरा-विलास', गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', नाभादास-कृत 'भक्त-माल', वेणी माधव-कृत 'मूल गोसाईं चरित' आदि ग्रंथ आते हैं। ऐसी सामग्री की प्रमाणिकता अथवा अप्रमाणिकता पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की सामग्री हिन्दी-साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखती है। शिवसिंह सेंगर-कृत 'शिवसिंह सरोज'

(सं० १६४०), ग्रियर्सन-कृत 'माडर्न-वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' (सं० १६४६); आदि के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास फ्रेंच भाषा में गार्सां द तासी ने लिखा है। इस का प्रथम भाग सं० १८६६ में और दूसरा सं० १६०३ में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् महेशदत्त शुक्ल-कृत 'भाषा काव्य-संग्रह' (१६३०)है। आधुनिक युग में हिंदी-गद्य का विकास होने पर इस प्रकार के कई ग्रंथ लिखे गए हैं जिनमें से रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'हिदी-साहित्य का इतिहास' (सं० १६८६), श्यामसुन्दर दास-कृत 'हिंदी भाषा और साहित्य' (सं० १६८७) कृष्णशङ्कर शुक्ल-कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सं० १६६३), डा० रामकुमार वर्मा-कृत 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सं० १६६५), हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' (सं० १६६७); डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय-कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (सं० १६६८); डा० कृष्णलाल-कृत 'आधुनिक हिंदी-साहित्य की भूमिका' (सं० २००६), डा० केशरीनारायण शुक्ल-कृत 'आधुनिक काव्य-धारा (सं० २०००), परशुराम चतुर्वेदी-कृत 'उत्तरी भारत की सत परम्परा' (सं० २००८) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ठीक-ठीक तिथियों और प्राचीन रचना-सामग्री के अभाव में अभी हिंदी-साहित्य के इतिहास अधूरे और किसी अंश तक अप्रमाणित ही हैं। फिर भी उनसे हमें हिंदी-साहित्य की प्रगति को समझने में पर्याप्त सहायता मिल रही है।

**हिन्दी-साहित्य की प्रगति**

उक्त ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि साहित्य की प्रगति का रूप सदा एक-सा नहीं रहता। समाज की परिवर्तन-शीलता के कारण उसकी गति में भी परिवर्तन होते रहते हैं। जिस काल अथवा युग में समाज का जो रूप रहता है साहित्य का उसी रूप के साथ सामंजस्य हो जाता है। साहित्य समाज का दर्पण है। जिस प्रकार दर्पण में मुखाकृतियो की छाया स्पष्ट झलकती रहती है उसी प्रकार काल विशेष के साहित्य में उस काल के समाज की भावनाएँ, कल्पनाएँ, आकाङ्क्षाएँ आदि चित्तवृत्तियाँ प्रतिबिंबित

होती रहती हैं। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिए कि वह साहित्य वैयक्तिक है, जनता का प्रतिनिधि नहीं है। जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य ही साहित्य की प्रगति का आभास देता है। हिंदी-साहित्य का, आरंभ से अन्त तक, अध्ययन करते समय हमें उसमें अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ मिलती हैं और यह देखने में आता है कि उसके एक काल विशेष में जितनी रचनाएँ हुई हैं उन सब पर प्रायः एक विशेष प्रकार की विचार-धारा का प्रभाव रहा है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने ऐसे काल का नामकरण उसी विचार-धारा के अनुकूल किया है। साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इसी सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल में तत्सम्बन्धी विचार-धारा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की विचार-धारा नहीं पायी जाती। साहित्यकार की प्रतिभा पर काल का नियंत्रण नहीं चल सकता। इसलिए काल-विशेष में ऐसे प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार भी उत्पन्न हो जाते हैं जो उस काल की प्रमुख विचार-धारा की अवहेलना कर अपनी स्वतंत्र विचार-धारा की प्रतिष्ठा करते हैं। हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में भूषण की रचनाएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन गणित के नियम अथवा यांत्रिक क्रिया के अनुकूल नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के इतिहास में एक काल के समाप्त होते ही तुरन्त और क्षिप्र गति से साहित्यिक धारा दूसरी दिशा में प्रवाहित नहीं होती। एक काल की विचार-धारा दूसरे काल तक जाती है और धीरे-धीरे परिवर्तित होती है। कभी-कभी तो साहित्य ही समाज पर नियंत्रण करता है और उसे विकास के नवीन मार्ग पर अग्रसर करता है। वास्तव में ऐसा साहित्य ही शक्तिशाली साहित्य होता है। शक्तिशाली साहित्य के साहित्यकार साहित्य और समाज की गति-विधियो मे समन्वय स्थापित करते हैं और अपनी रचनाओं-द्वारा समाज में शक्ति और स्फूर्ति का सृजन करते हैं। इसलिए ऐसे साहित्यकारों के नाम पर भी कभी-कभी काल-विशेष का नामकरण कर दिया जाता है। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-

युग ऐसे ही युग हैं। काल-विभाजन-संबंधी इन सिद्धान्तों के अनुसार ह
हिन्दी-साहित्य के इतिहास को निम्न कालों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. आदि काल . .... . ..सं० १००० से सं० १३७५ तक।

२. पूर्व-मध्य अथवा भक्ति काल ...सं० १३७६ से १७०० तक।

३. उत्तर-मध्य अथवा रीति काल सं० १७०० से सं० १९०० तक।

४. आधुनिक काल . सं० १९०० से अबतक।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास को खंड-खंड करके प्रस्तुत करने क
तात्पर्य उसे अध्ययन-योग्य और सुविधाजनक बनाना है। उसका प्रत्येक
खंड अपने में स्वतंत्र है और नहीं भी है। है इसलिए कि वह एक प्रमुख
विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है और नहीं इसलिए कि वह अपन
पूर्व-परिस्थितियों का विकास रूप है। इस प्रकार उसका एक काल दूस
काल का जनक है और उसके सभी काल सामूहिक रूप से उसकी प्रगति
का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

---

# ४. हिन्दी-साहित्य का आदि काल

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आदि काल सं० १००० से स० १३७५ तक माना जाता है। राजनीतिक स्थिति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में यह समय उथल-पुथल और अशांति का समय समझा जाता है। भारत के अन्तिम सम्राट हर्षवर्द्धन के शासन-काल (सं० ६६३-७०४) में जो राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता थी वह उसकी मृत्यु ( सं० ७०४ ) के पश्चात् राजपूतों की पारस्परिक कलह और मुसलमानों के आक्रमणों के कारण समाप्त हो गई। अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये और उनमें परस्पर द्वेष और स्पर्द्धा की दूषित भावना इतनी बढ़ गई कि वे आपस में लड़-भिड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे। इससे लाभ उठाकर मुसलमानों ने उनपर विजय प्राप्त की और देखते-देखते सम्पूर्ण उत्तरी भारत उनकी मुट्ठी में आ गया। हिन्दुओं के आपसी झगड़े तो थे ही, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भी जातीय, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संघर्ष आरंभ हो गये। सैकड़ों देव-मन्दिर गिरा दिए गए और उनके स्थान पर मसजिदें खड़ी हो गईं। मुसलिम-निरंकुश शासकों और सेनापतियों ने तलवार के बल पर धर्म का प्रचार किया और यहाँ की समाज-नीति को उलट-पुलट डालने में पाशविक बल का प्रयोग किया। गुलाम-वंश के शासन-काल (सं० १२६३-१३४७) से खिलजी-वंश के शासन-काल (सं० १३४७-७७) तक सम्पूर्ण भारत इतना पद-दलित हो गया कि उसमें उठने की शक्ति नहीं रह गयी।

आदि काल की पीठिका

धार्मिक स्थिति की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आदि काल बौद्ध धर्म के ह्रास का युग था। चीनी-यात्री हुएनत्सांग (सं० ६८८-७०२) ने अपनी भारत-यात्रा का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसके अध्ययन से पता चलता है कि हर्षवर्द्धन के शासन-काल (सं० ६६३-७०४) में ही बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ (१) हीनयान और (२) महायान हो गयी थीं। हीनयान

अथवा 'संकरी गाडी' का संबंध मुख्यतः संन्यासियों और विरक्तों के साथ था। इसके विरुद्ध **महायान** अथवा 'बडी गाडी' का संपर्क जन-जीवन के साथ था। वह छोटे-बड़े, ऊँच-नींच सबको अपनी विशाल गाडी में बैठाकर निर्वाण तक पहुँचाने का दावा करता था। कालांतर में वह भी क्रमशः मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि कई उप-शाखाओं में विभाजित हो गया। सहजयान वज्रयान का एक विकसित रूप था जिसमें योग और मानसिक शक्तियों के विकास पर विशेष बल दिया जाता था। वज्रयान का दूसरा विकसित रूप हमें नाथ-पंथ की साधना में मिलता है। नाथ-पंथ के प्रवर्तक **गुरु गोरखनाथ** माने जाते हैं और उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। बौद्ध-धर्म के ह्रास और शैव-सम्प्रदाय के पुनरुद्धार का यही समय है। इसी समय **तीर्थङ्कर महावीर** (सं० ५४२–४७० वि० पू०) द्वारा प्रचारित जैन-धर्म के 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' नाम की दो शाखाओं की साधना-पद्धतियों में भी विविध वाह्याचारों का समावेश हो गया जिससे उनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई देने लगा। ऐसी दशा में केरल-प्रान्त निवासी **स्वामी शंकराचार्य** (सं० ८४५-७७) ने बौद्ध तथा जैन-जैसे अवैदिक धर्मों का उन्मूलन कर उनके स्थान पर वैदिक धर्म को महत्त्व दिया। उन्होंने उक्त दोनो धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक ठहराकर तत्कालीन हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की भी कटु आलोचना की और उनके वेद-वाक्यों को नवीन अर्थ में प्रस्तुत कर वेदो की एक वाक्यता प्रतिपादित करते हुए एक नवीन मत का प्रवर्तन किया जिसके दार्शनिक अंश को **वेदांत** और साधना-अंश को **स्मार्त-मार्ग** कहते हैं। इस प्रकार आलोच्य काल में हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत हम पर्याप्त संघर्ष पाते हैं। सहजयानी, नाथ-पंथी, जैनी, वेदान्ती, शैव, शाक्त—सब आपस में होड़ लेते हैं और कलहपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हुए दिखाई देते हैं। एक ओर इस्लाम धर्म की असहिष्णुता है, दूसरी ओर हिन्दुओं में ही धार्मिक संघर्ष! भारत में पैर जमाकर इस्लाम धर्म भी इस संघर्ष से अछूता नहीं रहा। उसमें भी शिया-सुन्नी और उल्मा-सूफ़ी के मत-भेद आरंभ हो गए।

राजनीतिक एवं धार्मिक संघर्ष के कारण भारत की सामाजिक व्यवस्था भी नष्ट हो गयी। युद्ध-प्रियता और धार्मिक अंध-विश्वास ने उसे आडम्बरपूर्ण बना दिया। तत्कालीन हिन्दू-समाज में राजपूतो का प्रावल्य था, पर उनमें संगठन का सर्वथा अभाव था। उनके स्वभाव में आत्माभिमान, दंभ और दर्प ने इतना घर कर लिया था कि वे साधारण बातों पर ही रण-क्षेत्र में उतर पड़ते थे। उन्हें देश के गौरव और हित का उतना ध्यान नहीं था जितना उन्हें अपनी निजी मान-मर्यादा का। ब्राह्मण पूज्य अवश्य थे, पर उनकी स्वार्थ-बुद्धि के कारण उनकी प्रतिष्ठा कम हो गयी थी। उनमें अपनी श्रेष्ठता का इतना अहंकार आ गया था कि वे अपने आगे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को कुछ सेटते ही नही थे। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में भी ऊँच-नीच की भावना प्रबल थी जिससे चारों वर्णों में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। इतना ही नहीं, प्रत्येक वर्ण विशेषतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में इतनी उप-जातियाँ बन गयी थीं कि उनमें विवाह और खान-पान का सबंध ही नहीं था। ऐसी स्थिति में मुसलमानो को उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने का स्वर्ण अवसर मिला। वर्ण-व्यवस्था के कठोर नियमों-द्वारा उत्पीड़ित लाखों हिन्दू, कुछ तो अपनी स्वेच्छा से और कुछ विवशता-वश, मुसलमान हो गये। इस प्रकार भारत में शुद्ध मुसलमानों के अतिरिक्त नव-मुस्लिम की एक शक्ति उत्पन्न हो गयी जिससे इस्लामी समाज में भी संघर्ष उत्पन्न हो गया। इन संघर्षों की भीषण आंधी में पड़कर न तो हिन्दुओं ने अपने सामाजिक संगठन की चिन्ता की और न मुसलमानों ने। कालान्तर में इन दोनों समाजो की शक्ति क्षीण हो गयी।

साहित्यिक दृष्टि से आलोच्य काल में संस्कृत-साहित्य का ह्रास और उसके स्थान पर प्राकृत से विकसित अपभ्रंश एवं 'देशभाषा' का साहित्य मिलता है। इस प्रकार का साहित्य एकमात्र प्रयोजन-साध्य था। जहाँ एक ओर विविध सम्प्रदायो के संत, योगी आदि घूम-घूमकर अपने-अपने मतो का प्रचार करने के लिए काव्य-रचना कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर राज-दरबारों में आश्रित कवि अपने-अपने सामन्तों की प्रशंसा करने में ज़मीन-

आसमान के कुलावे मिला रहे थे। देश और समाज किधर जा रहा है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। ऐसी थीं राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ जब हिन्दी-साहित्य ने अपने आदि काल में प्रवेश किया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट है कि आदि काल में हिन्दी-साहित्य की धारा दो दिशाओं में प्रवाहित हुई है : (१) अपभ्रंश-साहित्य और (२) देश-भाषा-साहित्य। विषय की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य मुख्यतः धार्मिक साहित्य है और भाषा-साहित्य लौकिक साहित्य है। लौकिक साहित्य ही वीर-गाथा-साहित्य कहा जाता है। वीरगाथा-साहित्य का हिन्दी-भाषा से विशेष संबंध है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहास-लेखकों ने आलोच्य काल को 'वीर-गाथा-काल' की संज्ञा दी है। परन्तु भाषा-विकास और साहित्यिक विचार-परंपरा की दृष्टि से उसे आदि काल कहना ही उचित प्रतीत होता है। वीर-गाथा-काल कहने से उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित हो जाता है और उसमें तत्कालीन समाज की प्रवृत्तियों का सफल अंकन नहीं हो पाता। इसलिए हम भी उसे आदि काल ही कहेंगे और उसके अन्तर्गत (१) अपभ्रंश-साहित्य और (२) देशभाषा-साहित्य की गति-विधियों पर विचार करेंगे।

**आदि काल का हिन्दी-साहित्य**

हिन्दी-साहित्य के आदि काल में अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा विक्रम की सातवीं शताब्दी से आरम्भ होकर मैथिली-कवि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) तक आती है। प्राकृत-काल में जैसे 'गाथा' अथवा 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही इस काल में दोहा अथवा 'दूहा' कहने से अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास हिन्दी का बोध होने लगा। इसमें नीति, धर्म, शृङ्गार, वीर—सब प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। ऐसी रचनाओं में से अधिकांश मुसलमानी आक्रमणों के समय नष्ट हो गयीं। आधुनिक खोजों के फलस्वरूप जो रचनाएँ इस समय उपलब्ध हुई हैं वे मुख्यतः धार्मिक

**(१) अपभ्रंश साहित्य**

साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। इसलिए अपभ्रंश-साहित्य धार्मिक साहित्य माना गया है। अपभ्रंश के धार्मिक-सहित्य में (१) सिद्ध-साहित्य (२) जैन-साहित्य और (३) नाथ-साहित्य का प्रमुख स्थान है।

(१) **सिद्ध-साहित्य** का आविर्भाव-काल विक्रम की सातवीं शताब्दी से माना जाता है और इसके कवियों की परम्परा महायान के विकृत रूप वज्रयान से सम्बन्धित है। वज्रयान-शाखा के चौरासी सिद्धों में बहुत-से ऐसे सिद्ध भी थे जिन्होंने वज्रयान-साधना के वास्तविक रहस्य का परिचय पाकर 'सहज साधना' का सूत्रपात किया था। वे अपनी सहज-साधना-द्वारा 'सहज सिद्धि' अथवा सभी प्रकार की सिद्धियों को सरलतापूर्वक प्राप्त करलेना सम्भव समझते थे। वज्रयान की वाह्य साधनाओं में उनका विश्वास नहीं था। वे योग एवं मानसिक शक्तियों के विकास की ही ओर अधिक ध्यान देते थे और अपने संप्रदाय को सहजयान कहते थे। ऐसे ही सहजयानियों में **सरहपा** की गणना की जाती है। सरहपा का समय सं० ६९० के आस-पास माना जाता है। उन्होंने संस्कृत तथा अपभ्रंश-मिश्रित देश-भाषा में कई रचनाएँ की हैं। उनकी परम्परा में लुइपा (सं० ८३० के लगभग), **विरुपा** (सं० ९०० के लगभग), कुक्कुरिपा के पश्चात् कण्हपा (सं० ९०० के पश्चात्) आदि कवि हुए हैं जिन्होंने बिहार के नालन्दा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठों को अपना निवास-स्थान बनाकर अपने मत का प्रचार किया है। वे अपनी भाषा को 'संध्या भाषा' कहते थे। उनकी रचनाओं के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं :—

'जहि मन पवन न संचरइ, रवि-ससि नाहिं पवेस।
तहि बट चित्त विसाम करु, सरेहे कहिअ उवेस॥'—सरहपा
'काआ तरुवर पञ्च विडाल। चञ्चल चीए पइठो काल॥
दिट करिअ महासुह परिमाण। लूइ भणइ पुच्छिअ जाण।'—लुइपा

(२) **जैन-साहित्य** का आविर्भाव-काल विक्रम की दसवीं शताब्दी से माना जाता है। इसके कवियों की परम्परा **जैनाचार्य देवसेन** से आरम्भ होती है। उन्होंने 'श्रावकाचार' (सं० ९९०) नाम की एक काव्य-पुस्तक

दोहों में बनाई थी। इसके अतिरिक्त शुभाशील मणि-कृत 'कथाकोश' (सं० १०५६), गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह (सं० ११५१-१२००) और उनके भतीजे कुमारपाल (स० १२००-१२३०) के आश्रित हेमचन्द्र (सं० ११४५-१२२६)-कृत 'सिद्ध हेमचंद शब्दानुशासन', सोमप्रभसूर-कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध' (सं० १२४१), मेरुतुङ्ग-कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' (सं० १३६१), शार्ङ्गधर (सं० १३००-५०) कृत 'शार्ङ्गधर पद्धति' और विद्याधर-कृत 'प्राकृत-पिङ्गल सूत्र' इस परम्परा की प्रमुख रचनाएँ हैं। 'श्रुति पञ्चमी कथा,' 'योगसार', 'रामकुमारचरिउ' आदि चरित्र अथवा आख्यानक काव्यो में अधिकतर दोहे-चौपाई की पद्धति ग्रहण की गयी है। पुष्पदंत (सं० १०२६)-कृत 'आदि पुराण' और 'उत्तर-पुराण' तथा 'जसहर चरिउ' केवल चौपाइयों में हैं। इन ग्रन्थों में से दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं :—

'जो जिण सासण भाखिउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पालै सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥'—देवसेन

'भल्ला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जे जंतु वयंसि अहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥'—हेमचन्द्र

(३) नाथ-साहित्य का आविर्भाव-काल विक्रम की दसवीं के आस पास माना जाता है। इस साहित्य की परंपरा के प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ हैं। गुरु गोरखनाथ ही नाथ-पंथ के जनक थे। उनकी गणना भी वज्रयान के चौरासी सिद्धों में होती थी, पर उन्होंने सहजयानी सिद्धों की भांति अपना अलग मार्ग बना लिया था। उनका मत शिव-शक्ति पर आधारित था। उन्होंने 'पतंजलि' के उच्च लक्ष, ईश्वर-प्राप्ति, को लेकर हठयोग का प्रवर्तन किया और राजपूताना तथा पंजाब को अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया। 'गोरख बोध', 'दत्त गोरख संवाद','योगेश्वरी साखी', 'गोरख-सार','महादेव-गोरख संवाद' आदि उनके ग्रंथ कहे जाते हैं। वह एकेश्वरवादी थे। जप, वेद, तीर्थ, मूर्तिपूजा आदि में उनका विश्वास नहीं था। उनके मत में नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट,

जलंधर और मल्यार्जुन नाम के नौ सिद्ध माने जाते हैं। इन सिद्धों के उपदेशों के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं :—

'खाए भी मरिए अनाखाए भी मरिए ।
गोरख कहे पूता संजमि ही तरिए ॥'—गोरखनाथ

'यह संसार कुबधि का खेत । जब लग जीवै तब लग चेत ।
आँख्यो देखे काना सुणै । जैसा बाहै तैसा लुणै ॥'—जलधर

अपभ्रंश-साहित्य की विशेषताएँ—अपभ्रंश-साहित्य के युग को कुछ आलोचको ने संधि-युग का साहित्य माना है जो उचित ही है। इस युग के साहित्य की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(१) उसमें हिन्दी-भाषा के विकास का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त सामग्री है और वह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) उसमें कुछ सामग्री सदिग्ध और कुछ असंदिग्ध है।

(३) उसमें अधिकांश प्रयोजन-साध्य साहित्य है जिसका केवल साम्प्रदायिक महत्त्व है। उससे हमें जैन, सिद्ध और नाथ-पंथियों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। इन सिद्धान्तो का हिन्दी के संत-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। सिद्धों और नाथ-पंथियों की अनेक बातें हमें संत-साहित्य में मिलती हैं। रहस्यवाद की परंपरा भी हमें उन्हीं से प्राप्त हुई हैं। नाद, बिन्दु, शून्य, अनहद, सुरत, शब्द, वंशी आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त सांकेतिक भाषा हमें उन्हीं से प्राप्त हुई है।

(४) उसमें अनेक प्रकार की काव्य-शैलियों का प्रयोग हुआ है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' में तीन प्रकार के बन्धनो अथवा शैलियों का उल्लेख किया है : (१) दोहा-बन्ध, (२) पद्धडिया-बन्ध और (३) गेय-पद-बन्ध। दोहा-बन्ध में चार प्रकार का साहित्य मिलता है : (१) निर्गुण-प्रधान धार्मिक और उपदेश-मूलक, (२) शृङ्गार-प्रधान, (३) नीति-प्रधान और (४) वीर रस-प्रधान। पद्धड़िया-बन्ध में पद्धरी छंद है जो चौपाई की भाँति १६ मात्राओं का होता है। गेय-पद-बन्ध में कई प्रकार के पद मिलते हैं। हिन्दी के संत-कवियो ने उक्त सभी बन्धों का अपनी रचनाओं

में प्रयोग किया है। संत-साहित्य में 'पद्धड़िया-बन्ध' ही 'रमैनी' के नाम से प्रसिद्ध है। गेय-पद-बन्ध का विकसित रूप ही संत-साहित्य और भक्त-साहित्य में मिलता है। जैन-चरित-काव्य की दोहा-चौपाई शैली को सूफ़ी-कवियो और राम-भक्त-कवियों ने अपनाया है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को अपभ्रंश-साहित्य से बहुत-कुछ मिला है।

(५) उसमें एकांगी साहित्य है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को स्पर्श करनेवाला साहित्य उसमें नहीं है। वह अपने समय के जन-जीवन का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करता।

(६) उसमें साहित्यिक सौंदर्य, काव्य-कौशल और मानव-हृदय की अनुभूतियों का सर्वथा अभाव है। इसलिए उसका प्रचार समाज के शिक्षित वर्ग में नहीं हो सका। जैन-साहित्य को छोड़कर सिद्धो और नाथों के साहित्य का प्रचार मुख्यतः समाज के निम्न स्तर के व्यक्तियों में ही हुआ और यही परम्परा हिन्दी-संत-साहित्य तक चली आई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश-साहित्य ने हमारे साहित्य के मध्य काल के पूर्वार्द्ध को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उसकी कई परंपराएँ हमारे साहित्य की मूल निधि हैं और इसीलिए इस काल का विशेष महत्त्व है।

देशभाषा-साहित्य का समय सं० १००० से सं० १३७५ अर्थात् सुबुक्तगीन के आक्रमण (सं० १०५१) के कुछ पूर्व से खिलजी-वंश के शासन-काल (सं० १३४७-७७) तक माना जाता है। भाषा की दृष्टि से यह समय हमारे लिए अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। इतिहासकारो का कहना है कि इस समय कवि प्राकृत अथवा अपभ्रंश में ही नही, वरन् जन-साधारण की बोली अर्थात् देशभाषा में भी गीत, दोहे आदि की रचना करते थे। देशभाषा का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं था और न यह साहित्यिक भाषा थी। इसलिए प्राकृत के पंडित इसे गँवारू समझते थे, पर उनकी इस प्रकार की उपेक्षा के कारण उसके विकास में कोई बाधा नहीं आयी।

(२) देशभाषा साहित्य

जैसे-जैसे देशभाषा प्रौढ़, सशक्त और काव्य-रचना के अनुकूल होती गयी वैसे-वैसे वह लोक-प्रिय होती गयी और उसका प्रवेश राज-दरबारों में होता गया। राज-दरबारो में देशभाषा के राजाश्रित कवि अपने आश्रय दाताओं के शौर्य, पराक्रम, और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियो के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास-भरी रचनाओ-द्वारा वीरों को उत्साहित करते रहते थे। वे नीति. शृङ्गार आदि के लिए 'दोहा' और वीर रस के लिए 'छप्पय' छंदों का प्रयोग करते थे। उनका समय उनके इस कार्य के लिए सर्वथा अनुकूल था। उत्तर-पश्चिम की ओर मुसलमानो के लगातार आक्रमण हो रहे थे जिनके धक्के भारत के पश्चिमी भाग में स्थित कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाडा अर्थात् गुजरात आदि बड़े-बड़े राजपूत-राज्यों को ही सहन करने पड़ते थे। वे एक ओर मुसलमानों से लोहा लेते थे तो दूसरी ओर आपस में भी गृह-युद्ध ठान देते थे। ऐसे राज्यों के राज-दरबारों में आश्रय पाकर देशभाषा के कवियों ने हिन्दी-साहित्य को जन्म दिया। इसीलिए हिन्दी-साहित्य का यह काल वीर-गाथा-काल कहा जाता है। वीर-गाथा-काल में भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता, बल-वैभव एवं पराक्रम का केन्द्र था। इसलिए इस क्षेत्र की देशभाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और इसमें ही तत्संबंधी जनता की चित्तवृत्तियो का सफल अंकन संभव था। वह नागर अपभ्रंश से प्रभावित थी और उसका साहित्यि डिंगल के नाम से प्रसिद्ध था। 'डिंगल' भाषा में वीर-गाथा-काल की रचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं : (१) प्रबन्ध-काव्य के रूप में और (२) वीर-गीतों के रूप में। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' और वीर गीत के रूप में 'बीसलदेव रास' सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। 'बीसल-देव रास' में 'रसायण' शब्द काव्य के अर्थ मे बार-बार आया है। 'रासो' शब्द संभवतः इसी 'रसायण' शब्द का विकृत रूप है। मिश्रबन्धुओ के अनुसार 'रासो' की परंपरा आठवीं शताब्दी से आरंभ होती है, पर उस समय की रचनाओ का हमारे पास कोई प्रमाण नही है। इसलिए यहाँ हम इस काल की उपलब्ध रचनाओ पर ही विचार करेंगे।

(१) खुमान रासो—वीर-गाथा-काल की यह सबसे पहली उपलब्ध रचना है और इसके रचयिता दलपति विजय माने जाते हैं। कहा जाता है कि सिंध की ओर से अरब निवासी मुहम्मद बिन-कासिम का जो आक्रमण (सं० ७६६) हुआ था उसके एक शताब्दी पश्चात् खलीफा अलमायूं (सं० ८७०-६०) ने उसी ओर से चढ़ाई की थी। उस समय चित्तौड़ के रावल खुम्माण द्वितीय (सं० ८७०-६००) ने उन्हे परास्त किया था। दलपति विजय ने इसी रावल खुम्माण की प्रशंसा में 'खुमान रासो' की रचना की थी। 'खुमान रासो' की वर्तमान उपलब्ध अधूरी प्रति में महाराणा प्रतापसिंह (सं० १६२६-५४) तक का वर्णन मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रायः आठ सौ वर्ष तक इसमें परिवर्तन होता रहा है। ऐसी दशा में यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इसमें प्रक्षिप्त अंश कितना है और यह वास्तव में किस की रचना है।

(२) बीसलदेव रास—यह काव्य-ग्रंथ नरपति नाल्ह की रचना है और इसका रचना काल सं० १२१२ है। नरपति नाल्ह अजमेर के चौहान-वशी विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव के समकालीन और कदाचित उनके राज-कवि थे। बीसलदेव स्वयं कवि थे और वह कवियों का बहुत आदर करते थे। वह अपने समय के वीर और प्रतापी राजा थे। उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई युद्ध भी किए थे। नरपति नाल्ह ने उन्हीं के जीवन की एक कल्पित प्रेम-घटना के आधार पर 'बीसलदेव रास' की रचना की। 'बीसलदेव' प्रेम-प्रधान वर्णनात्मक गीति-काव्य (रास) है जिसमें चार खंड हैं। पहले खंड में मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती के साथ साँभर के बीसलदेव का विवाह-वर्णन है। दूसरे खंड में बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा जाने तथा वहाँ एक वर्ष रहने की कथा है। तीसरे खंड में राजमती के वियोग तथा बीसलदेव के अजमेर लौटने का वर्णन है। चौथे खंड में भोज को अपनी पुत्री को अपने घर लौटा लाने और बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को पुनः अजमेर लाने का वर्णन है। इस प्रकार यह कथा अत्यन्त साधारण है। साथ ही इसमें वर्णित

घटनाएँ भी ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हैं। भाषा की दृष्टि से भी यह साधारण रचना प्रतीत होती है। इसकी भाषा डिंगल होने पर भी अपभ्रंश से प्रभावित है। इसमें शृंगार की प्रधानता और वीर रस का आभास मात्र है। इस पर भी अन्य कवियों ने अपना हाथ साफ किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

(३) **पृथ्वीराज रासो**—यह हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। इसके रचयिता चंदबरदाई (सं० ११८३-४६) दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज (सं० १२०५-४६) के सामंत और राज-कवि थे। दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों एक ही दिन परलोक-वासी हुए। रासो के अनुसार चंदबरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था और उनके पिता वेण भट्ट जाति के जगात गोत्र के थे। उन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था जिसकी कृपा से वह अदृष्ट काव्य कर सकते थे। व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंद-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में वह पारंगत थे। युद्ध, आखेट, सभा, यात्रा आदि में वह बराबर पृथ्वीराज के साथ रहते थे। इसलिए उन्होंने अपने आश्रय-दाता के जीवन के संबंध में 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की। इसमें ६९ समय, सर्ग अथवा अध्याय हैं जिनमें कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसके अंतिम भाग के रचयिता चंदबरदाई के पुत्र जल्हण माने जाते हैं। इसमें आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति, दिल्ली के अनंगपाल तोमर की पुत्री कमला के साथ अजमेर के सोमेश्वर का विवाह तथा पृथ्वीराज का जन्म, कन्नौज के राठौर विजयपाल के साथ अनंगपाल की द्वितीय पुत्री सुन्दरी का विवाह तथा जयचंद का जन्म, अनंगपाल का अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लेना, अजमेर और दिल्ली की एकता, जयचंद की द्वेष-भावना, जयचन्द का राजसूय यज्ञ करना, पृथ्वीराज द्वारा संयोगिताहरण, पृथ्वीराज का भोग-विलास में लीन होना, गोरी का आक्रमण, पृथ्वीराज के अनेक युद्धों, आखेटों आदि का वर्णन और अन्त में सं० १२४८ में उनकी पराजय आदि की कथा है। इस प्रकार इसमें

वीर और शृङ्गार दोनो रसो को उचित स्थान मिला है। पर वास्तव में यह वीररस-प्रधान-महाकाव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें तिथियो तथा घटनाओ-संबंधी अनेक भ्रमपूर्ण बाते मिलती हैं जिनके कारण इसके प्रमाणिक होने में आलोचकों को सन्देह है, फिर भी यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। इससे दो उदाहरण लीजिए:—

'कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद।
कमल-गंध, बयसंध, हंस गति चलत मंद मद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नख स्वाति बूँद जस।
भँवर भवहि, भुल्लहि सुभाव, मकरंद वास-रस॥'

× × ×

'खुरासान, मुलतान, खधार मीरं।
वलख स्यो बल तेग अच्चूक तीरं॥
रुहंगी, फिरंगी हलब्बी, समानी।
टटी टट्ट बल्लोच, ढालं निसानी॥
मजारी-चषी मुष जंवुक्क लारी।
हजारी हजारी हुँके जोध भारी॥'

(४) आल्ह खंड—इस वीर-काव्य के रचयिता का नाम जगनिक अथवा जगनायक (सं० १२३०) है जो कालिंजर के राजा परमाल के दरबार में एक भाट थे। उन्होने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल—के वीर चरित का विशद वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में किया है। यही काव्य 'आल्ह खंड' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी कोई प्रमाणिक प्रति अबतक नहीं मिली है, पर इसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तो के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं। वर्षा ऋतु के दिनो में प्रत्येक गाँव आल्हा की वीरोचित वाणी से गूंज उठता है। मौखिक रूप मे इसका प्रचार होने के कारण इसमें भाषा और घटना-संबंधी अनेक उलट-फेर हो गए हैं। इसकी काव्य-शैली से प्रभावित होकर सं० १९२६ में फ़रुखाबाद के जिलाधीश चार्ल्स इलियट ने बड़े परिश्रम से इसका

संकलन और संपादन किया था जो सं० १९५७ में पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ था। इसका एक ओजपूर्ण उदाहरण लीजिए:—

'बिसे बिसे पर हाथी डारे छोटे पर्वत की उनहारि ।।
कल्ला कटिगे जिन घोडन के धरती गिरे करौटा खाय ।।
कटि भुजडंडै रजपूतन की चेहरा कटे सिपाहिन क्यार ।।
कटै भुशंडो जब हाथिन के भुँइ में गिरैं भरहरा खाय ।।'

(५) देशभाषा में अन्य रचनाएँ—वीर-गाथा-काल की उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त भट्टकेदार (सं० १२२४-४३) कृत 'जयचंद-प्रकाश' और मधुकर कवि (सं० १२२४-४३) कृत 'जय मयंक-जस-चद्रिका' में जयचंद का यश-कीर्तन किया गया है। इन दोनों ग्रन्थो का अब पता नहीं है। नल्लसिंह भट्ट-कृत 'विजयपाल रासो' (सं० १३५५) में करौली के राजा के युद्धों का वर्णन है। श्रीधर-कृत 'रणमल छंद' (र० क० सं० १४५४) में ईडर के राठौर राजा रणमल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाटन के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त की थी। इसी परंपरा में पृथ्वीराज (ज० सं० १६०६) कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' भी उल्लेखनीय है। यह एक खण्डकाव्य है जिसमें श्री कृष्ण का रूक्मिणी के साथ प्रेम-प्रणय आदि का सुन्दर वर्णन है। बूंदी-निवासी सूर्यमल्ल मिश्र (ज० सं० १७७२) कृत 'वीर सतसई' वीर रस का एक उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। इसकी रचना दोहों में हुई है।

(६) वीर-गाथा-परंपरा से भिन्न रचनाएँ—वीर-गाथा की परंपरा समाप्त होते-होते हमें ऐसे कवि मिलते हैं जिनकी रचनाएँ न तो भाषा की दृष्टि से उसके अन्तर्गत आती हैं और न विषय की दृष्टि से। उनमें से एक तो हैं अमीरखुसरो और दूसरे हैं विद्यापति। अमीरखुसरो (सं० १३१०-८१) फ़ारसी के विद्वान और अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने ग़यासउद्दीन बलबन (सं० १३२३-४३) से अलाउद्दीन खिजली (सं० १३५३-७३) और कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (सं० १३७३-७७) तक कई पठान बादशाहों का शासन-काल देखा था। वह बड़े विनोदी, हास्य-प्रिय और सहृदय थे। उनका वास्तविक नाम अबुलहसन था और

उनका जन्म एटा जिले के पटियाली गाँव में सं० १३१० में हुआ था। वह निज़ामउद्दीन औलिया (सं० १२६५-१३८१) के शिष्य थे। फ़ारसी के अतिरिक्त हिन्दी की बोलचाल की भाषा में भी उनकी रचनाएँ मिलती हैं जिनका हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व है। उन्होंने अपनी रचनाओं में जहाँ जनता के मनोरंजन के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्री प्रस्तुत की है, वहाँ उनमें अपभ्रंश-मिश्रित भाषा और डिंगल भाषा के स्थान पर खड़ीबोली और ब्रजभाषा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय तथा इस्लामी संस्कृतियों के समन्वय और लोक भावनाओं के चित्रण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ वेजोड़ हैं। उनके दो सखुने, उनकी मुकरियाँ, उनकी पहेलियाँ, उनके दोहे और उनके गीत हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। उदाहरण लीजिए :—

### दो सखुने

'सितार क्यों न बजा ? औरत क्यों न नहाई ?' उ० परदा न था।
'पंडित प्यासा क्यों ? गधा उदासा क्यों ?' उ० लोटा न था।

### पहेलियाँ

'एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में पैठी॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो उसके बल बल जाय॥' उ० पायजामा

### मुकरी

'मेरा मोसे सिंगार करावत। आगे बैठ के मान बढ़ावत॥
वासे चिक्कन न कोऊ दीसा। ऐ सखि ! साजन, ना सखि, सीसा॥'

### दोहा

'उज्ज्वल वरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान॥'

मैथिल-कवि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) तिरहुत के राजा शिवसिंह (सं० १४६६) के मित्र थे। उन्होंने मैथिली में जयदेव (सं० १२३६-६२) कृत 'गीत गोविन्द' की शैली में अपने पदों की रचना की है। इन पदों

में राधा-कृष्ण-संबंधी भौतिक शृङ्गार का पक्ष अधिक है और अनुभूतियों की अभिव्यक्तीकरण की अपेक्षा काव्य-चमत्कार की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से दिखाई देता है। इसलिए बहुत से आलोचक उन्हें भक्त न कहकर शृंगारी कवि कहते हैं। बोलचाल की मैथिली के अतिरिक्त प्राकृताभास पुरानी काव्यभाषा में भी उन्होने रचनाएँ की हैं और 'देसील वयना सब जन मिट्ठा। ते तैंसन जंपओं अवट्ठा॥' कहकर अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित भाषा को 'देशीभाषा' की संज्ञा दी है। उनकी मैथिल भाषा का एक उदाहरण लीजिए :—

'सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुख से दूरि कर चीरे॥
तोहर बदन सम चांद होअथि नहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥
लोचन तुअ कमल नहिं भै एक, से जग के नहिं जानै।
से फिरि जाय लुकैलन्ह जल भएँ, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुनु वर जोबित ई सभ लछमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन 'लखिमादेइ' प्रति भाने॥'

**वीर-गाथा-साहित्य की विशेषताएँ**—यहाँ तक देशभाषा-साहित्य का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उस पर ध्यान देने से उसकी निम्नांकित विशेषताएँ मिलती है :—

(१) उसमें हिन्दी-भाषा के विकास का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त सामग्री है और इस दृष्टि से भाषा-विज्ञान के लिए उसका विशेष महत्त्व है।

(२) उसमें समय के अनुरूप साहित्य है जिससे उत्तरी भारत और विशेषतः राजपूताना की ही राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए उसका क्षेत्र संकुचित है।

(३) उसमें वीर और शृंगार रसों का प्राधान्य है। कवियों ने प्रायः

अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा में जो रचनाएँ की हैं उनमें उन्होंने उनके युद्धों, आखेटों और उनके विवाहो का सजीव वर्णन किया है। साथ ही यह भी लक्षित होता है कि तत्कालीन कवियों के हृदय में अपने आश्रय-दाताओं के प्रति श्रद्धा नहीं थी, इसलिए उनकी रचनाएँ अनुभूतियों से शून्य हैं। उनका कोई आदर्श नहीं था। सामाजिक भावना से वे उत्प्रेरित नही थे। युद्धो के वर्णन में ही वे विशेष कुशल थे।

(४) उसमें विषय की दृष्टि से ओजमयी भाषा होने पर भी कल्पना का इतना अधिक प्राचुर्य है कि इतिहास की रक्षा नही हो सकी है।

(५) उसमें वीर भावना का अत्यन्त संकुचित रूप है। राष्ट्र के व्यापक हित का उसमें समावेश नहीं हो पाया है। वीरों के चरित्र-चित्रण में कवियो ने प्रायः उनकी वैयक्तिक रुचियो अर्थात् युद्ध और प्रेम का ही ध्यान रखा है। इसलिए उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो पाया है। वीर-रस के अन्तर्गत भी केवल युद्ध-वीर मिलते हैं; दान-वीर, सत्य-वीर अथवा धर्म-वीर एक भी नहीं है।

---

# ५. हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काल

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का पूर्व-मध्य काल सं० १३७६ से सं० १७०० तक माना जाता है। वीर-गाथा-काल के अंतिम वीर राणा हम्मीर थे जो सं० १३५६ में मुसलमानों-द्वारा रणथम्भोर पर आक्रमण के समय मारे गए थे। सं० १३६० में चित्तौड़ भी पराजित हुआ। इस प्रकार सं० १३६२ तक संपूर्ण उत्तरी भारत और अगले छः-सात वर्षों मे अर्थात् सं० १३६६ तक दक्षिण भारत का अधिकांश अलाउद्दीन खिलजी के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। ऐसी परिस्थिति मे हिन्दू अत्यन्त साहसहीन हो गये। केन्द्रीय शासन की ओर से उनकी रहन-सहन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिए गये। उनकी आर्थिक स्थिति को नष्ट करने की भी चेष्टा की गयी। उनके देव-मंदिर गिराए गये, उनकी देव-मूर्त्तियाँ तोड़ी गयीं, उनके तीर्थ-स्थान नष्ट-भ्रष्ट किए गये। खिलजी-वंश (सं० १३४७ ७७) के पश्चात् तुग़लक-वंश के शासन-काल (सं० १३७७-१४६६) में मुहम्मद तुग़लक (सं० १३८२-१४०८) की मूर्खतापूर्ण शासन-नीति, प्रान्तीय शासकों के विद्रोह, दुर्भिक्ष, महामारी, उल्माओं की असहिष्णुता, फीरोज़ तुग़लक (स० १४०८-४५) की धार्मिक कट्टरता और अन्त में तैमूरलग (ज० सं० १३६२) के आसुरी आक्रमण (सं० १४५५) ने हिन्दू-जनता को और भी क्षुब्ध, त्रस्त एवं आतंकित कर दिया। वह अपने परित्राण और अपने उद्धार के लिए सब कुछ कर चुकी थी, पर उसे कहीं भी सफलता नहीं मिली। जीवन के संघर्ष में परत्रस्त मनुष्य जिस प्रकार भाग्यवादी बन कर भगवान् की कृपा का अभिलाषी बन जाता है, कुछ वैसी ही दशा उस समय हिन्दू जाति की थी। और सच पूछिये तो मुसलमान भी अपने जीवन से कुछ ऊबे हुए-से थे। शासक-वर्ग को छोडकर साधारण मुसलिम-समाज न तो युद्ध-प्रिय था और न

भक्ति-काल की पीठिका

असहिष्णु। वह यह अनुभव कर चुका था कि उसने अन्य देशों में जैसी धार्मिक सफलता प्राप्त की थी वैसी सफलता भारत में प्राप्त करना असम्भव है। वह यह भी समझता था कि उसे भारत ही में रहना है और हिन्दुओं के साथ मिल-जुल कर रहना है। इसलिए उसमें धीरे-धीरे समन्वय की, अपनी संस्कृति को हिन्दुओं की संस्कृति के संपर्क में लाने की, भावना उत्पन्न होती जा रही थी। वर्ण-व्यवस्था के कठोर नियमों-द्वारा उत्पीड़ित हिन्दू-समाज का निम्न स्तर भी अपनी सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक हीनता के कारण इसी भावना से प्रभावित था। उसमें भी भेद-भाव भुलाकर निर्वाण-पद प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होती जा रही थी। उसे जहाँ अपने धर्म के प्रति श्रद्धा थी, वहाँ उसे इस्लाम धर्म के प्रति भी आकर्षण था। परन्तु उच्च स्तर के हिन्दू और मुसलिम समाज अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तो पर आरुढ़ थे। एक पर उसके आचार्यों का प्रभाव था तो दूसरे पर उसके मुल्लाओं और उल्माओं का। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से उस समय हिन्दू और मुसलिम-समाज दोनों दो वर्गों में विभाजित थे : (१) समन्वय की भावना से प्रभावित निम्न वर्ग और (२) धर्म के शास्त्रीय विधि-विधानों से प्रभावित उच्च वर्ग। पहला वर्ग अन्य धर्मों, मतों, संप्रदायो और संस्कृतियों के प्रति सहनशील था; दूसरा वर्ग अपने प्राचीन आचार-विचारों से चिपटे रहकर स्थिति के अनुकूल अपनी धर्म-साधना का विकास चाहता था। हिन्दी-साहित्य में भक्ति-भावना का विकास ऐसे ही वातावरण में हुआ। इसलिए हम इस काल को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल कहते हैं।

भक्ति-काल में धार्मिक भावना का विकास

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के एक विशिष्ट काल को भक्ति-काल कहने से दो प्रश्न उठते हैं—एक तो यह कि क्या उसके पूर्व भक्ति-भावना का सर्वथा अभाव था? और दूसरा यह कि क्या हिन्दू-जाति की पराजय के साथ-साथ ही हिन्दी साहित्य में उसका प्रवर्तन हुआ है? ऐतिहासिक दृष्टि से छान-बीन करने पर उक्त दोनो प्रश्न भ्रमात्मक सिद्ध होते हैं। चीनी-यात्री हुएनत्सांग (सं० ६८६-७०२) के भारत-यात्रा-विवरण से

पता चलता है कि जब हर्षवर्द्धन के समय (सं० ६६३-७०४) में उत्तर प्रदेश, विहार, बंगाल, आसाम और नेपाल की जनता बौद्ध-धर्म की हीनयान शाखा से अधिक प्रभावित थी तब इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद (सं० ६२७-८६) का जन्म ही हुआ था। आगे के प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभ में भारत-वर्ष से हीनयान का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। जगतगुरु शंकराचार्य (सं० ८४५-७७) और कुमारिल भट्ट (स० ७५७ में वर्तमान) आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्यों के प्रयत्न से जब हिन्दू-समाज में वैदिक-धर्म की पुनः स्थापना हुई तब बुद्धि-जीवियों और उच्च स्तर के लोगों के मन पर से तो बौद्ध-धर्म के प्रति आस्था उठ गयी थी, पर निम्न स्तर के लोगों में उसके प्रति विश्वास बना था। आठवीं-नवीं शताब्दी में मत्रयान, वज्रयान और सहज-यान आदि उसके विकृत रूप तंत्र, मंत्र, जादू, टोना आदि से निम्न स्तर के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास इन्हीं 'यानों' के भग्नावशेष पर नाथ-पथ का प्रवर्तन हुआ। नाथ-पंथ के प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ थे जिनकी गणना वज्रयान के ८४ सिद्धों में होती थी। उन्होंने राजपूताना और पंजाब में अपने 'हठयोग' का प्रचार किया। उनका प्रचार-कार्य भी हिन्दू-समाज के निम्न स्तर के लोगों तक ही सीमित रहा। वज्रयानी सिद्धों की भाँति वह और उनके शिष्य भी अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित जन-समूह को ही मंत्र, तंत्र और वाह्य उपचारों में उलझाते रहे। कर्म, ज्ञान और भक्ति,इन तीनों के सामंजस्य से धर्म का जो वास्तविक स्वरूप निखरता है वह उनकी साधना में नहीं था। इसीलिए शास्त्रज्ञ विद्वानों पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। शास्त्रज्ञ विद्वान ब्राह्मण-धर्म से प्रभावित थे, पर उनका भी प्रत्यक्ष जीवन से विशेष सम्बन्ध नहीं था। शंकराचार्य से प्रेरणा पाकर दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी मे उनका जितना ध्यान पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थो की टीकाएँ करने और उनके भाष्य प्रस्तुत करने की ओर था उतना ब्राह्मण-धर्म को लोक-जीवन के संपर्क मे लाने की ओर नहीं था। उनकी टीकाओं का प्रचार अवश्य हुआ जिसके फलस्वरूप ऐसी बहुत-सी जातियाँ

ब्राह्मण-धर्म में दीक्षित हो गयीं जो बौद्ध-प्रभाव के अन्तर्गत होते हुए भी अपने आचार-विचार में स्वतंत्र थीं। इन जातियो के समावेश से ऐसे बहुत से व्रत, पूजा, पर्व आदि ब्राह्मण-धर्म में सम्मिलित हो गये जिनकी प्राचीन धर्म-ग्रंथों में कोई व्यवस्था नहीं थी। ऐसी दशा मे उन सब को भी ऋषियों के नाम पर लिखे गए स्मृति और पुराण-ग्रथों में स्थान देना पडा और सिद्धों और नाथ-पंथियों की भाँति विवश होकर लोक-जीवन की ओर झुकना पडा। अन्तर केवल इतना ही था कि जहाँ सिद्ध और नाथ-पंथी हिन्दू-समाज के निम्न स्तर की ओर झुके थे, वहाँ पंडितों का झुकाव उसके उच्च स्तर की ओर था। निम्नस्तर के लोगो में नाथ-पंथियो ने जिस धार्मिक भावना का विकास किया था उसका संबंध 'एकेश्वरवाद' से था। भारतीय धर्म-साधना की दृष्टि से उनका 'एकेश्वरवाद' कोई नवीन मतवाद नहीं था, पर देश की नयी परिस्थिति में उसे विशेष प्रोत्साहन मिला। हिन्दू और मुसलमान दोनो उसकी ओर आकृष्ट हुए और आगे चलकर हिन्दी साहित्य में वही निर्गुण धारा के रूप में परिवर्तित हो गया।

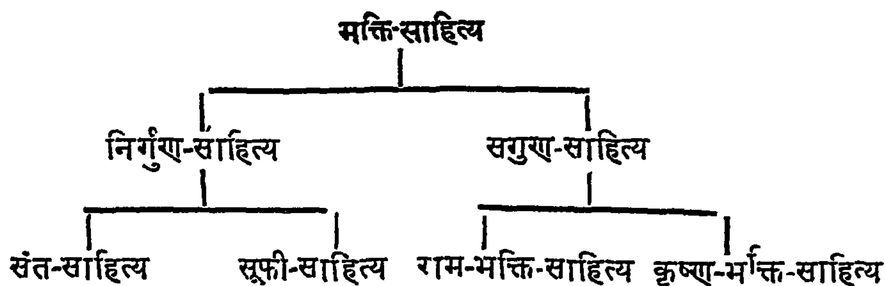
स्मार्त-पंडितों का लोक-जीवन के साथ जो सम्पर्क स्थापित हुआ उसने 'सगुणवाद' की प्रतिष्ठा की। 'एकेश्वरवाद' की भाँति 'सगुणवाद' भी प्राचीन भारतीय धर्म-साधना का एक अङ्ग था, पर गुप्त-काल (सं० ३३२-६५०) के पश्चात् उसका प्रचार दक्षिण भारत के आडवार भक्तों में हुआ जिनका समय दसवीं शताब्दी तक माना जाता है। आडवार भक्तो के अनन्तर इसका प्रचार करनेवाले भक्त 'आचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आचार्यों में सर्वप्रथम रघुनाथाचार्य (दसवीं शताब्दी), यामुनाचार्य (सं० ६७३-१०६७) और रामानुजाचार्य (सं० १०८४-११६४) हुए। रामानुजाचार्य ने दक्षिण के आडावर-भक्तों के धर्म-ग्रन्थ 'प्रबन्धन' का अध्ययन किया और शङ्कराचार्य (सं० ८४५-७७) के अद्वैतवाद की तुलना में विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठाकर 'श्री संप्रदाय' का प्रवर्तन किया। उन्होंने मीमांसको के 'कर्मकांड' और शकराद्वैतवादियो के 'ज्ञानकांड' का अनेक युक्तियो से खंडन किया और अपने 'भक्तिकांड' के अनुसार विष्णु भगवान

की आराधना का प्रचार किया। इसके लिए उन्होंने उच्च वर्णों के अतिरिक्त शूद्रों को भी योग्य ठहराया। उनके पश्चात् **निम्बकाचार्य** (सं० ११७१-१२१६) ने अपने द्वैताद्वैत के आधार पर राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रतिपादन किया और 'सनक सम्प्रदाय' की स्थापना की। **मध्वाचार्य** (सं० १२५४-१३३३) ने अपने द्वैतवाद के अनुसार भक्ति को अन्तिम निष्ठा का पद प्रदान किया और 'ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की। **वल्लभाचार्य** (सं० १५३६-८७) ने अपने शुद्धाद्वैत के अनुसार 'पुष्टि मार्ग' को जन्म दिया। इसी प्रकार बङ्गाल के **चैतन्यदेव** (सं० १५४-२६०) ने 'अचिन्त्य भेदाभेद' के अनुसार 'रागानुगा भक्ति' का प्रचार किया। तात्पर्य यह कि इन आचार्यों ने भक्ति की जो धारा प्रवाहित की उसने प्रायः सम्पूर्ण भारत की जनता को रस-मग्न कर दिया। हिन्दी-साहित्य में भक्ति की इस धारा का प्रवेश अत्यन्त स्वाभाविक और स्वतन्त्र ढङ्ग से हुआ; देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में उसका अभ्युदय नहीं हुआ। मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमणों के पहले से उत्तरी भारत में बौद्ध-धर्म और ब्राह्मण-धर्म का जो विकास हो रहा था उसी ने हिन्दी-साहित्य में क्रमशः (१) निर्गुण-धारा और (२) सगुण-धारा का रूप धारण किया।

**निर्गुण-धारा** के अन्तर्गत साधकों की दो टोलियाँ थीं—**एक टोली** में उन साधकों की गणना होती थी जो भारतीय धर्म-साधना से प्रेरणा पाकर भी स्वतन्त्र रूप से अपनी व्यक्तिगत साधना में लगे हुए थे और **दूसरी टोली** में वे साधक आते थे जो इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत विकसित सूफी साधना से प्रेरणा पाकर एकेश्वरवाद के सिद्धांतों के अनुकूल अपनी साधना में तन्मय थे। इसी बात को यदि हम दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि हिन्दी-साहित्य में जिस निर्गुण धारा की प्रतिष्ठा हुई उसके दो रूप थे : (१) भारतीय साधना से पुष्ट निर्गुण-धारा और (२) सूफी-साधना से पुष्ट निर्गुण-धारा। इन दोनों को संक्षेप में क्रमशः **संत-मत** और **सूफी मत** कहते हैं। संत-मत के साधकों ने जहाँ अपने पूर्व के सिद्धों और नाथ-पंथियों की शास्त्र-निरपेक्ष उग्र विचारधारा, रूढ़ि-विरोधिता, तर्क-वितर्क

की पद्धति, खण्डनात्मक प्रवृत्ति, अक्खड़पन, सहज शून्य की साधना, योग-पद्धति, भक्तिमूलक रचना-शैली और पारिभाषिक शब्दों को अपनाया और उनमें अपनी आत्मा का समावेश किया है, वहाँ सूफी-मत के साधकों ने अपभ्रंश की जैन-साहित्य-परम्परा से दोहा-चौपाई की शैली को अपनाकर भारतीय अद्वैतवाद और इस्लामी एकेश्वरवाद के समन्वय के आधार पर रहस्यात्मक प्रेमाख्यान काव्य की सृष्टि की है।

सगुण-धारा के अन्तर्गत भक्ति-भावना का जो विकास हुआ था उसके साधको की भी दो टोलियाँ मिलती हैं—एक टोली तो उन साधको की है जिन्होंने दशरथ-पुत्र राम को विष्णु का अवतार मानकर अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया है और दूसरी टोली में वे साधक आते हैं जो कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनकी उपासना करते हैं। राम-भक्ति में मर्यादा का और कृष्ण-भक्ति में माधुर्य-भाव का प्राधान्य है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल के अन्तर्गत कई प्रकार की भक्ति का विकास हुआ है। सुविधा की दृष्टि से इसके भक्ति-प्रवाह को हम निम्न चित्र-द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :—



# ६. संत-काव्य का विकास

हिन्दी-साहित्य में निर्गुण-धारा से संबंधित साहित्य को संत-साहित्य अथवा संत-काव्य कहा जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी (ज० सं० १९५१) ने अपनी 'पुस्तक उत्तरी भारत की संत-परम्परा' (सं० २००७) में 'संत' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'संत शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्त्व' मात्र का बोधक है और इसका प्रयोग, इसी कारण, उस नित्य वस्तु वा परमतत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका नाश कभी नहीं होता, जो सदा 'एक रस' व अविकृत रुप में विद्यमान रहा करता है और जिसे 'संत' के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।' परन्तु ऐसा लगता है कि आगे चलकर 'सत' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से केवल उन लोगों के लिए ही होने लगा था जो 'वारकरी संप्रदाय' के प्रधान प्रचारक थे और जिनकी साधना निर्गुण-भक्ति के आधार पर चली थी। इन भक्तों में **ज्ञानदेव** (सं० १३३२-५३), **नामदेव** (सं० १३२७-१४०७), **एकनाथ** (स० १५९०-१६५६) और **तुकाराम** (सं० १६६६-१७०७) आदि प्रमुख थे। उनका सम्बन्ध महाराष्ट्र प्रांत से था। उन्होंने 'संत' शब्द की व्याख्या की और अपने मत को 'संत-मत' कहा। इसलिए वे संत कहे जाने लगे। 'संत' शब्द की यह परम्परा उत्तर भारत में भी आई और उन्हीं के कोटि के साधक संत कहे जाने लगे। दक्षिण भारत के संतो की अपेक्षा उत्तर भारत के संत कम शिक्षित थे और निम्नस्तर से ही आए थे। संवभतः इसीलिए वे अपने उपदेशों-द्वारा समाज के उच्च स्तर को अधिक प्रभावित न कर सके, परन्तु अनुभूति और ज्ञान के क्षेत्र में वे उनसे कम नहीं थे। हिन्दी में उन्हीं के द्वारा 'संत-साहित्य' की प्रतिष्ठा हुई।

**'संत' शब्द का अर्थ**

संत-साहित्य कोई सर्वथा नवीन अथवा मौलिक साहित्य नही था। उसके प्रायः प्रत्येक अंश का मूल रूप हमारे प्राचीन-धर्म-ग्रंथों के किसी

न-किसी भाग में मिलता था। यह बात अवश्य थी कि वह समय के प्रभाव से उपेक्षित हो चुका था। समय-समय पर कुछ साधकों ने उसमें प्राण फूँकने की चेष्ठा की थी, पर वे अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हो सके थे। संत जयदेव (सं० १२३६-६२), संत सधना, संत लालदेव, संत वेणी, संत नामदेव (सं० १३२७-१४०७), संत ज्ञानेश्वर (सं० १३३२-५३) आदि ने प्राचीन धर्म-साधना के भग्नावशेषों पर जिस संत-मत की नींव डाली थी उसे वे अंतिम रूप न दे सके थे। उन्होंने उसकी एक मात्र प्रारंभिक रूप-रेखा ही प्रस्तुत की थी। इस प्रकार आलोच्य काल के पूर्व हमें जो संत-साहित्य मिलता है वह अपने में पूर्ण नहीं था। संत कबीर ने सर्व प्रथम इस रहस्य को पहचाना और इसके महत्त्व से प्रभावित होकर अपनी अपूर्व शैली की सहायता से सर्व-साधारण की धारणा में काया-पलट कर दिया। भारतीय संत-परंपरा को उनकी यह देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण वह हिन्दी-संत साहित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं।

संत काव्य का अभ्युदय

संत-कबीर (सं० १४५५-१५०५) काशी के एक मुसलिम जुलाहा परिवार मे उत्पन्न हुए थे। वह आरंभ से ही विरक्त थे। गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते हुए भी वह उसमे विशेष रुचि नहीं रखते थे। उनके परिवार में कुल सात प्राणी थे—वह स्वयं, उनके माता-पिता—नूरी और नीमा, उनकी दो स्त्रियाँ—लोई और धनियाँ, एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली। इन सब के भरण-पोषण का भार उन्हीं पर था। अपने व्यवसाय मे वह दक्ष थे और उससे उन्हे जो आय होती थी उसका अधिकांश तो साधु-संतो की सेवा में व्यय हो जाता था, शेष से परिवार का कार्य चलता था। इसलिए उन्हे अपने परिवार के लोगों की फटकारे भी सुननी पड़ती थीं। पर वह थे मस्त मौला! गार्हस्थ्य जीवन की झंझटों की ओर उन्होंने कभी ध्यान ही नहीं दिया! 'बारह बरस बालपन बीते, बीस बरस कछु तप न कियो' से यह अनुमान लगाया जाता है कि लगभग ३०-३२ वर्ष की अवस्था में उन्हे पूर्ण वैराग्य हुआ था। आरंभ में भिन्न-भिन्न मतों के

साधु-संतों का सत्संग करने और बाद को अपने विचारों का प्रचार करने के लिए उन्होंने झूसी, मानिकपुर, वृन्दावन, मथुरा और किसी-किसी के मतानुसार मक्का, बगदाद, समरकन्द, बुखारा आदि की भी यात्रा की थी। अपनी इन यात्राओं से उन्होंने बहुत-कुछ सीखा-समझा और फिर उसी के आधार पर उन्होंने अपनी उपासना का स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया। कहा जाता है कि वह स्वामी रामानन्द (सं० १३५६-१४६७) के शिष्य थे, पर यह बात उनकी रचनाओं से स्पष्टतः सिद्ध नहीं होती। कबीर और रामानन्द के भेंट के संबंध में जो कथा प्रचलित है उसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। कबीर ने भी स्पष्ट रूप से अपनी रचनाओं में कहीं भी अपने गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया है। रामानन्द की शिक्षाओं से वह अवश्य प्रभावित थे। 'कहु कबीर मैं सो गुरु पाया जाका नाउ विवेक रे' से यह भासित होता है कि उनका विवेक ही उनका गुरु था और उसी ने उनकी आखे खोली थीं। वह अपनी विवेक-बुद्धि पर ही विश्वास करते थे। वह सत्य के अन्वेषक थे। हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक पचड़ो में वह नहीं पड़े। उन्होने जी खोलकर उनके वाह्याडंबरों की भर्त्सना की। इससे कट्टर हिन्दू और कट्टर मुसलमान उनके विरोधी हो गये। ऐसी स्थिति में वह काशी छोड़कर मगहर चले गये जहाँ सं० १५०५ मे उनका परलोक-वास हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर का समय फीरोज तुगलक के शासन-काल (सं० १४०८-४५) से सैयद-वंश के शासन-काल (सं० १४७१-१५०४) तक माना जाता है। भारतीय इतिहास में यह समय अत्यन्त अशान्ति का समय था। उस समय चारों ओर मार-काट हो रही थी। तैमूरलंग के आसुरी आक्रमण के समय (सं० १४५५) वह लगभग ३० वर्ष के रहे होंगे। बौद्ध-सिद्ध, नाथ-पंथी, शैव, शाक्त, जैनी और वैष्णव आदि के बीच होनेवाले लड़ाई-झगड़ो से वह पहले से ही भली भाँति परिचित थे। अब उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के भीषण संघर्ष का प्रत्यक्ष अनुभव किया होगा और फिर वह पूर्ण विरक्त होगए होंगे। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकेसमय के अनुरूप

भारत के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में जिस प्रकार के समन्वयवादी व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, कबीर का व्यक्तित्व उसी प्रकार का था। पूर्ण विरक्त होने पर उन्होंने किसी एकान्त निर्जन स्थान में कुटी नहीं बनाई, अपितु गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते हुए उन्होंने अपनी अनुभूति और सहज ज्ञान के आधार पर लोगो को जातीय मत-भेदो को मिटाकर मानव-जाति में परिणत होने और सब धर्मों के ऊपर मानव-धर्म को प्रतिष्ठापित करने का उपदेश दिया। उन्होने सभी जातियों और सभी मत-मतांतरों के बाह्याडंबरो की खरी आलोचना की और उनके माननेवालो को मिल-जुलकर रहने के लिए प्रोत्साहित किया। यही उनके व्यक्तित्त्व की विशेषता थी और इसी कारण वह अपने युग के सच्चे प्रतिनिध थे।

कबीर स्वतंत्र चिन्तक थे। वह किसी बात को तबतक स्वीकार नहीं करते थे जबतक वह उनकी मानसिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी। वह सत्य के अन्वेषी थे। इसलिए उन्होने धार्मिक ग्रन्थो की बातो को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया। उन्होने जहाँ से जो कुछ पाया उसकी छानबीन करके उसे उन्होने अपना बना लिया। उनके दार्शनिक विचार उनके अपने विचार थे जिन पर उनकी स्वानुभूति की स्पष्ट छाप थी। वह साक्षर नहीं थे। धर्म के शास्त्रीय विधि-विधानों से वह परिचित नहीं थे। ऐसी दशा में वह अपने दार्शनिक विचारों को उस रूप में अंकित न कर सके जिस रूप में वे शास्त्रीय ग्रंथों में मिलते हैं। उनकी रचनाओं में उनके दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं जिनमें हमें तीन तत्त्वो (१) परमतत्त्व, (२) जीवतत्त्व और (३) मायातत्त्व की प्रधानता मिलती है। उनके **परमतत्त्व** पर उपनिषद के ब्रह्मवाद का प्रभाव है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है और उसके अनिर्वचनीय रूप को ही अपना उपास्य माना है। उसका कोई नाम नहीं, कोई स्थान नही, कोई रूप नही। वह घट-घट व्यापी और कल्पनातीत है। वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं है, वह नाम-रूप से परे है। वह निराकार है, निर्गुण है और निर्गुण-सगुण से परे भी है। वह कैसा है, वही जानता है।

'वो है जैसा वोही जानै। ओही आहि, आहि नहिं आनै ॥'

× × ×

'अवगति की गति क्या कहूँ, जाकर गांव न नांव।
गुन बिहून का पेखिये, काकर धरिए नांव ॥'

× × ×

'अलख निरंजन लखै न कोई। निर्भय निराकार है सोई ॥'

ऐसा है कबीर का परमतत्त्व जो अपनी इच्छा से सृष्टि कर्ता के रूप में अपनी सृष्टि के भीतर प्रतिबिंबित हो रहा है। वह कर्ता भी है और कृति भी। अपनी कृति में वह स्वयं ओतप्रोत है। वह जब चाहता है तब अपनी कृति अपने में समेट लेता है :—

'आपन करता भये कुलाला। बहु विधि श्रृष्टि रची दर हाला ॥
विधना कुंभ किये द्वै थांना। प्रतिबिंब ता माहिं समाना ॥'

× × ×

'जिन नटवर नटसारी साजी। जो खेलै सो दीसै बाजी ॥'

× × ×

'बाजीगर डंक बजाई। सब खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला ॥'

सृष्टि-कर्ता के रूप में ही वह माता, पिता, पति, स्वामी आदि है और हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख, राम, खुदा, अल्लाह आदि उसके अनेक नाम हैं। उसके विराट रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुवेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या आदि सब एक साथ समाहित हो जाते हैं।

कबीर के दार्शनिक विचारों में दूसरा तत्त्व है जीवतत्त्व जो उनके परमतत्त्व का ही अंश है। उन्होंने परमात्मा और जीवात्मा में कोई भेद नहीं माना है। 'खालिकु खलक, खलक माहिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं' कहकर उन्होंने हरि में पिण्ड और पिण्ड में हरि के अस्तित्त्व का समर्थन किया है। वह यह भी कहते हैं कि इस शरीर के भीतर समझी जानेवाली

आत्मा मनुष्य, देव, योगी, यती, अवधूत, माता, पिता, पुत्र, गृही, दासा, स्वामी कुछ भी नहीं है। 'कहै कबीर इहि राम को अंसु। जस कागद पर मिटै न मसु।' से यह स्पष्ट है कि उन्होंने आत्मा को परमतत्त्व का अंश-मात्र माना है जो उसीकी भाति अजर, अमर और अविनाशी है। जीवतत्त्व और परमतत्त्व में विभिन्नता का अनुभव करनेवालों को उन्होने फटकारा है और कहा है:—

'कहै कबीर तुरक दुई साधै, तिन की मति है मोटी।'

परन्तु साधारण लोगों की दृष्टि से ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसका मूल कारण है माया। माया भी उसी परमतत्त्व की कृति है। 'सत्त, रज, तम थै कीन्हीं माया। आपन मांझ आप छिपाया' से यह भासित होता है कि वह त्रिगुणात्मक है और 'उपजै बिनसै जेती सर्व माया' के अनुसार वह परिवर्तन शील भी है। उसके दो रूप हैं : (१) सत्य माया और (२) मिथ्या माया। सत्य माया परमतत्त्व की प्राप्ति में सहायक होती है, पर वह मानव-संसर्ग से मिथ्या माया में परिणत होकर दुःख का कारण बन जात है। नारी सत्य माया है, पर माता, बहन, चाची, नानी, मौसी, दादी, पत्नी, आदि मिथ्या माया के रूप हैं और यही मानव-कल्याण में बाधक हैं। कबीर ने मिथ्या माया की ही निन्दा की है और इससे बचने के लिए उन्होंने सहज योग की प्रतिष्ठा की है। सहज योग का साधारण अर्थ है, मन को स्वाभाविक ढंगसे ऐसी स्थिति में डाल देना जहाँ उसकी चचलता नष्ट हो जाय और फिर उसका पराभव न हो सके। निर्गुण ब्रह्म की समाधि के विषय में मुसलमानो का मार्ग कबीर त्याग चुके थे और हिन्दुओं के कर्म-काण्ड से भी वह अलग हो गए थे। प्रतिदिन के जीवन के साथ वह चरम साधना का विरोध कहीं भी नहीं चाहते थे। इसलिए इन दोनों के सुन्दर समन्वय में ही उन्होंने अपनी साधना का पथ खोजा था और वही उनका 'सहज योग' था। उनके 'सहज योग' में राम-नाम की साधना का महत्त्व था। वह कहते हैं :—

'सहजैं राम-नाम ल्यौ लाई। राम-नाम कह भगति दिढ़ाई॥
राम-नाम जाका मन माना। तिन तौ निज सरूप पहिचाना॥'

यहाँ 'राम' से कबीर का तात्पर्य दशरथ-सुत से नहीं है। 'दशरथ-सुत तिहुँलोक बखाना। राम-नाम का मरम है आना॥' और 'निर्गुण राम, निर्गुण राम जपहु रे भाई।' कह कर उन्होंने निर्गुण उपासना पर ही बल दिया है जिसमें 'राम-नाम-जप' का विशेष महत्त्व है। ज्ञान के प्रकाश में माया रूपी अंधकार दूर हो जाता है और 'राम-नाम-जप' से भगवान के प्रति भक्ति दृढ़ हो जाती है। इसलिए कबीर की साधना में ज्ञान और भक्ति दोनों का महत्त्व था और वह ज्ञानी भक्त कहे जाते हैं।

कबीर अपने समय के उच्च कोटि के संत और खरे आलोचक थे। उन्हें अपनी साधना और उपासना में विश्वास था। इसलिए वह जो कुछ कहते थे, आत्मविश्वास के साथ कहते थे। किसी मत, सम्प्रदाय अथवा समाज के प्रति उनमें द्वेष की भावना नहीं थी। उनमें अपनी साधना का गर्व भी नहीं था। मुसलमान होने पर भी उन्होंने इस्लाम-धर्म के वाह्याडम्बरों की ही खिल्ली उड़ाई और हिन्दू-मत-मतांतरों की खरी आलोचना की। उनकी रचनाओं में हमें उनके कई प्रकार के विचार मिलते हैं जिन्हें हम मुख्यतः चार भागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) प्रताड़न-प्रधान रचनाएँ, (२) उपदेश-प्रधान रचनाएँ, (३) दार्शनिक विचार-प्रधान रचनाएँ और (४) अनुभूति-प्रधान रचनाएँ। उनकी प्रताड़न-संबंधी रचनाओं में जाति-पाँति के कृत्रिम भेद-भावों और धार्मिक पाखंडों की तीव्र आलोचना है; उपदेश संबंधी रचनाओं में गुरु-महिमा, साधुओं के लक्षण, सत्संग-महिमा, शुद्ध आचरण आदि का वर्णन है और दार्शनिक-प्रधान रचनाओं में परमतत्त्व, जीवतत्त्व तथा मायातत्त्व की व्याख्या है। इनके अतिरिक्त उनकी अनुभूति-प्रधान रचनाएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं जिनमें उन्होंने अपने आप को 'पत्नी' और अपने परमतत्त्व को 'पति' रूप में चित्रित करके भारतीय रहस्य-भावना के अनुकूल अपने उपास्य के साथ प्रेम-संबंध स्थापित किया है।

कबीर की रचनाएँ 'बीजक' में संग्रहीत हैं जिसके तीन भाग हैं : (१) रमैनी, (२) सबद और (३) साखी। रमैनी में चौपाइयाँ, सबद में पद

और साखी में दोहे हैं। उनकी शैली में राग-रागिनियो की सरसता के साथ-साथ सरलता, सुबोधता और स्पष्टता है। वह किसी बात को न तो घुमा-फिराकर कहते हैं और न सबसे एक साथ कहते हैं। हिन्दू-शास्त्रों की बात पंडितों से, इस्लाम-धर्म की बात शेख़ और मुल्लाओं से, योग की बात योगियो से और शैव-मत की बात शैवों से कहते हैं। उनकी तर्क-शैली उनकी अपनी शैली है। उनकी रचनाओ में रस, अलंकार, छन्द सब स्वाभाविक रूप से आए हैं। उनकी समासोक्तियाँ, उनकी उलटबाँसियाँ, उनकी अन्योक्तियाँ, उनकी साखियाँ, उनके सबद, उनकी बानी, उनकी रमैनी आदि सब उनकी शैली के विविध नमूने हैं।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे। ऐसी दशा में संभवतः उनके शिष्यों ने ही उनकी रचनाओ को लिपिबद्ध किया होगा और उनका प्रचार करते समय उन पर अपनी भाषा का भी रंग चढ़ा दिया होगा। उनकी जो रचनाएँ पंजाब, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में पहुँची होंगी उनपर वहाँ के श्रद्धालुओं ने भी अपनी बोली का पुट दे दिया होगा जिससे उनमें मूल क्रियापद और कारक-चिह्न परिवर्तित हो गए होंगे। जो भी हो, भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं के संबंध में अनेक मत हैं। ध्यान से देखने पर उनकी भाषा अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, पंजाबी, राजस्थानी, खड़ीबोली और फ़ारसी से प्रभावित है। इसलिए किसी ने उसे 'सधुक्कड़ी' और किसी ने उसे 'पूर्वी' कहा है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि यही उस समय की सामान्य भाषा थी। इस प्रकार कबीर की भाषा के संबंध में किसी का निश्चित मत नहीं है।

कबीर ने किसी पंथ अथवा संप्रदाय की स्थापना नहीं की। उन्होंने जिस ढंग से अपनी साधना का मार्ग निश्चित किया था उसी ढंग से अपनी-अपनी साधना का मार्ग निश्चित करने के लिए वह लोगों को उपदेश देते थे। परन्तु उनकी परंपरा में अन्य जितने संत हुए उनमें से प्रायः सबने अपने-अपने पंथ अथवा सम्प्रदाय स्थापित किये जिनमें साधना-भेद भी पाया जाता है। यह परंपरा

**संत काव्य का विकास**

कबीर के पश्चात् से आरंभ होकर वर्तमान युग में महात्मा गांधी तक आती है जिसमें अनेक पंथ और सम्प्रदाय मिलते हैं। इतने लम्बे समय के संत-साहित्य को हम दो कालो में विभाजित कर सकते हैं : (१) कबीर के समसामयिक संत ( सं० १४००-१५५० ) और (२) पंथ-निर्माण करनेवाले संत (सं० १५५१-१६५०)। कबीर के समसामयिक संतों में स्वामी रामानन्द की शिष्य-परंपरा के संत सेननाई, पीपाजी, रैदास आदि और सत कमाल की गणना की जाती है। इन संतो ने किसी पंथ की स्थापना नहीं की। पर इनके पश्चात् सं० १५५१ से अबतक कई ऐसे संत मिलते हैं जिन्होंने अपने-अपने पंथ स्थापित किए हैं। इस दिशा में सबसे पहले कबीर के शिष्यो का नाम आता है जिन्होंने कबीर-पंथ की स्थापना की। कबीर-पंथ की तीन प्रमुख शाखाएँ हैं : (१) काशी-शाखा जिसके प्रवर्तक सुरत गोपाल, (२) छत्तीसगढ़ी-शाखा जिसके प्रवर्तक धर्मदास (सं० १४७५-१६००) और (३) धनौती-शाखा जिसके प्रवर्तक भगवान् गोसाईं माने जाते हैं।

नानक-पंथ अथवा सिख-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९५) थे। वह जाति के खत्री थे और पंजाब में राई भोई की तलवंडी नामक गाँव में उत्पन्न हुए थे। आरंभ से ही उनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर थी। समय पाकर जब उनकी इस प्रवृत्ति में प्रौढ़ता आई तब उन्होंने कबीर से प्रभावित होकर नानक-पंथ को जन्म दिया। उनकी रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संगृहीत हैं। उनकी परंपरा में गुरुमुखी लिपि के प्रचारक गुरू अंगद ( सं० १५६१-१६०९ ), लंगर-प्रथा के प्रवर्तक गुरु अमरदास (सं० १५३६-१६३१), गुरु रामदास (सं० १५९१-३८), गुरु अर्जुनदेव (सं० १६२०-६३), गुरु हरगोविन्द (सं०१६५२-१७०१), गुरु हरराय (सं० १६८७-१७१८), गुरु हरकृष्ण राय (स० १७१३-१७२१), गुरु तेगबहादुर (सं० १६७९-१७३२) और गुरु गोबिन्द सिंह (सं० १७२३-६५) को लेकर दस गुरु हुए। गुरु गोबिन्द सिंह के पश्चात् गुरु-परंपरा समाप्त हो गयी और 'गुरु ग्रंथ साहब' की गुरु के रूप में प्रतिष्ठा हुई। पांचवें गुरु अर्जुनदेव तक नानक-पंथ में विशेष परिवर्तन नही हुए, परन्तु उनके समय

में उनके शत्रुओं के प्रपंच के कारण कुछ ऐसी घटनाएँ हो गयीं कि गुरु हरगोबिन्द को विवश होकर अपनी कमर मे तलवार बांधनी पडी और सिख-धर्म एक नए रूप में परिणत हो गया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो के कारण उसमे वीर भाव की भी प्रतिष्ठा हुई और सिख-गुरुओं को अपने समय के मुग़ल-सम्राटों से युद्ध करना पड़ा। गुरु गोविन्द के समय में खालसा-सम्प्रदाय (सं० १७५६) की नीव पड़ी जिसके अनुसार सिखों के लिए 'पंच-ककार' अर्थात् कृपाण, कंघा, कच्छ, केश और कड़ा धारण करना अनिवार्य हो गया। खालसा-संप्रदाय में दीक्षित सिख 'खालसा' कहे जाते हैं। गार्हस्थ्य जीवन और एकेश्वरवाद में उनका विश्वास है। मूर्ति-पूजा और जाति-पांति में उनका विश्वास नहीं है। 'गुरु ग्रंथ साहब' में अनेक संतो और सिख-गुरुओं की जो रचनाएँ संगृहीत है उनमें ब्रह्म, माया, नाम, गुरु, आत्मज्ञान, भक्ति, नश्वरता आदि आध्यात्मिक विषयो का वर्णन मिलता हैं। गुरु नानक-कृत 'जपुजी', 'आसा दी वार', 'रहिरास' और 'सोहिला' का पाठ सब सिख करते हैं। सिख-सम्प्रदाय के अन्तर्गत गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द-द्वारा स्थापित 'उदासी-संप्रदाय', वीरसिंह-द्वारा स्थापित 'निर्मला-संप्रदाय', रामसिंह-द्वारा स्थापित 'नामधारी-संप्रदाय', सुथराशाह-द्वारा स्थापित 'सुथराशाही-संप्रदाय', कन्हैया-द्वारा स्थापित 'सेवापंथी-संप्रदाय', मानसिंह-द्वारा स्थापित 'अकाली संप्रदाय', आदि अनेक संप्रदाय मिलते हैं।

दादू-पंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल (सं० १६०१-६०) थे। वह मुगल-सम्राट अकबर (सं० १५६६-१६६२) के समकालीन थे। उनके जन्म-स्थान के संबंध में बहुत मत-भेद है। कोई उन्हें अहमदाबाद का और कोई उन्हें जौनपुर का बताता है। परन्तु यह निश्चित है कि वह मुसलमान थे और उनका पूर्व नाम दाऊद था। उन्होंने बड़ी-बड़ी यात्राएँ की थीं और अनेक प्रकार के साधु-संतों से भेंट की थी। अपनी यात्रा से लौटकर उन्होंने साँभर को अपना निवास-स्थान (सं० १६३०) बनाया और वही से अपने संप्रदाय का, जिसे दादू-संप्रदाय कहते हैं, प्रचार करना आरंभ किया। वहाँ

छः वर्ष रहने के पश्चात् वह आमेर चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई। उनकी शिष्य-परंपरा में रज्जबजी (सं० १६२४-१७४६), संत सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६), और दादू दयाल के पुत्र सत गरीबदास (सं०१६३२-६३) प्रमुख हैं। इन संतों ने अपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी हिन्दी में अनेक रचनाएँ की हैं जिन पर कबीर के दार्शनिक विचारों का प्रभाव है। दादू ने अपने परमतत्त्व को 'शून्य', 'परमपद', 'निर्वाण' जैसे नामो से अभिहित किया है और उसका स्वरूप प्रेम एवं सहजमय बताया है। उनकी साधना भी स्वानुभूति पर आश्रित है, पर वह न तो कबीर थे और न नानक। कबीर की आस्था आत्म-प्रत्यय के प्रति थी और वह अपनी साधना में स्वतंत्रता और निर्भीकता को विशेष महत्त्व देते थे; नानक की आस्था आत्म-विकास में थी और वह अपनी साधना में समन्वय एवं एकता पर बल देते थे, पर दादू की आस्था आत्मोत्सर्ग मे थी और वह अपनी साधना मे प्रेम एवं सेवा को महत्त्व देते थे। इसलिए उनके पंथ का अच्छा प्रचार हुआ। इसके अन्तर्गत खालसा, नागा, विरक्त और खाकी नाम के पांच उप-संप्रदाय मिलते हैं।

**निरंजनी-संप्रदाय** के प्रवर्तक हरिदास निरंजनी (मृ० सं० १७००) थे जिनका जन्म सोलवीं विक्रमी के अन्तर्गत डीडवाना परगने के कापडोद में हुआ था। उन्होंने देश-भ्रमण के पश्चात् अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने परब्रह्म की व्याख्या अन्य संतों की भाँति ही की है। उनकी रचनाओ पर कबीर और गुरु गोरखनाथ के विचारों का विशेष प्रभाव है। उन्होंने अपनी वहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करन की ओर अधिक ध्यान दिया है। उनकी शिष्य-परंपरा में भगवानदास निरंजनी, तुलसीदास, सेवादास (मृ० सं० १७६२) आदि कई संत मिलते हैं। **बावरी-पंथ** का प्रवर्तन बावरी साहिबा ने किया था। वह संत दादूदयाल, संत हरिदास और सम्राट अकबर की समकालीन थीं। 'बावरी' उनका उपनाम था। उनकी परंपरा में बीरु साहब, यारी साहब, बूला साहब (सं० १६८६-१७६६), गुलाल साहब (मृ० सं० १८१७), जगजीवन साहब, भीखा साहब (मृ० सं० १८४८)

आदि शिष्य-प्रशिष्य मिलते हैं। मलूक-पंथ के प्रवर्तक संत मलूकदास (सं० १६३१-१७३६) थे। उनका जन्म प्रयाग के कडा नामक गांव में हुआ था और वह जाति के कक्कड़ खत्री थे। उनकी ईश्वर के अस्तित्व में प्रबल आस्था थी। उनके कई शिष्य थे जिन्होंने उत्तर भारत मे पुरी से मुलतान तक उनके मत का प्रचार किया था। बाबालाली-संप्रदाय के प्रवर्तक बाबालाल (मृ० सं० १७१२) थे। उनके अनुयायी सीमा प्रान्त की ओर मिलते हैं। धामी संप्रदाय के प्रवर्तक संत प्राणनाथ (सं० १६७५-१७५१) थे जिनका जन्म काठियावाड के अन्तर्गत जामनगर नामक स्थान मे हुआ था। वह जाति के क्षत्री थे। वह देशाटन करते हुए एक बार बुन्देलखंड गए जहाँ छत्रसाल (सं० १७०६-१७८६) से उनकी भेंट हुई थी। छत्रसाल ने सं० १७३१ में उनसे दीक्षा ली थी। इनके अतिरिक्त सत्तनामी संप्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, सरयादासी संप्रदाय, शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, रामसनेही सम्प्रदाय, दरिया पंथ, गरीब पंथ आदि भी मिलते हैं। आधुनिक काल में साहिब पंथ, और राधास्वामी सत्संग अधिक प्रसिद्ध हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों के कतिपय प्रसिद्ध सन्तो की वाणियों का उदाहरण लीजिए :—

'पाणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ।।
अन्तर्गत अकल अनूप देख्या, कहतां कहा न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगे जानि मिठाई।।
जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत कथो गियानी।।'

× × ×

'बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गँवायो, जब जवानि तब मान किया रे।।
लाहे कारन मूल गंवायो, अजहुँ न मिटी तेरे मन की तृषा रे।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो, पार उतरि गये सन्त जना रे।।'

× × ×

'राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊं। फल अरु मूल अनूप न पाऊं ॥
थन हर दूध जो बछरू जुठारी। पुहुप भंवर, जल मीन बिगारी ॥
मलयागिर बेधिया भुअंगा। विष अमृत दोउ एके संगा।
मन ही पूजा, मनही धूप। मन ही सेऊं सहज सरूप।
पूजा अर्चा न जानूँ तेरी। कह 'रैदास' कवन गति मेरी ॥

× × ×

'मन की मन ही माहिं रही।
ना हरि भजे, न तीरथ सेये, चोटी काल गही ॥
दारा, मीत, पूत, रथ, संपति, धन-जन-पूर्न मही।
और सकल मिथ्या यह जानो, भजना राम सही ॥
फिरत-फिरत बहुते जुग हारयो, मानस-देह लही।
'नानक' कहत मिलन की बिरियाँ, सुमिरत कहा नहीं ॥'

× × ×

जागि रे सब रैणि बिहानी। जाइ जनम अंजुलि कौ पाणी।
घड़ी-घड़ी घड़ियाल बजावै। जे दिन जाइ से बहुरि न आवै ॥
सूरज चंद कहैं समझाइ। दिन-दिन आयू घटत री जाई ॥
सरवर पाणी, तरुवर छाया। निस दिन काल गरासै काया ॥
हंस बटाऊ प्राण पयाना। 'दादू' आतम राम न जाना।'

× × ×

'मोरे पिया मिले सत ज्ञानी।
ऐसन पिया हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी ॥
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन, तब पिय के मन मानी ॥
कर्म जलाय के काजल कीन्हा पढ़े प्रेम की बानी ॥
जब हंसा चलि मानसरोवर, मुक्ति भरे जहाँ पानी ॥
'धर्मदास' कबीर पिय पाये, मिट गई आवा जानी ॥'

अबतक हमने जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि संतों की परंपरा का सूत्रपात हमारे देश में उस समय हुआ जब उसके इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो चुका था और मध्य युग का आरम्भ हो रहा था। इस

समय तक देश के निवासियों की विचार-धारा पर अनेक प्रभाव पड़ चुके थे। शताब्दियों से समय-समय पर बाहर से आती रहने-वाली विविध जातियों ने जहाँ आर्य-संस्कृति पर अपने विचारों की छाप लगायी थी वहाँ इस देश की श्रमण-संस्कृति ने भी उसमें अनेक परिवर्तन किए थे। इन प्रभावों और परिवर्तनों के फलस्वरूप तत्कालीन जनता के सामने अनेक नए-नए प्रश्न उठते जा रहे थे। इनमें से कुछ का सबंध समाज से और कुछ का देश की राजनीति से था। देश की राजनीति से जनता का कोई सीधा संबंध नहीं था, पर सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों को हल करने का भार उसी पर था और इसके लिए वह प्रयत्न भी कर रही थी। इसी समय मुसलमानों के आक्रमण हुए जिससे उसके प्रयत्नों में और भी तीव्रता आ गयी। मुसलमानों की एकेश्वरवादी भावना, सामाजिक भेद-भाव-विहीनता तथा धार्मिक समानता आदि भारत के लिए नवीन संदेश नहीं थे, पर समय के प्रभाव से उनके लोप हो जाने के कारण उसने उन्हें अपने प्रयत्नों में विशेष मान्यता दी। फलतः उसकी सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव लोकोन्मुख होता गया। संत-परंपरा की प्रतिष्ठा ऐसे ही वातावरण में हुई। तत्कालीन संतों ने जनता के प्रत्येक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और समय आने पर उसका नेतृत्व भी किया। उन्होंने लोक-भाषा एवं लोक-रुचि को अपनाकर अपनी अटपटी वाणी-द्वारा सर्वसाधारण की चेतना को पुनर्जाग्रत किया और उसे भारतीय संस्कृति की विकास की ओर उन्मुख किया। संत-साहित्य की यही प्रथम विशेषता समझी जानी चाहिए।

**संत-काव्य की विशेषताएँ**

संत-साहित्य की दूसरी विशेषता उसमें प्रतिपादित दार्शनिक विचारों की दृष्टि से आंकी जा सकती है। इस दिशा में हम देखते हैं कि संतों के दार्शनिक विचार अत्यन्त व्यापक थे। वे साधारणतः अद्वैतवादी विचार-धारा के समर्थक थे और उसके अनुसार परमतत्त्व की एक मात्र सत्ता के साथ व्यक्ति का अभिन्न संबंध मानते थे। उनका यह भी विचार था कि उक्त अभिन्नता की अनुभूति पर ही आदर्श जीवन का निर्माण किया जा

सकता है। आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए वे अपना सर्वांग विकास अपेक्षित समझते थे और इसमें सहायक होनेवाली किसी भी साधना का वे स्वागत करते थे। वे प्रत्येक दशा में अपनी अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं आचरण में पूर्ण सामंजस्य का बना रहना परम आवश्यक समझते थे और यह मानते थे कि इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना-द्वारा ही आदर्श मानव-समाज का निर्माण एवं विश्व-कल्याण संभव है। स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी साधना के विकास के लिए इस्लाम धर्म से कुछ भी उधार नहीं लिया। वे अपनी साधना में सोलह आना भारतीय थे और सामूहिक साधना पर बल न देकर, व्यक्तिगत साधना-द्वारा समाज को उठाने के पक्ष में थे। इसलिए संपूर्ण संत-साहित्य में व्यक्ति की श्रेष्ठता मानी गयी है और उसके आधार पर मानव-कल्याण का आदर्श उपस्थित किया गया है।

संत-साहित्य की तीसरी विशेषता यह है कि वह उन अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित संतों का साहित्य है जिन्होंने अपने आदर्श और व्यवहार में बराबर सामंजस्य बनाए रखने की भरपूर चेष्टा की। इसलिए उन्होंने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए कभी किसी प्राचीन ग्रंथ के सैद्धान्तिक वाक्यों का आश्रय नही लिया और न शास्त्रीय सिद्धान्तों के बीच सुसंगति बिठाने का प्रयत्न ही किया। उनकी अद्वैत भावना का मूल स्रोत सत्संग एवं स्वानुभव में निहित था, इसलिए वह केवल मस्तिष्क तक ही सीमित न रहकर उनके प्रत्यक्ष जीवन में भी अपना स्थान बना लेती थी। उनकी 'कथनी' और 'करनी' में कही भी अन्तर नहीं था। वे जैसे अपनी साधना में अद्वैतवादी थे वैसे ही अपने जीवन के कार्य-व्यापारो में। इसी आधार पर उन्होंने तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक भेद-भावो को दूर करने की व्यवस्था की थी। यही उनका सच्चा और स्वाभाविक साम्यवाद था। इसलिए उनके अर्द्धशिक्षित अथवा अशिक्षित होने पर भी, इस विशेषता के कारण, उनका साहित्य अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुआ।

संत-साहित्य की चौथी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सरल, सुबोध और बोधगम्य है। वैदिक साहित्य अथवा प्राचीन ग्रन्थों में जो

दार्शनिक विषय अत्यन्त गूढ़ और गभीर होने के कारण अपरिचित से हो गए थे वे संतों की वाणी-द्वारा अभिव्यक्ति पाकर सर्वसाधारण की संपत्ति बन गए थे और सबकी उनके प्रति उत्सुकता बढ़ने लगी थी। इस प्रकार संत-साहित्य वास्तव में जन-साहित्य था। उसमें तत्कालीन जनता के सभी प्रश्नों का हल था। इसलिए वर्ण-व्यवस्था से ऊबी हुई जनता को उससे विशेष बल मिला और उसका ध्यान इस्लाम धर्म की ओर से हटकर अपने प्राचीन धर्म की ओर आकृष्ट हो गया। संत-साहित्य की यह विशेषता हिन्दू-जाति कभी भूल नहीं सकती।

संत-साहित्य की पाँचवी विशेपता यह है कि उसका निर्माण एक विशेष उद्देश्य एवं एक विशेष आदर्श को सामने रख कर हुआ है। प्रति-दिन अनुभव में आनेवाली वस्तुओं एवं व्यवहारों की वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हो उनकी वास्तविकता का स्थान उपलब्ध करना ही उसके निर्माताओं का उद्देश्य रहा है और इसी उद्देश्य के अनुसार संतो ने अपनी रचनाओ के अन्तर्गत आनेवाली आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक, प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की है। उनकी इसी चेष्टा में मानव-कल्याण का आदर्श निहित है। कहना न होगा कि उनके इसी उद्देश्य और आदर्श के कारण उनका साहित्य हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मिलनेवाले वीरगाथा-साहित्य, प्रेम-गाथा-साहित्य, भक्ति-साहित्य और रीति-साहित्य की अपेक्षा बहुत ऊँचा है।

संत-साहित्य की छठी विशेषता यह है कि वह एक मात्र साम्प्रदायिक सहित्य है। उसमें यदि एक ओर गुरु, भक्ति, सत्संग, दया, क्षमा और साधु-सन्तो की महिमा का वर्णन हुआ है तो दूसरी ओर कपट, माया तृष्णा, कामिनी, कंचन, तीर्थ, व्रत, मांसाहार, मूर्तिपूजा आदि का खंडन किया गया है और अद्वैतवाद के आधार पर परमतत्त्व और जीवतत्त्व में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इसलिए उसमें प्रायः साहित्यिकता एवं लोक-पक्ष का अभाव है और संभवतः यही कारण है कि शिक्षित वर्ग की अपेक्षा अशिक्षित वर्ग में ही उसका प्रचार हुआ है।

# ७. प्रेम-काव्य का विकास

हिन्दी-साहित्य में सूफी-साहित्य का प्रादुर्भाव कब और कैसे हुआ, यह जानने के पूर्व सूफ़ी और उनके संप्रदाय के संबंध में मोटी-मोटी बातों को हमें समझ लेना चाहिए। 'सूफ़ी' शब्द अरबी भाषा का शब्द है। यह 'सूफ' से बना है जिसका अर्थ है ऊन। अरब में 'सूफी' उन व्यक्तियों अथवा फ़क़ीरों को कहते थे जो ऊनी कम्बल ओढ़कर घूमा करते थे और इस्लाम-धर्म का प्रचार किया करते थे। इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब (सं० ६२७-६८६) पूरे एकेश्वरवादी थे और ख़ुदा के विश्व-नियंत्रण एवं उसकी न्यायशीलता में विश्वास रखते थे। वह ख़ुदा के पैग़म्बर अर्थात् दूत के रूप में अवतरित हुए थे। इसलिए वह अपनी तन्मय अवस्था में जो कुछ कहते थे वह ईश्वर-प्रेरित होता था और वही '.कुरान शरीफ़' का अंग बन जाता था। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए ईश्वरोपासना के संबंध में कुछ साधनाएँ निश्चित की थीं जिनका उल्लेख 'क़ुरान शरीफ़' में मिलता है। इन साधनाओं का हक़ीक़त (ज्ञान मार्ग), तीरक़त (भक्ति-मार्ग) और शरीअत (कर्म-मार्ग) से विशेष संबंध है और इनका पालन करना मुसलमानों के लिए अनिवार्य है। मुसलमान होने के नाते आरम्भ में सूफी भी इन साधनाओं के प्रति आस्था रखते थे। वे खुदा की राह पर जीवन व्यतीत करते थे, दीनता और नम्रता के साथ फटी हालत में रहते थे, ऊन के कम्बल लपेटे घूमा करते थे, भूख-प्यास सहते थे और ईश्वर के प्रेम में लीन रहते थे, पर ज्यों ज्यों वे साधना के मानसिक पक्ष की ओर अधिक आकृष्ट होते गये त्यों-त्यों वे इस्लाम के वाह्य विधानों के प्रति उदासीन होते गये। ऐसी दशा मे कट्टर मुसलमानो और कर्मकांडी नबियों ने उनका घोर विरोध किया, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में ही उन्हें अपने भावो को अधिकाधिक परिष्कृत करने का अवसर मिला और कालान्तर में

**सूफ़ी संप्रदाय का अभ्युदय**

वे अन्तःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही मुख्य मानने लगे। कहा जाता है कि मुहम्मद साहब के अनन्तर मुसलमानों का नेतृत्त्व करने वाले चारों खलीफ़ा—अबूबकर ( मृ० सं० ६६१ ), उमर (मृ० सं० ७००), उसमान ( मृ० सं० ७१२ ) और अली ( मृ० सं० ७१७ ) भी उनकी बातो से न्यूनाधिक प्रभावित थे और उन्होने उन्हें कभी निरुत्साहित नहीं किया। इससे इस्लाम-धर्म के प्रचार के साथ उनकी स्वीकृतियो का भी प्रचार-क्षेत्र बढ़ता गया। खलीफा अली के अनन्तर उमय्या-वंश के शासन-काल (सं० ७१८-८०६ ) से उसके उत्तरवर्ती अब्बासी-वंश के शासन-काल (सं० ८०७-१३३१) तक बसरा, बगदाद, सीरिया, मिस्र एवं स्पेन आदि स्थानों मे उनकी बातो का प्रचार हो गया और वे क्रमशः अद्वैतवाद की ओर झुके। इतिहास से इस बात का प्रमाण मिलता है कि मुहम्मद बिन-क़ासिम के भारत पर आक्रमण ( सं० ७६९ ) के फलस्वरूप खलीफ़ा मंसूर ( सं० ८१०-३१ ) और खलीफा हारूँ (सं० ८४३-६५ ) के समय में बग़दाद की पुण्य भूमि पर भारतीय और इस्लामी संस्कृतियो का जो आदान-प्रदान हुआ उसने अरबी सूफ़ियों को अद्वैतवाद की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया और फिर उन्होने स्वतंत्र रूप से सूफी-संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने बौद्ध-सिद्धो से भी साधना-संबंधी रहस्य की बातें सीखीं और बौद्धों के निर्वाण-को 'फना' के रूप में स्वीकार किया। तात्पर्य यह कि आरम्भ में उन्होंने जिस धर्म के आधार पर अपनी नींव डाली थी वह अन्त में अपने मौलिक रूप में न रहकर बाह्य प्रभावों को ग्रहण करते हुए एक नवीन रूप में विकसित हुआ।

सूफ़ी-सम्प्रदाय के सिद्धान्त

सूफ़ी-सम्प्रदाय के सिद्धान्त उसके अपने सिद्धान्त हैं। इस्लाम-धर्म मे उसका अटल विश्वास है, पर इसके साथ ही उसके विकास के मूल में उसके अनुयायियों की अनुभूति का भी बड़ा हाथ है। मुसलमान होने के कारण सूफी कट्टर एकेश्वरवादी हैं और पैग़म्बरवाद में आस्था रखते हैं, पर साधना के क्षेत्र में वे अद्वैतवादी हैं। अद्वैतवाद के अन्तर्गत दो प्रकार के द्वैत का त्याग लिया

गया है: (१) आत्मा और परमात्मा के द्वैत का त्याग तथा (२) ब्रह्म और जड़ जगत के द्वैत का त्याग। इन दोनों में से सूफ़ी प्रायः पहले प्रकार के त्याग पर ही अधिक बल देते हैं। उनका 'अनलहक़' हमारे 'अहं ब्रह्मास्मि' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। अद्वैतवाद की इस भावना में 'अहंकार' (खुदी) बाधक होता है। 'अहंकार' का त्याग अथवा नाश करने से 'ज्ञान' का उदय होता है। सूफ़ी भी 'अहंकार' के त्याग पर बल देते हैं। बग़दाद के प्रसिद्ध सूफी मंसूर हल्लाज-कृत 'किताबे तवासीफ़' उनका सिद्धान्त-ग्रन्थ है जिसमें मनुष्य के चार विभाग माने जाते हैं : (१) **नफ़स**, (२) **रूह**, (३) **क़ल्ब** और (४) **अक़्ल**। 'नफ़स' का अर्थ है, विषय-भोग-वृत्ति जिसके साथ युद्ध करना सूफी-साधकों के लिए परम आवश्यक है। 'क़ल्ब' अर्थात् हृदय और 'रूह' अर्थात् जीवात्मा उनकी साधना के माध्यम हैं। वे यह मानते हैं कि 'क़ल्ब' एक भूतातीत पदार्थ है और उसके द्वारा ही सब प्रकार का वस्तु-ज्ञान होता है। मुग़ल-सम्राट शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ( स० १६७२-१७१६ ) ने अपनी पुस्तक 'रिसालए हक़नुमा' में चार जगत माने हैं : (१) 'आलमेनासूत' अर्थात् नौतिक जगत, (२) 'आलमेमलकूत' अर्थात् आत्म जगत, (३) 'आलमेजबरुत' अर्थात् आनंदमय जगत और (४) 'आलमे-लाहूत' अर्थातू सत्य जगत या ब्रह्म। 'क़ल्ब' रूह अर्थात् आत्मा और रुपात्मक जगत के बीच का एक साधन-रूप पदार्थ है। सूफ़ियो के अनुसार 'ज्ञान' तो आत्मा है और जिस पर विविध ज्ञान का प्रतिबिंब पडता है वह है 'क़ल्ब' या हृदय। इसलिए 'क़ल्ब' की शुद्धता पर वे विशेष बल देते हैं। उसकी शुद्धि 'जिक्र' अर्थात 'स्मरण' और 'मुराक़बत' अर्थात् ध्यान से होती है। 'स्मरण' की प्रथनावस्था है 'अहं भाव' का त्याग अर्थात् अपने को भूल जाना और उसकी परमावस्था है ज्ञाता और ज्ञान दोनों की भावना का नाश अर्थात् यह भावना न रहना कि हम ज्ञाता हैं और यह किसी वस्तु का ज्ञान है। सूफ़ी, साधक की चार अवस्थाएँ मानते हैं : (१) **'शरीअत'** अर्थात् धर्म-ग्रन्थों के विधि-निषेध का सम्यक् पालन। यही उनका कर्मकांड है जिसके अन्तर्गत पाँच प्रकार के कर्तव्यों का विधान है : (१) 'कल्मा' अर्थात्

इस्लाम-धर्म मे विश्वास, (२) 'नमाज़' अर्थात् पॉच समय ईश्वर से प्रार्थना करना, (३) 'रोज़ा' अर्थात उपवास करना, (४) 'ज़कात' अर्थात दान देना और (५) 'हज' अर्थात मक्का की तीर्थ-यात्रा करना। (२) 'तरीक़त' अर्थात् वाह्य आडम्बरो से दूर रहकर शुद्ध हृदय से खुदा की इबादत (उपासना) करना। यह उनका उपासना-कांड हैं। (३) 'हक़ीक़त' भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य का सम्यक् बोध। यह उनका ज्ञान-कांड है। (४) 'मारफ़त' अर्थात् सिद्धावस्था जिसमे आत्मा परमात्मा मे लीन हो जाती है और साधक भगवान की विभूति ( जमाल ) का अनुसरण करता हुआ प्रेममय हो जाता है। इनमे से 'तरीक़त' की अवस्था ही साधना का मार्ग हैं। इस मार्ग का अनुसरण करनेवाले को भूख-प्यास सहना और एकान्त वास एवं मौन का आश्रय लेना पड़ता है। इसमें कई पडाव हैं जो 'मुक़ामात' कहलाते हैं। 'तौबा' इस प्रकार का पहला मुकाम है जिसका अर्थ है, पाप कर्मों से दूर रहने का निश्चय जिसके पश्चात् उक्त चारों अवस्थाएँ आती हैं। ये अवस्थाऍ उन अभ्यान्तर अवस्थाओं के अधीन हैं जो परमात्मा के अनुग्रह से 'क़ल्ब' के बीच उपस्थित होती हैं और 'अहवाल' कहलाती हैं। इसी 'अहवाल' की अवस्था का प्राप्त होना 'हाल आना' कहा जाता है जिसमें भक्त अपने को बिलकुल भूल जाता है और ब्रह्मानन्द में झूमने लगता है। यह एक प्रकार की प्रलयावस्था है जिसके दो पक्ष हैं : (१) त्याग पक्ष और (२)प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष के अन्तर्गत हैं : (१) 'फ़ना' अर्थात् अपनी पृथक सत्ता की प्रतीति से परे हो जाना; (२) 'फ़क़्द' अर्थात् अहंभाव का नाश और (३) 'शुक्र' अर्थात् प्रेम-मद। प्राप्ति पक्ष के अन्तर्गत हैं : (१) 'बक़ा' अर्थात् परमात्मा मे स्थिति, (२) 'वज्द' अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति और (३) 'शाम' अर्थात् पूर्ण शान्ति। तात्पर्य यह कि सूफी जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभिन्न संबंध स्थापित करके उसमें लीन रहते हैं। वे प्रेम को परमात्मा की सत्ता का सार मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि के पूर्व परमात्मा का प्रेम निर्विशेष भाव मे अपने ऊपर था। इसने वह अपने को अकेले अपने आप ही व्यक्त करता था। फिर अपने उस एकान्त अद्वैत प्रेम

को वाह्य विषय के रूप में देखने की इच्छा से उसने शून्य से अपना एक प्रतिरूप या प्रतिबिंब उत्पन्न किया जिसमें उसी के से गुण थे। यही प्रतिरूप 'आदम' कहलाया जिसमें और जिसके द्वारा परमात्मा ने अपने आप को व्यक्त किया। अपनी इस धारणा के आधार पर वे परमात्मा को 'माशूक' (प्रियतम) और स्वयं को 'आशिक़' (प्रेमी) मानकर प्रेम-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं।

**सूफ़ी-सम्प्रदाय की भारतीय शाखाएँ**

भारत में सूफ़ी-सिद्धान्तों का प्रचार कब से होने लगा, यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। इतिहास देखने से पता चलता है कि हज़रत मुहम्मद साहब (सं० ६२७-८९) की मृत्यु के पश्चात् खलीफ़ा उमर के समय में सं० ६९३-९४ के लगभग भारत के पश्चिमी समुद्री तटों को लूटने के उद्देश्य से कुछ अरबी सैनिकों ने उन पर आक्रमण किया था। उमय्या-वंश के शासन-काल (सं० ७१८-८०६) में अरब-निवासी व्यापारियों का भारत के साथ व्यापारिक संबंध भी स्थापित हो गया था। उस समय तक बग़दाद अरबी साहित्यकारों का केन्द्र बन चुका था। खलीफ़ा मंसूर (सं० ८१०-३१) और खलीफ़ा हारूँ (सं० ८४३-६५) के समय में भारत में कई अरबी विद्वान थे जो अपने साथ ब्रह्म गुप्त-कृत 'ब्रह्म सिद्धान्त' आदि दार्शनिक ग्रन्थ बग़दाद ले गए थे। उन विद्वानों में सूफ़ी भी थे। सूफ़ियों ने उस समय भारत में अपने संप्रदाय का प्रचार नहीं किया। भारत में वे अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करने आए थे। परन्तु जब महमूद गजनवी के लगातार आक्रमणों के फलस्वरूप मुसलमानों के पैर यहाँ जम गये और वे बल-पूर्वक अपने धर्म का प्रचार करने लगे तब सूफ़ियों को भी अपने संप्रदाय के प्रचार एवं प्रसार का अवसर मिला। सबसे पहले लाहौर-निवासी हज़रत दाता गंजबख्श हुज्विरी (मृ० सं० ११२०) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कशफ़ुल महजूब' अर्थात् 'निरावृत्त रहस्य' की रचना की। उनके पश्चात् प्रसिद्ध सूफ़ियों में दक्षिण भारत के पेन्नु कोंडा-निवासी बाबा फ़ख़रुद्दीन (मृ० सं० १२२५) और हुस्नाबाद (गुलबर्गा) निवासी हजरत ख्वाजा बन्दानवाज़ सय्यद मुहम्मद गेसूदराज़

( सं० १३७७-१४७६ ) थे जिनकी पुस्तक 'सेराज़ुल आशक़ीन' 'हिन्दवी' भाषा का आदि रूप प्रस्तुत करती है।

भारत में सूफ़ी प्रायः औलिया के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके संप्रदाय के अन्तर्गत चार मुख्य उप-संप्रदाय थे : (१) सुहर्वर्दिया, (२) चिश्तिया, (३) क़ादरिया और (४) नक़्शबंदिया। ख्वाजा हसन निज़ामी के मतानुसार सुहर्वर्दि सूफ़ी ही सबसे पहले यहाँ आए थे। उसके प्रवर्तक ज़ियाउद्दीन अबुल नजीब अब्दुल कादिर इब्न अब्दुल्ला (सं० ११५४-१२२५) थे। उनका जन्म-स्थान सुहर्वर्द और मृत्यु-स्थान बग़दाद था। उन्होंने अपने भतीजे शिहाबुद्दीन (सं० १२०२-१२६१) की सहायता से सुहर्वर्दिया उप-सम्प्रदाय की नींव डाली थी। मुल्तान-निवासी बहाउद्दीन जकरिया (स० १२२७-१३२४) शहाबुद्दीन के ही शिष्य थे। उन्होंने भारत में इस संप्रदाय का विशेष रूप से प्रचार किया था। उनके पश्चात् उनके शिष्य सय्यद जलालुद्दीन सुर्खपोश (सं० १२४६-१३४८) ने सिंध, गुजरात एवं पंजाब में भ्रमण करके अपने मत का प्रचार किया। उनके पौत्र जलाल इब्न अहमद कबीर उपनाम 'मख़दूमे जहांनियां जहाँगश्त' ने ३६ बार मक्का की यात्रा की और अपने समय के अत्यन्त लोक-प्रिय सूफ़ी हुए। बिहार और बंगाल की ओर प्रचार करनेवालों में शिहाबुद्दीन के अन्य शिष्य जलालुद्दीन तबरीज़ी ( मृ० सं० १३०१ ) थे जिन्होंने बड़े-बड़े लोगों को अपने धर्म की दीक्षा दी थी। झूँसी वाले शेख़ तक़ी, जिनका पूरा नाम सय्यद सदरुल हक़ तक़ीउद्दीन मुहम्मद अब्दुल अकबर ( सं० १३७७-१४४१ ) था, सुहर्वर्दिया सूफ़ी थे।

चिश्तिया उप-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ख्वाजा अब्बू अब्दुल्ला चिश्ती ( मृ० सं० १०२३ ) थे, परन्तु भारत में उसका प्रचार सर्वप्रथम मुइनुद्दीन चिश्ती ( सं० ११६६-१२६२ ) द्वारा हुआ। वह ईरान प्रदेश के अन्तर्गत सीस्तान के निवासी थे और यहाँ मुहम्मद ग़ोरी की सेना के साथ सं० १२४६ मे आए थे। अधिक दिनों तक पंजाब और दिल्ली में रहने के अनन्तर उन्होंने अजमेर के निकट पुष्कर क्षेत्र को अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया और वहीं उनकी मृत्यु हुई। वह अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी

थे और 'आफ़तावे हिन्द' अर्थात् 'भारत के सूर्य' कहे जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो उनके शिष्य थे। उनकी शिष्य-परंपरा में सबसे अधिक प्रसिद्ध हज़रत ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तयार 'काकी' (सं० १३४३-९३) थे जा गुलाम वंशीय कुतुबुद्दीन ऐबक के शासन-काल (सं० १२६३-६७) मे दिल्ली आकर बस गए थे। उनके शिष्य हज़रत बाबा फरीदुद्दीन 'शंकरगज' (स० १२४३-१३२२) ने पंजाब के अंतर्गत माट गुमरी जिले के अजुधन नगर में साधना की थी जो इसी कारण 'पाक पत्तन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपनी मधुर उपासना-शैली के कारण वह 'शंकरगंज' कहे जाते थे। उन्होंने दक्षिणी पंजाब में सूफ़ी-मत का बहुत प्रचार किया था। वह फ़ारसी रेखता और हिन्दी में कविता करते थे। उनकी एक रचना 'पूनो का चांद' है जो हिन्दी भाषा मे है। हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया ( स० १२९३-१३८१ ) उनके प्रमुख शिष्य थे। हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्यो में अमीर खुसरो (सं० १३१०-१३८१) थे जिनके संबंध में अन्यत्र कहा जा चुका है। हज़रत मखदूम अलाउद्दीन अली अहमद साबिर (मृ० सं० १३२२), ख़्वाजा सय्यद अशरफ़ जहाँगीरी ( सं० १३५६-१४६२ ) जिनकी समाध कछूछा शरीफ़, अवध, में है, मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १४८३-१५९९) और शेख़ सलीम चिश्ती (मृ० सं० १६२९) भी इसी परंपरा के सूफ़ी थे।

क़ादरिया उप-सम्प्रदाय के प्रवर्तक बग़दाद-निवासी शेख़ अब्दुल कादिर जीलानी (सं० ११३५-१२२३) थे। भारत में सय्यद बन्दगी मुहम्मद ग़ौस (मृ० सं० १५७४) ने सर्वप्रथम सं० १५३९ में इसका प्रचार किया था। उनके शिष्य मियां मीर (मृ० सं० १६९२) भी एक प्रसिद्ध सूफ़ी-साधक थे। इसी परंपरा में दारा शिकोह (सं० १६७२-१७१५) और संत बुल्ले शाह (सं० १७३७-१८१०) थे। बंगाल और बिहार में इसका अच्छा प्रचार हुआ। नक्शबंदिया उप-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक तुर्किस्तान-निवासी ख्वाजा बहाउद्दीन नक़्शबंद ( मृ० सं० १४४६ ) थे। उनके पिता ज़री का काम करते थे। ख्वाजा मुहम्मद बाक़ी बिल्लाह 'बेरंग' (मृ० सं० १६६०) ने भारत में इसका प्रचार किया था। परन्तु कुछ लोग इसका श्रेय शेख़ अहमद फ़ारुख़ी 'सरहिन्दी' (मृ० सं०

१६८२ ) को देते हैं। इसका प्रभाव शिक्षित वर्ग पर अधिक है।

उक्त चारों उप-संप्रदायों में कोई सैद्धान्तिक मत-भेद नहीं है। उनकी उत्पत्ति एवं उनके विकास के मूल में उनके प्रवर्तकों की विशेषता और उनकी साधना से संबंध रखनेवाली कतिपय गौण बातों की विभिन्नता ही मिलती है। उनमें स्लामी कट्टरपन नहीं है। भारतीय सूफ़ियों ने हिन्दू-समाज की अनेक बातों को बड़े स्वाभाविक ढंग से अपनाया है और उनके आधार पर यहाँ के सर्वसाधारण में सफलतापूर्वक अपने मत का प्रचार किया है। हृदय की शुद्धता, वाह्याचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, विश्व-बन्धुत्त्व, विश्व-प्रेम आदि भावनाओं की ओर उन्होंने सबका ध्यान आकृष्ट किया है और उन्हें अपने मत की देन बतलाते हुए इस्लाम पर ईमान लाने के लिए आग्रह भी किया है। इस प्रकार बल-प्रयोग करके इस्लाम-धर्म का प्रचार करनेवालों की अपेक्षा वे कहीं अधिक सफल हुए हैं।

**प्रेम काव्य का विकास**

सूफियों की साधना में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है और यही भारतीय साधना को उनकी मुख्य देन है। कहा जाता है कि इसका पूर्व रूप केवल 'मादन-भाव' था जो शामी जाति की एक विशेपता थी और जिसे उन्होंने क्रमशः शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया था। बसरा-निवासिनी राबिया ( मृ० सं० ८०६ ) प्रणय की भावना से भरी हुई थी और पत्नी रूप में ईश्वर की आराधना करती थी। आगे चलकर जूलनून मिसरी ( मृ० सं० ९१६ ) तथा मंसूर अल् हल्लाज ( मृ० सं० ९७८ ) ने इस प्रकार की प्रणय-भावना को दार्शनिक रूप दिया और उसे ईश्वर का स्वरूप माना। भारतीय सूफियों ने अपनी प्रेम-साधना में हल्लाज का अनुकरण नहीं किया। उन पर ईरान के सूफियों का प्रभाव था और उन्हीं की भाँति वे अपना प्रेममय जीवन व्यतीत करते थे। वे बहुधा फारसी, हिन्दी अथवा उर्दू में प्रेम-गाथा-साहित्य की रचना करते थे और अपनी साधना में मस्त रहते थे। अपनी प्रेम-साधना में वे नाथ-सम्प्रदाय की अनेक योगिक क्रियाओं का भी समावेश करते थे और रूपकों की सहायता से उनका वर्णन अपनी प्रेम-गाथाओं में करते थे।

हिन्दी में उनके द्वारा प्रेम-गाथा की परम्परा का सूत्रपात कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस परंपरा में सबसे पहली रचना मुल्ला दाऊद-कृत 'चंदायन' मिलती है। इसकी रचना अलाउद्दीन के शासन-काल ( सं० १३५३-८३ ) में हुई थी। इसके अतिरिक्त मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी रचना 'पद्मावत' में चार प्रेम-गाथाओं (१) मुग्धावती, (२) मृगावती (३) मधुमालती और (४) प्रेमावती का उल्लेख किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी के पूर्व से ही यह परम्परा चली आ रही थी, फिर भी आधुनिक खोजों के आधार पर इसके प्रारंभ होने का समय संत-परंपरा के आविर्भाव-काल से पहले जाता हुआ नहीं जान पड़ता। उस समय तक सूफी प्रायः अपनी फारसी-रचनाओं-द्वारा ही अपने मत का प्रचार करते थे, प्रेम-कहानियों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था।

प्रेम-गाथा-परम्परा में जायसी के पूर्व के जो दो काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें से एक तो है 'मृगावती' और दूसरी है 'मधुमालती'। मृगावती के रचयिता कुतबन चिश्ती-संप्रदाय के कालपी-निवासी शेख बुरहान (मृ० सं० १६१६) के शिष्य और जौनपुर के बादशाह हुसेनशाह शर्की के आश्रित कवि थे। बहलोल लोदी ने अपने शासन-काल (सं०१५०४-४५) में हुसेनशाह शर्की को पराजित कर उसे जौनपुर से बाहर निकाल दिया था। सिकन्दर लोदी के समय (सं० १५४५-७४) में उसने फिर सर उठाया, पर इस बार भी वह अपने प्रयत्न में विफल रहा और भाग कर लखनौती (बङ्गाल) चला गया। वह कला और साहित्य-प्रेमी था। उसके निर्वासन-काल में ही कुतबन ने सं० १५१८ अर्थात् ९०९ हिजरी में 'मृगावती' की रचना की। इसमें कञ्चनपुर की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसकी भाषा अवधी है और इसमें दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है। कथा साधारण है, पर उसके आधार पर अलौकिक प्रेम व्यञ्जित किया गया है। मधुमालती के रचयिता मंझन (सं० १६५०-१७२०) के संबन्ध में अबतक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। 'मधुमालती' की एक खंडित प्रति मिली है जिसमें कनेसर के

राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती का प्रेम-वर्णन है। 'मृगावती' की अपेक्षा यह उत्कृष्ट रचना है। इसकी भाषा भी अवधी है और इसमें पांच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है।

प्रेम-गाथा-परम्परा में तीसरी प्रसिद्ध रचना पद्मावत है। इसके रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी (सं०१४८३-१५६६) हैं। जायसी रायबरेली जिला के अंतर्गत जायस के निवासी थे और संभवतः वहीं के एक दरिद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। सात वर्ष की अवस्था में शीतला के प्रकोप से उनकी बाईं आँख जाती रही थी, बाँया कान बहरा हो गया था और उनका चेहरा भी कुरूप हो गया था। इसके पश्चात् ही उनके माता-पिता भी चल बसे। ऐसी दशा में वह अनाथ होकर साधु-संतों के साथ रहने लगे और फिर चिश्तिया संप्रदाय के निज़ामुद्दीन औलिया (सं० १२६३-१३८१) की शिष्य-परम्परा में प्रसिद्ध सूफी शेख मुहीउद्दीन से उन्होने दीक्षा ली थी। वह अपने समय के सिद्ध फकीरो में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में उनका बहुत मान था और वह अपने जीवन के अन्तिम दिनो में अमेठी से दो मील दूर एक जङ्गल में रहा करते थे। वहीं उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने तीन काव्य-ग्रन्थो की रचना की: (१) पद्मावत, (२) अखरावट और (३) आखिरी कलाम। डा० माता प्रसाद गुप्त ने अपनी 'जायसी-ग्रन्थावली' में उनके एक ग्रन्थ का और उल्लेख किया है जिसका नाम 'महरीबाईसी' (कहरनामा) है। उनका एक प्रेम-काव्य 'चित्रलेखा' भी अभी हाल की खोज में मिला है।

पद्मावत का रचना-काल ६२७ हिजरी से ६४७ हिजरी अर्थात् सं० १५७७ से सं० १५६७ तक माना जाता है। इसमें चित्तौड के राजा रत्नसेन और सिंहल द्वीप के राजा गंधर्व सेन की पुत्री पद्मावती की प्रणय-कथा का वर्णन है। हीरामन सुए-द्वारा संसार की अपूर्व सुन्दरी पद्मावती के सौंदर्य, रत्नसेन की रानी नागमती की ईर्ष्या, सुए के बिना राजा की व्याकुलता, सुए के साथ योगी-वेष में राजा का घर से निकलना, मार्ग की अनेकानेक कठिनाइयो को सहन करते हुए सिंहलद्वीप पहुँचना, रत्नसेन और पद्मावती का विवाह, उनका चित्तौड़ में आना, राघवचेतन को लेकर रत्नसेन और अलाउद्दीन

में संघर्ष, गोरा-बादल का युद्ध, अन्त में रत्नसेन की मृत्यु और नागमती तथा पद्मावती का उनके शव के साथ सती होना—आदि का सजीव और मर्मस्पर्शी वर्णन है। इस संपूर्ण कथा के दो विभाग हैं: (१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। पद्मावती और रत्नसेन के विवाह तक की कथा पूर्वार्द्ध के अंतर्गत आती है और सर्वथा कल्पित है। उत्तरार्द्ध का अंश ऐतिहासिक है। इस प्रकार जायसी ने अपने इस काव्य-ग्रन्थ में कल्पना और इतिहास के आधार पर अपनी कथा का ढाँचा खडा किया है। इस कथा के दो पक्ष हैं: (१) लौकिक और (२) आध्यात्मिक। लौकिक पक्ष में संपूर्ण कथा दो प्रेमियों के प्रेम की कहानी है। रूप लोभी रत्नसेन पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर योगी बन जाता है। और उससे विवाह करने के लिए प्रयत्नशील होता है। उसके प्रेम का आदर्श 'मजनूँ' और 'फरहाद'-जैसा है। फारस के प्रेम-काव्य में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पडता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। जायसी ने आरम्भ में नायक रत्नसेन के प्रेम का वेग फारसी पद्धति के अनुरूप ही दिखाया है, पर आगे चलकर उन्होंने पद्मावती के प्रेम की तीव्रता भी प्रदर्शित की है और इस प्रकार उन्होंने अपनी प्रेम-कथा में दोनों आदर्शों का समन्वय कर दिया है। इसके साथ ही फारसी की मसनवियों के समान उन्होंने लोक-पक्ष की अवहेलना नहीं की है। रत्नसेन के रूप में उन्होंने जिस ऐकांतिक प्रेम का आदर्श उपस्थित किया है, उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक, दोनों शैलियों का मेल है। राजा रत्नसेन का योगी-वेष में घर से निकलना, उनकी माता और उनकी पत्नी नागमती का रोना-धोना, पद्मावती के रसरङ्ग का वर्णन, सिंहलद्वीप से पद्मावती के विदा होते समय परिजनों और सखियों की स्वाभाविक वियोग-व्याकुलत—आदि अनेक व्यावहारिक पक्षों का चित्रण उन्होंने बड़ी सफलतापूर्वक किया है। पर इतना होते हुए भी उनका 'पद्मावत' है प्रेम-गाथा ही, जीवन-गाथा नहीं है। जीवन की अनेक परिस्थितियों का जैसा चित्रण तुलसी के 'रामचरित मानस' में मिलता है वैसा उसमें नहीं मिलता। वह एक शृङ्गार रस-प्रधान महाकाव्य है जिसमें वियोग-पक्ष का चित्रण अत्यन्त मार्मिक है। आध्यात्मिक पक्ष में सारी कथा

समासोक्ति है। जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यञ्जना हो वहाँ समासोक्ति और जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना हो वहाँ अन्योक्ति होती है। जायसी ने पद्मावत के अंत मे अपने सारे प्रबन्ध को व्यङ्ग-गर्भित कहा है :—

**'तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥**
**गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥**
**नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ, न एहि चित बंधा॥**
**राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥**
**प्रेम-कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥'**

इस प्रकार सारी कथा समासोक्ति ही ठहरती है। कथा के अंगों में कहीं-कही 'अन्योक्ति' भी मिलती है, जैसे :—

**'सूर उदयगिरि चढ़त भुलाना। गहनै गहा, कँवल कुंभिलाना॥'**

× + ×

**'कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ।**
**अबहूँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचै आइ॥'**

उक्त दोनों उदाहरणों में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना की गयी है। पहले में 'सूर' तथा 'उदयगिरि' क्रमशः राजा रत्नसेन तथा सिंहलगढ़ और 'गहनै गहा' तथा 'कॅवल' कुंभिलाना' से उनके पकड़े जाने की व्यंजना होती है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में जल-कमल का प्रसंग प्रस्तुत नहीं है, प्रस्तुत है विरहिणी की दशा। इसलिए यहाँ 'अन्योक्ति' है। सारांश यह कि 'पद्मावती' की कथा आध्यात्म-पक्ष में पूर्ण रूप से घटित होती है।

'पद्मावत' घटना-प्रधान महाकाव्य है। इसमें जायसी ने भारतीय कथा के माध्यम-द्वारा आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना की है और उसके आधार पर सूफी-सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। इससे तथा उनके अतिरञ्जित वस्तु वर्णन के कारण कथा-प्रवाह को विशेष आघात पहुँचा है। साथ ही उनके शृङ्गार-वर्णन और वस्तु-वर्णन ने उनके आध्यात्मिक पक्ष को उभरने का अवसर नहीं दिया है। एक घटना के बीच में अथवा उसके समाप्त होते ही

आध्यात्मक पक्ष का राग अलापने से न तो उनके आध्यात्मवाद का स्वरूप ही निखर पाया है और न समान रूप से उसे पूरी कथा में घुलने-मिलने का अवसर ही मिला है। कथा में कुतूहल और रसात्मकता अवश्य है जिसके कारण उनके जीवन-काल में ही उसका प्रचार हो गया था और उनका 'बारह मासा' लोग गाते फिरते थे।

जायसी का विरह-वर्णन उनके काव्य की एक विशेषता है। उनका विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी हास्यास्पद नहीं है। उन्होंने ऊहात्मक पद्धति का सहारा न लेकर विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की ही अत्यंत विशद व्यंजना की है। उन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है, पर वह अधिकांश संवेदन के रूप में ही है। सवेदन का यह रूप उत्प्रेक्षा अलंकार-द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रेम की पीर से भरे हुए रत्नसेन के विरह-व्यथित हृदय का प्रभाव जहाँ सूर्य, चन्द्र, वृक्ष और पक्षी आदि सब पर दिखाई पड़ता है वहाँ नागमती के आँसुओ से भी सारी सृष्टि भीगी जान पडती है :—

**'कुहुक-कुहुक जस कोइल रोई। रकत आँसु घुंघची बन बोई॥**
**जहँ-जहँ ठाढ़ि होइ बनबासी। तहँ तहँ होइ घुंघुचि कै रासी॥**
**बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गूँजि करै 'पिउ पीऊ'॥**
**तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥**
**राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥'**

इस प्रकार जायसी ने भारतीय पद्धति के अनुसार सारी सृष्टि को नागमती की विरह-वेदना से आकुल चित्रित किया है, परन्तु कहीं-कहीं फारसी-पद्धति की भी झलक मिलती है। 'विरह-सरागन्हि भूँजै मांसू। गिरि-गिरि परै रकत कै आंसू॥' से जो वीभत्स चित्र सामने आता है वह अत्यन्त अस्वाभाविक और कृत्रिम है। नागमती के विरह-वर्णन के अन्तर्गत जायसी का 'बारह मासा' अत्यन्त सफल है। उसमें 'वेदना का अत्यन्त निर्मल और कोमल स्वरूप, हिंदू दाम्पत्य-जीवन का अत्यन्त मर्मस्पर्शी माधुर्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की

साहचर्य भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यन्त स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है।'

वियोग-शृङ्गार के साथ-साथ 'पद्मावत' में संयोग-शृङ्गार के भी सफल चित्र मिलते हैं। उद्दीपन की दृष्टि से जिस प्रकार वियोग-शृङ्गार में 'बारह मासा' की विशेषता है उसी प्रकार संयोग-शृङ्गार में 'षट्-ऋतु-वर्णन' का महत्त्व है। जायसी ने प्रकृति को स्वतंत्र रूप में न देखकर उसे मनुष्य के आनन्द अथवा दुःख के रंग में रगी हुई देखा है और बड़े कौशल से उसके दोनों रूपों का चित्रण किया है। उन्होंने विविध प्रकार की वस्तुओं, रूप-सौंदर्य, युद्ध, यात्रा आदि के वर्णन में भी अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है।

जायसी ने 'पद्मावत' की रचना संस्कृत-प्रबन्ध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर न करके, फारसी की मसनवी शैली पर की है। कथा का खंडों में विभाजन, कथा-प्रारंभ के पूर्व ईश्वर-स्तुति, मुहम्मद साहब की वन्दना, गुरु का गुण-गान, तत्कालीन शासक शेरशाह की प्रशंसा, आत्म परिचय, छोटी-छोटी बातों का विस्तृत-वर्णन, वियोग तथा संयोग-वर्णन में वीभत्सता आदि बातें मसनवी-शैली के ही अन्तर्गत आती हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार जायसी ने षट् ऋतु-वर्णन, बारहमासा, रस, अलंकार आदि का भी सफल आयोजन किया है और चरित्र-चित्रण में भारतीय आदर्श की प्रतिष्ठा की है। उनके पात्र सत् और असत् दो प्रकार के हैं। रत्नसेन प्रेम का आदर्श है, नागमती और पद्मावती नारीत्व के दो रूप हैं, गोरा-बादल आदर्श वीर हैं और अलाउद्दीन, राघव चेतन आदि तामसी पात्र हैं।

जायसी हिन्दी के रहस्यवादी कवि हैं, पर उनका रहस्यवाद भारतीय परंपरा का रहस्यवाद नहीं है। भारतीय परंपरा के अनुसार रहस्यवादी कवि प्रियतम के रूप में भगवान की उपासना करता है। इसे 'माधुर्य भाव' कहते हैं। मीराँबाई और कबीर के रहस्यवाद में इसी 'माधुर्य भाव' की प्रधानता है। जायसी ने अपनी रहस्य-भावना में फारसी शैली का अनुकरण किया है। उन्होंने प्रेमिका के रूप में अपने ईश्वर की आराधना की है। उनके

अनुसार जीवात्मा 'आशिक' और परमात्मा 'माशूक' है। भारतीय परंपरा में सारे जीव नारी रूप हैं और उनका पति है परमेश्वर। इस प्रकार जायसी की रहस्य-साधना में जहाँ आशिक-माशूक का भाव है, वहाँ कबीर और मीराँ की रहस्य साधना में पति-पत्नी का। पति-पत्नी का प्रेम ही आदर्श प्रेम है और इसी के आधार पर भारतीय रहस्यवादियों ने अपनी काव्य साधना का परिचय दिया है।

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी के दो रूप हैं: (१) पूर्वी और (२) पश्चिमी। जायसी ने उसके पूर्वी रूप को ही अपनाया है, पर कहीं-कहीं पश्चिमी अवधी के रूप भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। उनकी शब्द-योजना बड़ी मधुर हैं। उसमें बहुत पुराने अप्रचलित शब्द भी सरस हो गए हैं। उनके वाक्यों में विभक्तियों, संबंधवाचक सर्वनामों और अव्ययों का लोप अवश्य खटकता है। उसमें न्यून महत्त्व दोष भी है जिससे अर्थ-सिद्धि में बाधा पहुँची है। जायसी की सूक्तियाँ और उक्तियाँ बड़ी मनोहर और सार-गर्भित होती हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा में विशेष माधुर्य आ गया है। अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति आदि और रसों में शृङ्गार, वीर, वीभत्स आदि प्रमुख हैं। सात चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम उनकी तीनों रचनाओं में मिलता है। अखरावट में वर्णमाला के एक-एक अक्षर को लेकर सिद्धान्त-संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गयी हैं और ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम, स्लाम, धर्म की महत्ता आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। आखिरी कलाम (सं० १५२८) में प्रलय (कयामत) का वर्णन है।

प्रेम-गाथा परंपरा में जायसी के पश्चात् उसमान का नाम आता है। उसमान गाजीपुर के निवासी थे और मुगल-सम्राट जहाँगीर (सं०१६२६-८४) के समय में वर्तमान थे। उनके पिता का नाम शेख हुसैन था। उन्होंने शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परंपरा में हाजी बाबा से दीक्षा ली थी। 'मान' उनका उपनाम था। सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सं० १६७० में उन्होने "चित्रावली' की रचना की जिसमें नैपाल का राजा धरनीधर पँवार के पुत्र

सुजान कुमार और रूप नगर की राजकुमारी चित्रावली का प्रेम-वर्णन है। अपनी इस रचना में उन्होंने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। मऊ (जौनपुर) निवासी शेख नबी-कृत 'ज्ञान दीप' (सं० १६७६) में राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की कथा है। कासिमशाह बाराबंकी जिले के अन्तर्गत दरियाबाद के निवासी थे और मुगल-सम्राट मुहम्मदशाह के शासन-काल (सं० १७७६-१८०५) में वर्तमान थे। उन्होंने 'हंस जवाहिर' नाम की एक कहानी लिखी जिसमें राजा हंस और रानी जवाहिर का प्रेम-वर्णन है। यह निम्न कोटि की रचना है। नूर मुहम्मद भी बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे और जौनपुर आजमगढ़ की सीमा पर स्थित 'सरबहद' नामक ग्राम के निवासी थे। उन्होंने दो काव्य-पुस्तकों की रचना की : (१) इन्द्रावती (सं० १८०१) और (२) अनुराग बांसुरी (सं० १८२१)। 'इन्द्रावती' में कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी है। 'अनुराग बांसुरी' का विषय तत्त्वज्ञान संबंधी है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर उन्होंने इसमें एक रूपक बांधा है। इन दोनों ग्रंथों की भाषा संस्कृत-गर्भित है। 'इन्द्रावती' में पाँच-पाँच चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे का क्रम है, पर 'अनुराग बाँसुरी' में चौपाइयों के बीच-बीच में बरवै का विधान मिलता है। नूर मुहम्मद फ़ारसी और हिंदी के अच्छे ज्ञाता थे। उनके पश्चात् शेख निसार (ज० सं० १७७६) ने 'युसुफ जुलेखा,' तथा ख्वाजा अहमद (ज० सं० १८८७) ने 'नूरजहाँ' (सं० १९६२) की रचना की। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'ऋतु वसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ और कुसुम रंग भूला॥
आहि कहां सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥'

—उसमान

'दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ। अमानुल्ला पिता कर नाऊँ॥
तहवाँ मोहिं जनम बिधि दीन्हा। कासिम नावँ, जाति कर हीना॥

तेहूँ बीच बिधि कीन्ह कमीना। ऊँच सभा बैठे चित दीना ॥
ऊँच संग, ऊँच मन भावा। तब भा ऊँच ज्ञान बुधि पावा ॥
ऊँच पंथ प्रेम का होई। तेहि महँ ऊँच भए सब कोई ॥'
—कासिमशाह

'तनुज एक राजा के रहा। अन्तःकरन नाम सब कहा ॥
सौम्यसील, सुकुमार, सयाना। सो सावित्री स्वांत समाना ॥
सरल सरनि जौ सो पग धरै। नगर लोग सूधे पग परै ॥
वक्र पंथ जो राखै पाऊँ। वहै अध्व सब होइ बटाऊँ ॥
रहे संघाती ताके पत्तनू ठाँव।
एक संकल्प, विकल्लप सो दूसर नावँ ॥'
—नूरमुहम्मद

**प्रेम-काव्य की विशेषताएँ**

यहाँ तक प्रेम-काव्य के जन्म और उसके विकास के संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि उसके विकास में अधिकतर उन सूफियों का हाथ रहा है जिन्होंने अन्य मत-मतांतरों के प्रति द्वेष भावना न रखते हुए भी 'कुरान शरीफ़' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है और अपनी एकान्त साधना के बल पर इस्लाम-धर्म का प्रचार किया है। भारत में इस्लाम-धर्म का स्थायी प्रभाव डालनेवालो में उनका सर्वोच्च स्थान है। धर्म के क्षेत्र में उनकी जैसी समन्वयवादी भावना रही है, वैसी ही समन्वय-वादी भावना उनके साहित्य में भी मिलती है। फ़ारसी और अरबी भाषाओं के विद्वान होते हुए भी उन्होंने इस्लाम-धर्म का संदेश सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए अवधी को अपनाया और हिन्दु-समाज की भावनाओं के आधार पर कल्पित प्रेम-कहानियों की सृष्टि की। इन प्रेम-कहानियों की वर्णन-शैली में भी भारतीय और फ़ारसी पद्धतियो का समन्वय दीख पड़ता है। मसनवी-शैली के अन्तर्गत दोहा-चौपाइयो का विधान उनकी समन्वय-वादी भावना का ही द्योतक है। प्रेम के वियोग पक्ष का चित्रण करने में उन्होंने अपनी अनुभूति का जो परिचय दिया है वह संपूर्ण हिंदी-काव्य का सर्वस्व हैं और उसके कारण वे हिन्दी-कवियो में अग्रगण्य हैं। रूप-

वर्णन और वस्तु-वर्णन की दृष्टि से भी वे हिंदी-कवियों के पथ-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। उन्होंने ही पहले-पहल 'इश्क मजाज़ी' अर्थात् 'लौकिक प्रेम' और 'इश्क हक़ीक़ी' अर्थात् 'आध्यात्मिक प्रेम' की सात्विक एकता का आदर्श सब के सामने रखा है और अपनी प्रेम-गाथा-शैली के सहारे इस बात को सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है कि पार्थिव प्रेम किस प्रकार आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो सकता है। उनके इस प्रेमादर्श को भारतीय संतों ने भी अपनाया है और अपने निराकार परमात्मा को अपनी प्रेम-लक्षणा-भक्ति का लक्ष्य बनाया है। साधना के क्षेत्र में गुरू का महत्त्व स्थापित करने और हिन्दू-समाज में सामूहिक एकता की भावना का प्रचार करने में उनके साहित्य ने जो योग-दान दिया है वह कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। इस्लाम धर्म का प्रचार करने और एक विशेष संप्रदाय का होने पर भी उनका साहित्य भारतीय विचार-धारा के बहुत निकट है और हमारे साहित्य का शृङ्गार है।

प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा में सूफ़ियों ने ही नहीं, अपितु हिन्दुओं ने भी रचनाएँ की हैं। खोज से पता चला है कि इस परंपरा के प्रवर्तक हिन्दू ही थे। चारण-काल में नरपति नाल्ह ने 'वीसल-देव रासो' (सं० १२१२) की रचना इसी परम्परा में की थी। यह हिंदी का सर्वप्रथम प्रेम-काव्य है। इसके पश्चात् ईश्वरदास-कृत 'सत्यवती की कथा' (सं० १५५८), गणपति-कृत 'माधवानल काम कन्दला' (सं० १५८४), कुशललाभ-कृत 'माधवानल काम कन्दला' (सं० १६१३), जटमल नाहर-कृत 'प्रेम विलास प्रेमलता कथा' (सं० १६१३), नन्ददास-कृत 'रूप मंजरी' (सं० १६२५), अकबर के समकालीन महाराज पृथ्वीराज (ज० सं० १६०६)-कृत 'वेलिक्रस्न रुक्मिणी' (सं० १६३७), दामोदर कवि-कृत 'माधवानल कथा' (सं० १७३७), पुहकर कवि-कृत 'रस रतन' (सं० १६७५) बोधा कवि-कृत 'विरह वारीश' (सं० १८०६ से १८१५ के बीच), चतुर्भुजदास कायस्थ-कृत 'मधुमालती' (सं० १८३७), जीवनलाल नागर-कृत 'उषाहरण' (सं० १८८६) आदि रचनाएँ मिलती हैं।

**भारतीय प्रेम काव्य**

---

# ८. राम-काव्य का विकास

**भारतीय धर्म-साधना का विकास**

भारतीय धर्म-साधना में ईश्वर अथवा मोक्ष की प्राप्ति के तीन साधन : (१) ज्ञान, (२) भक्ति और (३) कर्म माने गए हैं। ज्ञानमयी साधना बहुधा तर्क का सहारा लेती है और उसके साथ व्यवस्थित ढग से अग्रसर होती हुई अपने अंतिम ध्येय तक पहुँचने के लिए सचेष्ट होती है। परन्तु भक्तिमयी साधना तर्क-वितर्क के स्थान पर श्रद्धा, प्रेम एवं विश्वास पर अवलंबित रहती है और अपने लक्ष्य में दृढ़ आस्था रखते हुए उसकी ओर अग्रसर होती हैं। भक्ति वास्तव में एक प्रकार का अनुराग है जिसकी अभिव्यक्ति अनवरत नाम-स्मरण, गुण-गान, कीर्तन, पूजन, यज्ञ, ध्यान, आदि साधनों-द्वारा होती है। इन साधनों को ही 'कर्म' कहते हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज देव-पूजन, पितृ-पूजन, यज्ञ आदि करते थे और प्रार्थना-द्वारा अपने अभीष्ट ऐहिक सुख के लिए याचना भी किया करते थे। परन्तु कालांतर में प्रार्थना और पूजनादि की अपेक्षा वे याज्ञिक अनुष्ठानों को प्रधानता देने लगे जिससे वे पूरे कर्म-काण्डी बन गये। उपनिषद काल में इसके प्रति प्रतिक्रिया आरंभ हुई और यज्ञ-कर्म की अनुपयोगिता तक सिद्ध की जाने लगी। इस प्रकार के आंदोलन के प्रवर्तकों में कुछ तो ऐसे साधक थे जो तपश्चर्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे और कुछ ऐसे भी थे जो ईश्वर अथवा मोक्ष के बदले सांसारिक दुःखों की निवृत्ति मात्र चाहते थे। पहले प्रकार के साधक तपस्वी थे, दूसरे प्रकार के साधक ज्ञानवादी। आगे चलकर तप और ज्ञान के संयोग से योग-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई। बाद को यज्ञ-विरोधी आन्दोलनों के फलस्वरूप भक्ति-साधना को भी प्रोत्साहन मिला जो 'भागवत धर्म' के रूप में परिवर्तित हो गया। तात्पर्य यह कि जो साधना पहले स्तुतिज्ञान से

आरंभ हुई थी वह क्रमशः यज्ञ, तपश्चर्या, तत्त्वज्ञान, योग एवं भक्ति के पृथक-पृथक रूप धारण करने लगी। 'गीता' की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं, जिनमें से एक थी 'ज्ञान योग' और दूसरी थी 'कर्मयोग'। ज्ञान योग का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था। इसे 'निवृत्ति मार्ग' भी कहते थे। कर्मयोग का रूप मुख्यतः कर्मोपासना का था जिसके अनुसार यज्ञादि करना अनिवार्य था। इसे 'प्रवृत्ति मार्ग' भी कहते थे। श्रीकृष्ण ने इन दोनो को मर्यादित कर इनका 'ज्ञान-कर्म-योग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया। इसके साथ ही उन्होंने इसमें भक्ति-योग का भी पुट दे दिया। इस प्रकार उन्होने ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के समन्वय से भारतीय धर्म-साधना को एक नवीन रूप में प्रतिष्ठापित किया, परन्तु आगे चलकर यह समन्वयात्मक रूप भी परिवर्तित हो गया और चारों ओर यज्ञ संबंधी पशु-बलि एवं पाखंड की तूती बोलने लगी। ऐसी दशा में जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म नाम के दो आन्दोलन उठ खड़े हुए जिनमें न तो देवोपासना की प्रतिष्ठा थी और न ईश्वरोपासना की भावना का समावेश। दोनों किसी सीमा तक निरीश्वरवादी भी थे। फलतः उनके सर उठाते ही उनके विरुद्ध आन्दोलन आरंभ हो गये। प्राचीन व्यवस्थाओ के संरक्षणार्थ पुराणो की रचना की गयी, उपासना के अन्तर्गत तंत्रोपचार का समावेश किया गया, 'वैष्णव धर्म' की प्रतिष्ठा की गयी और देवताओं की भिन्न-भिन्न मूर्तियों की स्थापना की जाने लगी। आगे चलकर स्वामी शंकराचार्य (सं० ८४५-७७) ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया और एक नवीन मत का प्रवर्तन किया जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदान्त' और साधना अश को 'स्मार्त मार्ग' कहते हैं।

**सगुण-भक्ति का सूत्रपात**

स्वामी शंकराचार्य तत्त्वदर्शी थे अवश्य, पर उनके वेदान्त ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह सैद्धान्तिक दृष्टि से आकर्षक होने पर भी व्यावहारिक रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका। उनका अद्वैतवाद अधिक तर तर्क पर ही प्रतिष्ठित था और उनके स्मार्त धर्म के अन्तर्गत भक्ति-भाव द्वारा हृदय

पक्ष को प्रश्रय देता हुआ भी वह स्वभावतः मास्तिष्क पक्ष का ही अधिक समर्थक था। ऐसी दशा में भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए उसमें दृढ़ आधार का सर्वथा अभाव था। इस अभाव की पूर्ति स्वामी रामानुजाचार्य (सं० १०८४-११६४) ने अपने विशिष्टाद्वैतवाद-द्वारा की। अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनो ही यह मानते हैं कि परब्रह्म सत्य है और उसके अतिरिक्त जो कुछ गोचर है वह सब उसी की शक्तिमात्र है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ अद्वैतवाद उसे अस्थायी और असत्य मानता है वहाँ विशिष्टाद्वैत उसे स्थायी, सत्य, पर उसी परब्रह्म द्वारा प्रेरित बताता है। इसी बात को थोड़े शब्दों में यों कह सकते हैं कि अद्वैतवाद जिस संसार को असत्य ठहराता है उसे विशिष्टाद्वैत सत्य मानता है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जगत के सारे प्राणी, चित् और अचित्, उसी परब्रह्म के अंश हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसीसे में लीन होते हैं। लीन होने पर भी वे अपनी विशेषता बनाए रखते हैं, अपना आस्तित्व नहीं खो देते। भक्ति-द्वारा बैकुण्ट अथवा साकेत धाम की प्राप्ति करके परब्रह्म के समीप रहते हैं और उसके साथ आनन्द का उपभोग करते हैं। जीव का यह सम्मिलन 'अभिज्ञान-सम्मिलन' कहलाता है। अतः जीवों के लिए भक्ति-द्वारा परब्रह्म का सामीप्य-लाभ करना आवश्यक है। स्वामी रामानुजाचार्य के इन विचारों ने जनता को अधिक आकृष्ट किया और विष्णु अथवा नारायण की उपासना-पद्धति आरम्भ हुई। वैष्णव भक्ति के इस नवीन उत्थान के पश्चात् उसके अनेक प्रवर्तक हुए और उन लोगो के कारण उसकी अनेक शाखाएँ भी हो गयीं। निम्बकाचार्य (सं० ११७१-१२१६) ने अपने द्वैताद्वैत के आधार पर राधाकृष्ण की भक्ति का सूत्रपात किया, मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३) ने अपने द्वैतवाद के अनुकुल भक्ति को अंतिम निष्ठा का पद प्रदान किया और बल्लभाचार्य (सं० १५३६-८७) ने अपने शुद्धाद्वैत के अनुसार 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में वैष्णव श्री संप्रदाय के प्रधान आचार्य राघवानन्द के शिष्य स्वामी रामानन्द (सं० १३५६-१४६७) ने 'रामावत संप्रदाय' की स्थापना की। उन्होंने

स्वामी रामानुजाचार्य की उपासना-पद्धति ग्रहण करते हुए विष्णु के स्थान पर उनके अवतारी रूप 'राम' को 'लोक-रञ्जनकारी' रूप में सबके सामने रखा और मनुष्य मात्र को सगुण-भक्ति का अधिकारी बताया। इस प्रकार आलोच्य काल में हमें दो प्रकार की सगुण-भक्ति मिलती है : (१) राम-भक्ति (२) कृष्ण-भक्ति-इन दोनो का अपना-अपना साहित्य हैं।

**राम-काव्य का विकास**

हिन्दी-साहित्य में राम-काव्य की परम्परा का सूत्रपात कब से हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक खोजो से सातवीं शताब्दी में चतुर्भुज स्वयंभू, भूपति कवि (सं० १३४२), भगवतदास और चन्द्र के नाम मिलते हैं जिन्होंने राम-कथा के सम्बन्ध में रचनाएँ की हैं। मुनि लाल कवि-कृत 'राम-प्रकाश' (सं० १६४२) रीति-परम्परा का ग्रंथ है। इन ग्रन्थों में राम-भक्ति का वास्तविक रूप नही है। राम-भक्ति के प्रतिनिधि कवि **गोस्वामी तुलसीदास** ( सं० १५८९-१६८० ) थे। उनका जन्म भादों सुदी ११, मङ्गलवार को सोरों, जिला ऐटा अथवा राजापुर, जिला बाँदा में, हुआ था। वह सरयूपारी ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम आत्माराम और उनकी माता का नाम हुलसी था। उनका बचपन का नाम रामबोला था। बचपन में उन्हें बड़ी-बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् तो वह एक दम निराश्रय हो गये। ऐसी दशा में वह साधु-संतों के संपर्क में रहकर विद्याभ्यास करने लगे। उनके गुरु नरहरिदास थे और उन्हीं से सूकर क्षेत्र, वर्तमान सोरों, में राम-कथा सुनी थी। उनके साथ ही वह काशी आये और पञ्च गङ्गाघाट पर रहने लगे। यहाँ महात्मा शेषसनातनजी की सहायता से उन्होंने वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि का १५ वर्ष तक गम्भीर अध्ययन किया। इसके पश्चात् वह राजापुर चले गये और वहीं दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। तरुण तुलसी रत्ना के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर अपना सब कुछ भूल गये। एक बार उसके मायके चले जाने पर वह बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। उस समय रत्ना ने कहा :—

'लाज न लागत आपको दौरे आयहु पास ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को,कहा कहौ मैं नाथ ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामैं जैसी प्रीति ।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भवभीति ॥'

अपनी पत्नी का उक्त व्यङ्ग तुलसी सहन न कर सके। वह तुरन्त विरक्त होकर काशी चले गये। काशी में कुछ समय तक रहने के पश्चात् वह अयोध्या गये और वहाँ से जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका, बदरिकाश्रम, कैलाश, मानसरोवर, चित्रकूट आदि की यात्रा की। स० १६३१ मे अयोध्या जाकर उन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना आरम्भ की और उसे २ वर्ष ७ महीने में समाप्त किया। 'रामचरित मानस' का कुछ अंश अयोध्या में और शेष अंश काशी में लिखा गया। काशी में वह प्रहलाद घाट पर रहते थे। कुछ समय तक यहाँ रहने के पश्चात् वह अस्सी घाट चले गये। यहाँ उनसे मिलने भदैनी के एक भूमिहार ज़मीदार टोडर आया करते थे। टोडर उनके भक्त थे। सं० १६६६ में उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों में उनकी सम्पत्ति के लिए जो झगड़ा हुआ उसका निपटारा तुलसीदास ने ही किया था। यह निपटारा पंचायतनामा-द्वारा किया गया था जो अबतक काशी-नरेश के संग्रहालय में सुरक्षित है। उनके मित्रो में काशी के एक गंगाराम ज्योतिषी भी थे जिनके लिए उन्होंने 'रामाज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१) की रचना की थी। मधुसूदन सरस्वती, नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना (सं० १६१०-८३), राजा मानसिंह आदि भी उनके मित्र और प्रशंसक थे। वह मुगल सम्राट अकबर (सं० १५६६-१६६२) और जहांगीर (सं० १६६२-८४) के समकालीन थे। अकबर के शासन-काल के अंतिम दिनों अर्थात् सं० १६५६ में काशी में भयंकर उत्पात आरंभ हुआ और सं० १६७६ तक बराबर बना रहा। तुलसी ने इस अशान्ति काल को 'रुद्रबीसी' समझकर शिव से प्रार्थना की। उत्पात शान्त होने पर काशी में महामारी का प्रकोप हुआ। इसका प्रभाव तुलसी के स्वास्थ्य पर पड़ा। उनकी दाहिनी भुजा में पीड़ा होने लगी जो धीरे-धीरे समस्त शरीर में फैल गयी। साथ ही

उनके शरीर में फोड़े भी निकल आये। उन्हें शान्त करने के लिए उन्होंने राम, शिव, और हनुमान से प्रार्थना की, जिससे उन्हें कुछ शान्ति तो मिली, पर वह अपने प्राण की रक्षा न कर सके। श्रावण कृष्ण ३, सं० १६८० को वह परलोक सिधारे।

तुलसीदास का समय मुगल-साम्राज्य के उत्थान का समय था। उस समय तक हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के अधिक संपर्क में आ चुके थे। मुसलमानों की असहिष्णुता और धार्मिक कट्टरता भी अपेक्षाकृत कम हो चुकी थी और वे हिन्दू जनता के प्रति उदार हो चले थे। अकबर और जहाँगीर, दोनों कला और साहित्य प्रेमी थे। उनकी धार्मिक भावना भी उदार थी। वे अपने साम्राज्य की सीमा का विस्तार करने के लिए ही युद्ध करते थे। उनकी युद्ध-नीति धार्मिक भावना से अनुप्राणित नहीं थी। फिर भी हिन्दू आतंकित और श्री-हीन थे। उनमें उठने का साहस नहीं था। उनकी सामाजिक चेतना और धार्मिक भावना निष्प्राण हो चुकी थी। कबीर (सं० १४२५-१५०५) ने अपने सामयिक उपदेशों-द्वारा उनमें प्राण भरने की चेष्टा की थी, पर वे उन्हें केवल सान्त्वना ही दे सके, उनके सामने लोक-जीवन का कोई आदर्श उपस्थित न कर सके। जायसी (सं० १४८३-१५६६) ने भी अपनी प्रेम-कहानी-द्वारा उनका केवल मनोरंजन किया, उनके सामने किसी आदर्श की स्थापना नहीं की। तुलसी के पैनी दृष्टि इस अभाव की ओर गयी और उन्होंने उसकी पूर्ति के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोक रक्षक रूप का आदर्श सबके सामने रखा। उनका यह कार्य उनके समय के लिए उपयुक्त था। मृत्यु के मुख में जाता हुआ रोगी जिस प्रकार मृत संजीवनी पाकर सचेत हो उठता है उसी प्रकार तुलसी के राम ने निष्प्राण और श्री-हीन हिन्दू जाति में चेतना और स्फूर्ति भर दी। यही उनके व्यक्तित्व और उनके साहित्य की परम विशेषता है।

तुलसीदास उदार भक्त थे। उन्होंने किसी मत अथवा संप्रदाय का खंडन-मंडन नहीं किया। इस्लाम धर्मावलंबियों ने हिन्दू-जाति के प्रति जैसा व्यवहार किया, उस की भी उन्होंने आलोचना नहीं की। वह समदर्शी

और समन्वयवादी थे। उनमें किसी जाति अथवा किसी सम्प्रदाय के प्रति द्वेष भावना नहीं थी। वह सबका कल्याण चाहते थे। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने राम के आदर्श को प्रत्येक घर तक पहुँचाया था। वर्णाश्रम धर्म के पक्के समर्थक होते हुए भी उपासना के क्षेत्र में जाति-पाति की मर्यादा को वह व्यर्थ समझते थे। दार्शनिक क्षेत्र में वह विशिष्टाद्वैतवादी होते हुए भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद में आस्था रखते थे। वह साम्प्रदायिकता की सीमा में बंधे हुए भक्त नहीं थे। उन्होंने कभी मोक्ष की चिन्ता नहीं की। मोक्ष की अपेक्षा वह भक्ति को अधिक महत्त्व देते थे। राम की भक्ति में वह अपने जीवन और अपनी साधना का उत्कर्ष मानते थे। उन्होंने सेव्य-सेवक भाव से राम की उपासना की थी। वह राम को परब्रह्म और सीता को मूल प्रकृति मानते थे। उनका विश्वास था कि समस्त विश्व के मूल स्रोत होने के कारण उनके 'राम' ज्ञान स्वरूप और मायाधीश होने के कारण वह सगुण ब्रह्म भी हैं। राम की माया ही उनके संकेत पर सृष्टि का निर्माण और संहार करती है। समस्त विश्व माया के वशीभूत है। माया जनित संसार मिथ्या है। वह राम के सत्व से प्रतिभासित होकर सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और जीव में कोई भेद नहीं, जो भेद है वह केवल माया-जनित है। माया का बंधन राम-भक्ति द्वारा छूट सकता है। भक्ति, ज्ञान की अपेक्षा, अधिक श्रेष्ठ है। ज्ञान का पंथ 'कृपाण की धारा' है। भक्ति भगवान की कृपा से प्राप्त होती है। निर्गुण और सगुण में कोई भेद नही है। निर्गुण ब्रह्म भक्त के प्रेम से सगुण हो जाता है। सत्संग, गुरु-कृपा, नाम-स्मरण, तीर्थ-यात्रा, ब्राह्मण-सेवा, लोक-निरपेक्ष भाव, वासनाहीन प्रेम और शिव आदि देवताओं की उपासना से भक्ति पुष्ट होती है। ऐसे थे उनके दार्शनिक सिद्धान्त जिनके आधार पर उन्होंने राम को शिशु, शिष्य, पुत्र, भाई, पति, युवराज, सखा, तपस्वी, त्यागी, भक्त, रक्षक, पालक, नायक, राजा आदि कई रूपो में चित्रित कर उनके प्रत्येक रूप का एक आदर्श प्रस्तुत किया। नारी-समाज के सामने उन्होंने सीता का आदर्श रखा। कौशल्या के रूप मे माता की, वशिष्ट के रूप में गुरु की और भरत-लक्ष्मण के रूप में भाई की

प्रतिष्ठा हुई। तात्पर्य यह कि परिवार एवं समाज को सुसंगठित करने के लिए उन्होने जीवन के प्रत्येक अंग को अपनी प्रतिभा से आलोकित किया और सामूहिक रूप से उन सब का समन्वय राम के व्यक्तित्व में किया।

तुलसीदास ने लगभग तेरह काव्य ग्रंथों की रचना की। 'रामलला नहछू' (सं० १६१२) उनकी सर्वप्रथम रचना है। इसके पश्चात् 'जानकी मंगल' (सं० १६२०) 'रामाज्ञा प्रश्न' (सं० १६२१), 'वैराग्य संदीपनी' (सं० १६२६), 'रामचरित मानस' (सं० १६३१-३४), 'पार्वती-मंगल' (सं० १६४४),'कृष्ण-गीतावली' (सं० १६५०),'बरवै रामायण' (सं० १६६४) 'विनय पत्रिका' (सं० १६६६), 'गीतावली' (सं० १६६६), 'दोहावली' (सं० १६८०),'हनुमान बाहुक' (सं० १६८०) और 'कवितावली' (सं० १६८०) का स्थान है। 'रामचरित मानस' में तुलसीदास ने दशरथ सुत राम का संपूर्ण जीवन दोहा-चौपाइयों में चित्रित किया है और अपने दार्शनिक विचारों की व्याख्या की है। 'विनय पत्रिका' में उन्होंने राग-रागनियो में देवी-देवताओं की स्तुति की है और ज्ञान, वैराग्य, संसार की नश्वरता, मोह-माया आदि के संबंध में पद लिखे हैं। 'दोहावली' ४७३ दोहों का संग्रह मात्र है। इन दोहों में से कुछ नवीन हैं और कुछ उनकी अन्य रचनाओं से लेकर संगृहीत किए गए हैं। अधिकांश दोहे उपदेशात्मक और भगवद्-भक्ति-संबंधी हैं। 'कवितावली' में राम-कथा कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदी छन्दों में कही गयी है। 'गीतावली' का निर्माण 'सूरसागर' की शैली के अनुसार किया गया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में राम-कथा का निर्माण दोहों में किया गया है और उनका क्रम इस प्रकार रखा गया है कि प्रश्न-कर्ता को दोहों द्वारा ही शुभाशुभ परिणाम का पता चल जाता है। 'बरवै' में राम-कथा बरवै छन्द में कही गयी है। यह रस और अलंकार योजना प्रधान ग्रंथ है। 'रामललानहछू' में केवल २० सोहर छन्द हैं। 'कृष्ण-गीतावली' में कृष्ण-कथा का वर्णन है और स्फुट पदों का संग्रह है। 'वैराग्य संदीपनी' में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य तथा संत-महात्माओं के लक्षण दिए गए हैं। 'पार्ववती मंगल' में शिव-पार्वती का विवाह-वर्णन हरिगीतिका छन्द में किया गया है।

'जानकी मंगल' में राम और सीता का विवाह-वर्णन अरुण तथा हरिगीति का छन्दों में मिलता है। इनमें से 'रामचरित मानस' महाकाव्य और शेष खण्डकाव्य अथवा मुक्तक हैं।

'रामचरित मानस' तुलसीदास का वर्णनात्मक महाकाव्य है। इसमें दो प्रकार की कथाओं का सन्निवेश हुआ है: (१) प्रमुख और (२) गौण। राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसमें पौराणिक कथाएँ भी सम्मिलित कर दी गयी हैं। तुलसी की प्रबन्ध-पटुता अत्यंत प्रशंसनीय है। उनके कथोपकथन और चरित्र-चित्रण भी सजीव हैं। जीवन के अनेक मार्मिक स्थलों के चित्रण में उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। मानव-प्रकृति के उन्होंने अत्यंत सुन्दर चित्र उतारे हैं। उन्होंने अपने पात्रों के चित्रण में जिस प्रकार उनके शील एवं उनके अंतस की प्रवृतियों का आलेखन किया है उसी प्रकार उनके अंग-सौष्ठ को भी चित्रित किया है। उनके वाह्य दृश्य-चित्रण भी बहुत अनूठे हैं। उनका प्रकृति-वर्णन मनोरम होते हुए भी यथार्थ है। उसमें चित्रकारिता, कविता तथा प्रकृति-विज्ञान का लोकोत्तर चमत्कार है। भिन्न-भिन्न व्यापारो में तत्पर पात्र की मुद्रा तथा दिनचर्य्या के चित्रण में उन्हें जो सफलता मिली है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भावलोक के वह राजा हैं। थोड़े शब्दों में बहुत से भावों को भर देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। विनय, दैन्य, आत्म-समर्पण, शील, आत्मग्लानि, क्रोध, उत्साह, घृणा, राग, विराग आदि से सबंध रखनेवाले भावों के अंकन में वह अत्यन्त पटु हैं।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओ में सभी रसो का विधान अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। शृंगार, हास्य, करुण, वीर, वीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक और अद्भुत रसों के अनेक सुन्दर उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। रसो की भाँति ही उनका अलंकार-विधान भी प्रशंसनीय है। उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अनुप्रास, दृष्टान्त, उदाहरण, श्लेष, यमक आदि अलंकार उनकी रचनाओं मे स्वाभाविक ढग से आए हैं। रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन उन्होंने नहीं किया है। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक

ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावो अथवा तथ्यो की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। उनकी रचनाओं में शृङ्गार का अत्यन्त शिष्ट, मर्यादापूर्ण और मनोवैज्ञानिक वर्णन मिलता है। रति का भाव निम्न चौपाइयों में देखिए :—

**'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥**
**मानहु मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं ॥'**

तुलसीदास की भाषा अवधी है। उन्होंने अवधी के पूर्वी रूप को अपनाया है। पूर्वी अवधी के दो रूप उनकी रचनाओं में मिलते हैं: (१) ठेठ अवधी और (२) साहित्यिक अवधी। ठेठ अवधी की जो मिठास जायसी कृत 'पद्मावत' में मिलती है वही 'जानकी मगल' 'पार्वती मगल', 'बरवै' और 'रामलला नहछू' में मिलती है। साहित्यिक अवधी का उदाहरण 'रामचरितमानस' है। इसकी रचना अत्यन्त संस्कृत-गर्भित है। अवधी के अतिरिक्त तुलसीदास का ब्रजभाषा पर भी अधिकार है। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हमें 'गीतावली' और 'कृष्णगीतावली' में मिलता है। वीरगाथा-काल की राजस्थानी-मिश्रित भाषा, भोजपुरी और बुन्देलखंडी से प्रभावित भाषा का भी तुलसीदास ने प्रयोग किया है। अपनी शब्द-योजना में उन्होंने शब्दों की तोड-मरोड़ अथवा खींचा तानी नहीं की है। अरबी और फ़ारसी के तद्भव शब्दो को उन्होंने अत्यन्त कौशल से अपनाया है। उनकी भाषा में सरलता, बोधगम्यता, सौंदर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज इत्यादि सभी गुणों का समावेश है। भाव, विषय और अवसर के अनुकूल भाषा की सृष्टि करने में वह बेजोड़ हैं।

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में अपने समय की सभी प्रचलित काव्य-शैलियों का सन्निवेश सफलतापूर्वक किया है। वीर गाथा-काल की छप्पय-शैली, विद्यापति और सूर की गीत-शैली, जायसी की दोहा-चौपाई-शैली, भाटों की कवित्त-सवैया-शैली, कबीर की दोहा-शैली, रहीम की बरवै-शैली, गॉववालों की सोहर-शैली आदि को उन्होने अपनाया है और उन पर अपने व्यक्तित्त्व, अपनी विद्वता और अपनी प्रतिमा की छाप लगाई है।

वह अपने प्रत्येक छन्द में बोलते हुए ज्ञात होते हैं। उनका कोई भी छन्द शिथिल नहीं है। विषय, भाव और अवसर के अनुकूल छन्दों का विधान करने में वह बेजोड़ हैं। वीरगाथा-काल की छप्पय शैली का उदाहरण लीजिए :—

'कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
बिकट कटक बिद्दरत वीर वारिद-जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
'तुलसी' पवन-नंदन अटल, जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥'

विद्यापति और सूर की गीत शैली का उदाहरण लीजिए :—

'जौ हौं मातुमते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानि है साँची?
महिमा मृगी कौन सुकृती की खल बच-बिसिषन्ह बाँची?'

कबीर की दोहा शैली का उदाहरण लीजिए :—

'राम बाम दिस जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु 'तुलसी' तोर॥
उरग, तुरंग, नारी, नृपति, नर, नीचो हथियार।
'तुलसी' परखत रहब नित, इनहिं न पलटत बार॥
गो-धन, गज-धन, बाजि-धन, और रतन-धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान॥'

जायसी की चौपाई शैली का उदाहरण लीजिए :—

'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृत मंजुतन बिमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु मुकुर-मल हरनी। किए तिलक गुन-गन-बस करनी॥'

भाटों की कवित्त-सवैया शैली का उदाहरण लीजिए :—

'पुर ते निकसी रघुबीर-बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिर बूझत हैं चलनोऽब कितो, प्रिय! पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

गाँव वालों की सोहर शैली का उदाहरण लीजिए :—

'देखि सपुर परिवार जनक हिय हारेउ।
नृप समाज जनु तुहिन बनज बन मारेउ॥
कौसिक जनकहिं कहेउ, देउ अनुसासन।
लखहिं भानुकुल भानु इसान सरासन॥'

रहीम की बरवै शैली का उदाहरण लीजिए :—

कुंकुम तिलक भाल श्रुति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल॥
केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥'

सारांश यह कि रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण, वस्तु व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना, कथोपकथन, शिष्ट मर्यादा, आत्मोन्नति, सहृदयता, सदाचार, दृष्टिकोण की व्यापकता, मार्मिक स्थलों की पहचान, लोक धर्म की व्यवस्था, भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार आदि की दृष्टि से तुलसीदास का स्थान हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च है।

राम-काव्य-परंपरा के अन्य कवियों में सर्वप्रथम स्वामी अग्रदास का नाम आता है। वह रामानन्द की प्रशिष्य-परंपरा में थे और सं० १६३२ में वर्तमान थे। 'हितोपदेश उपखाणाँ बावनी', 'ध्यान मंजरी', 'रामध्यान मंजरी' और 'कुंडलिया' नाम की उनकी चार काव्य पुस्तकें मिलती हैं। उनकी काव्य शैली कृष्णोपासक नन्ददास की शैली है। उनके शिष्य नाभादास (सं० १६५७ में वर्तमान) ने भी राम-काव्य-परंपरा में 'अष्टयाम' की रचना की है जो दोहा-चौपाइयों में है। प्राणचन्द चौहान-कृत संवाद-प्रधान 'रामायण महानाटक' (सं० १६६७), हृदयराम-कृत

'हनुमन्नाटक' (सं० १६८०) आदि भी उक्त परंपरा में आते हैं। आगे चलकर यह परंपरा विकृत-सी हो गयी। विषय-वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण उसके अन्तर्गत शृङ्गारी भावना का प्रवेश हो गया। इस शृङ्गारी भावना के प्रवर्तक थे 'रामचरित मानस' के प्रसिद्ध टीकाकार अयोध्या के जानकी घाट-निवासी महंत रामचरण दास जिन्होंने पति-पत्नी भाव से उपासना का सूत्रपात किया। इसके पश्चात् चिरान-छपरा के जीवाराम तथा अयोध्या के युगलानन्य-शरण ने इस शृङ्गारी उपासना का और भी प्रचार किया। फलस्वरूप मंदिरों में राम की 'तिरछी चितवन' और 'बांकी अदा' के गीत गाए जाने लगे। अयोध्या में अब भी चैत्र कृष्ण नवमी को प्रति वर्ष इस 'रसिक शाखा' के उपासकों का मेला लगता है। राम-काव्य के कुछ उदाहरण लीजिए :—

'पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मतिमंद अंध नहिं जोवत ॥
अपमारग मारग महि जान्यो। इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो ॥
औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार ॥'

—अग्रदास

'अवधपुरी की सीमा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष-श्रुति तैसी ॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन-भावन ॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुर बीस जोजन रस-रूपा ॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावन। मनिमय तीरथ परम सुहावनि ॥'

—नाभादास

'कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा ॥
तादिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलीम दिलीपति थाना ॥
संवत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा ॥
जो सारद माता कर दाया। बरनौं आदि पुरुप की माया ॥'

—प्राणचंद

जानकी को मुख न विलोक्यो ताते कुंडल,
न जानत हौं, वीर पायँ छुवै रघुराइ के।

हाय जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
तातें कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाइ के ॥
पायँन के परिबे को जाते दास लछमन,
यातें पहिचानत हैं भूषन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ है एई जुग,
नूपुर हैं तेई रामजानत जराई के ॥

—हृदय राम

राम-काव्य की विशेषताएँ

राम-काव्य के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उसका जो प्रवाह गोस्वामी तुलसीदास से आरंभ हुआ था वह बराबर चलता रहा और आज भी उसकी लोक-प्रियता ज्यों-की-त्यो बनी हुई है। इसका मुख्य कारण है, उसकी समन्वयात्मक भावना। राम के भक्तो ने राम के व्यक्तित्व को किसी मत विशेष के प्रभाव के अन्तर्गत न रखकर उसमें सभी मत-मतांतरों का समन्वय किया है। क्या निर्गुण, क्या सगुण, क्या वैष्णव और क्या शैव, सब के प्रति उनकी उदार भावना रही है और सब को उन्होंने राम-भक्ति के लिए अनिवार्य समझा है। धार्मिक सिद्धान्तों के समन्वय के साथ ही उन्होने ऊँच-नीच, सुपात्र-कुपात्र, मानव-दानव, संत-असंत, ब्राह्मण-शूद्र, सब को समान रूप से राम-भक्ति का अधिकारी बताया है और उनमें सामाजिक भावना जागरित की है। राम के व्यक्तित्व में उन्होंने जिस शक्ति, जिस शील और जिस सौदर्य की सामूहिक रूप से स्थापना की है वही आध्यात्मिक पक्ष में भक्ति-भावना और लौकिक पक्ष में सामाजिक भावना की जननी है। दुष्टों के संहार में राम की शक्ति का, पंडितो के उद्धार में राम के शील का और नर-नारियो को आकृष्ट करने में राम के सौदर्य का जो परिचय हमें राम-काव्य में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। धर्म और समाज की विभिन्न प्रतीपी प्रवृत्तियो को व्यवस्थित, संतुलित और संगठित करने मे राम का व्यक्तित्व अनन्य है। हिन्दी-साहित्य में राम की प्रतिष्ठा होने के पूर्व संत अपनी वाणी और सूफ़ी अपने प्रेमाख्यान सुना चुके थे। संत-साधना मे

लोक-पक्ष का सर्वथा अभाव, और सूफ़ी-साधना में जीवन के केवल प्रेम-पक्ष का समर्थन था। राम-भक्ति के साधकों ने हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम लोक-धर्म की स्थापना की जिसके कारण हमारी संस्कृति एवं मर्यादा को नष्ट करनेवाली धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों का अन्त हो गया और हृदय-पक्ष तथा रागात्मिका-प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली सच्ची भक्ति की भावना उद्दीप्त हुई। इस सच्ची भक्ति की भावना मे राम की भाँति ही सीता को भी स्थान मिला। यदि राम पुरुष-समाज के आदर्श बने तो सीता ने नारी-समाज के सामने अपना आदर्श प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से राम-काव्य की विशेषता अपने में महान है।

राम-भक्ति की एक विशेषता और है और वह है उसके अन्तर्गत हनुमानजी की उपासना का प्रादुर्भाव। हनुमानजी की उपासना का सूत्रपात सर्वप्रथम स्वामी रामानन्द ने किया था। उनके मार्ग पर चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने भी हनुमानजी की वन्दना की और 'हनुमान बाहुक' नाम का एक छोटा-सा स्वतंत्र काव्य-ग्रंथ लिखा। सं० १६८० में हृदय राम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' और सं० १६६६ में राय मल्ल पांड़े ने 'हनुमच्चरित' की रचना की। इसी परंपरा में अयोध्या के महंत बाबा रामचरण दास ने 'हनुमत्संहिता' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकार राम-काव्य के अन्तर्गत हनुमानजी की उपासना का भी महत्त्व बढ़ गया। जगह-जगह मंदिरों में हनुमानजी की मूर्तियाँ स्थापित हो गयीं और भगवान राम की भांति हिन्दू-हृदयों में उनका भी प्रवेश हो गया। राम-काव्य में राम से अधिक राम के दास हनुमान को महत्त्व देनेवाला अंश उसकी विशेषता को चार चाँद लगा देता है।

साधना और लोक-धर्म की व्यवस्था की दृष्टि से राम-काव्य का जो महत्त्व है उसके अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टि से भी उसकी अपनी विशेपता है। उसके कवियो ने अवधी के प्रचार एवं प्रसार में विशेप योग दिया है और उसमें सब प्रकार की रचनाएँ की हैं। दोहा, चौपाई, छप्पय, कवित्त,

सवैया, पद, गीत आदि काव्य-शैलियों को उसमें बराबर स्थान मिला है और कई प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई है।

कहा जाता है कि कृष्ण काव्य की भाँति राम-काव्य की परंपरा अधिक विकसित नहीं हुई। यह बात सत्य है और इसका कारण यह है कि गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान राम के पुनीत जीवन को भारतीय समाज के बीच जिस रूप में प्रस्तुत किया वह इतना मर्यादापूर्ण इतना दिव्य, इतना कठोर, इतना गंभीर और इतना संयम-सापेक्ष था कि उसमें विकास के लिए कोई स्थान ही नहीं था। उनकी रचनाओं के पश्चात् कई रामायणें लिखी गयीं, पर वे समादृत न हो सकीं। उनकी प्रतिभा का प्रकाश सौ-डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि राम-भक्ति की अन्य रचनाएँ भी उनकी रचनाओं की तुलना में स्थायित्व प्राप्त न कर सकीं। कृष्ण-काव्य के संबंध में यह तर्क लागू नहीं होता। उसके प्रतिनिधि कवि सूर ने अपने इष्टदेव कृष्ण को तुलसी के इष्टदेव राम की भाँति जन-जीवन के बीच प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को न लेकर उनके केवल बाल-रूप और तरुण-रूप को ही चित्रित किया और वह भी वात्सल्य और प्रेम की सीमाओं के भीतर। इसलिए उनके पश्चात् भी कृष्णोपासना में विकास के लिए पर्याप्त स्थान था और ऐसा हुआ भी। किसी ने कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव के गीत गाये, किसी ने राधा को अपना उपास्य माना और किसी ने राधा-कृष्ण की सम्मिलित उपासना की। राम-काव्य के अन्तर्गत विकास की इतनी स्वतंत्रता नहीं थीं। कृष्ण-काव्य में कृष्ण-लीला की प्रतिष्ठा हुई जो विकास-सापेक्ष थी; रामकाव्य में राम के संपूर्ण जीवन की प्रतिष्ठा हुई जिसमें विकास हो ही नहीं सकता था।

---

# ६. कृष्ण-काव्य का विकास

भारतीय-साधना में राम-भक्ति के विकास के अनुरूप ही कृष्ण-भक्ति का भी विकास हुआ है। वाल्मीकि-कृत 'रामायण' के पश्चात् जिस प्रकार राम विष्णु के अंशावतार माने गए हैं और उनके व्यक्तित्व में देवत्त्व की प्रतिष्ठा की गयी है उसी प्रकार वेद व्यास-कृत 'महाभारत' के पश्चात् श्रीकृष्ण विष्णु के अंशावतार नहीं, वरन् पूर्ण अवतार माने गए हैं और उनके व्यक्तित्व में देवत्त्व की प्रतिष्ठा की गयी है। 'महाभारत' के प्रारम्भिक वर्षों में वह अवतारी नहीं स्वीकार किए गये। 'गीता' में उनकी अवतारणा विष्णु की सपूर्ण कलाओं को लेकर नर-लीला करने तथा संसार का भार उतारने के लिए हुई, पर उस समय उन्हें साम्प्रदायिक रूप नहीं मिला। ऐतिहासिक दृष्टि से श्रीकृष्ण की भक्ति का उल्लेख ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व से मिलता है। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के शासन-काल (सं० २६४ वि० पू०—सं० २४१ वि० पू०) में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ के विवरण के अनुसार मथुरा और कृष्णपुर में कृष्ण की उपासना होती थी। पौराणिक काल (सं० १५५ वि० पू० से सं० ५६०) मे जब प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीक देवताओ की पुनः सृष्टि हुई और उन्हें और भी अधिक स्पष्ट, साकार तथा सजीव रूप प्रदान किए गये तब भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना की जाने लगी और उनकी लीलाओं के वर्णन का साहित्य भी बनने लगा। यही नहीं, देवताओं की भिन्न-भिन्न मूर्तियों की स्थापना भी होने लगी और उनके लिए मदिरो का निर्माण भी होने लगा। साथ ही उनमें मानवोचित कोमल वृत्तियों की भी कल्पना की जाने लगी और फिर उनमें सात्विक गुणो का इतना विस्तृत आरोप कर दिया गया कि वे हमारी भक्ति से प्रेरित होकर हमें उवार भी सकते हैं। आगे चलकर उनके स्वभाव और गुणो के

कृष्ण-भक्ति का सूत्रपात

अनुरूप उनका वर्गीकरण भी कर दिया गया और सारे विश्व के सृजन, पालन एवं संहार की क्षमता का उनके व्यक्तित्व में समावेश कर दिया गया। ऐसे ही वातावरण में राम-भक्ति के साथ-साथ कृष्ण-भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। 'हरिवंश पुराण', 'वायु पुराण' और 'भागवत पुराण' में श्रीकृष्ण के जिस रूप की प्रतिष्ठा हुई उसने आगे चलकर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का रूप धारण कर लिया। निम्बकाचार्य (सं० ११७१-१२१६), मध्वाचार्य (सं० १२५४-१३३३); वल्लभाचार्य (सं० १५३६-८७) तथा चैतन्य देव (सं० १५४२-९०) ने अपने-अपने सम्प्रदाय प्रचलित किये और उन्होंने कृष्ण भक्ति की धाक क्रमशः सारे देश पर जमा दी। निम्बकाचार्य के सनक अथवा टट्टी संप्रदाय वाले भक्त का पूर्णतः भगवद्भावापन्न होकर सभी दुःखों से रहित हो जाना ही मुक्ति का लक्ष्य मानते थे; मध्वाचार्य के सत् संप्रदाय वाले भगवान में प्रवेश कर और उसके साथ मुक्त होकर समग्र आनन्द का उपभोग करना मुक्ति का अंतिम उद्देश्य मानते थे; वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्गी उक्त अंतिम स्थिति का स्वरूप विशेषतः भगवान के अनुग्रह-द्वारा उसके साथ एक प्रकार का अभेद-बोधन मानते थे और चैतन्यदेव के रागानुगा-मार्गी हरिनाम का स्मरण तथा कीर्तन-द्वारा भगवान के धाम में प्रवेश पा लेना सर्वोत्तम समझते थे। हिन्दी-साहित्य के कृष्ण-काव्य पर उक्त सभी संप्रदायो का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा, पर उस पर सबसे अधिक प्रभाव वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग का है।

**पुष्टि मार्ग और अष्टछाप के कवि**

वल्लभाचार्य का पुष्टि मार्ग भगवान श्री कृष्ण के अनुग्रह पर आश्रित है। उसके अनुसार जिस भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है और उसी अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणों से सपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। इस रूप की सब लीलाएँ नित्य हैं। भगवान् की इस नित्य 'लीला' में प्रवेश करना ही जीव की सब से उत्तम गति है। वल्लभाचार्य ने जीव

के तीन प्रकार माने हैं : (१) पुष्टि जीव, (२) मर्यादाजीव और (३) प्रवाह जीव। जो जीव भगवान के अनुग्रह पर आश्रित रहते हैं और नित्य लीला में प्रवेश पाते हैं वे **पुष्टि जीव** हैं, जो जीव वेद की विधियो का अनुसरण करते और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं वे **मर्य्यादा जीव** हैं और जो जीव संसार के प्रवाह में पड़कर सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं वे **प्रवाह जीव** हैं। पुष्टि जीव केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर ही कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं। कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भक्त का हृदय कृष्ण का स्थान बन जाता है। संक्षेप में, यही वल्लभाचार्य का 'पुष्टि मार्ग' है। पुष्टि मार्ग में आठ प्रसिद्ध कवि मिलते हैं जिन्हे हम **अष्टछाप के कवि** कहते हैं। उनके नाम हैं : (१) सूरदास, (२) कृष्णदास, (३) परमानन्द दास, (४) कुंभनदास, (५) छीत स्वामी, (६) नन्ददास, (७) चतुर्भुजदास और (८) गोविन्द स्वामी। इनमे से भक्त सूरदास और नन्ददास अधिक प्रसिद्ध हैं।

**सूरदास** (सं० १५४०-१६२०) का जन्म कहाँ हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनकी जन्म तिथि वैशाख शुक्ल ५ मानी जाती है, पर उनके जन्म स्थान के संबंध में मत-भेद है। कुछ लोग उनका जन्म-स्थान दिल्ली के निकट 'सीही' ग्राम और कुछ लोग आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे स्थित रुनकता ग्राम बताते हैं। इसी प्रकार उनके माता-पिता, परिवार और संन्यास के सम्बन्ध में भी विद्वान एक मत नहीं हैं। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'भक्त माल' के साक्ष्य से वह सारस्वत ब्राह्मण थे और आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर रहा करते थे। कहा जाता है कि एक बार वल्लभाचार्य (स० १५३६-८७) यहाँ आये और सूरदास उनसे मिलने गये। उस समय सूरदास ने उन्हें एक पद गाकर सुनाया जिसे सुनकर उन्होंने सूरदास को अपना शिष्य (सं० १५८०) बना लिया और उन्हे श्रीनाथ के नव निर्मित मंदिर ( सं० १५७६ ) की कीर्तन-सेवा सौंप दी। तब से सूरदास इसी मंदिर में रहने लगे। यहीं रहकर उन्होंने अपनी सब रचनाएँ कीं। एक बार तान-

सेन (सं० १५५७-१६४६) भी उनसे मिलने के लिए यहाँ आए थे। सूरदास जन्मांध नहीं थे। किसी कारण बाद को वह अंधे हो गए थे। वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विठ्ठलनाथ ( मृ० सं० १६४२ ) के सामने गोवर्द्धन पर्वत की तलहटी के पारसोली ग्राम में उनका स्वर्गवास हुआ। उस समय उन्होंने निम्न पद गाया था :—

**'अंजन नयन रूप-रस माते।**
**अतिशय चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥**
**चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलट-पुलट ताटंक फँदाते।**
**'सूरदास' अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥'**

सूर-साहित्य कितना है, इसका अभी तक निश्चय नहीं किया जा सका है। उनके लिखे 'सूरसागर' (सं० १५८७ के अनतर) 'सूर सारावली' (सं० १६०५), 'साहित्य लहरी' (सं० १६०७) 'नल दमयन्ती', 'ब्याहलो', 'पद संग्रह' और 'नागलीला' 'हरिवंश की टीका' आदि ग्रन्थ बताए जाते हैं, पर अबतक केवल प्रथम तीन पुस्तकें ही प्राप्त हो सकी हैं। 'सूरसागर' उनका प्रतिनिधि काव्य-ग्रंथ है। उसका आधार 'भागवत' का मुख्यतः दशम स्कंध है और उसके शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्ति के रूप में कही गयी है। इस प्रकार उसमें कृष्ण-जन्म से श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकल पदों में मिलती है। ऐसे पदों की संख्या सवालाख बताई जाती है, पर उनमें से अब केवल पाँच हजार से कुछ अधिक पद मिलते हैं, जो बारह स्कंधों में फैले हुए हैं। विषय की दृष्टि से उन समस्त पदों को हम चार विभागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) विनय और भक्ति के पद, (२) अवतार सम्बन्धी पद, (३) कृष्ण-लीला-संबंधी पद और (४) दार्शनिक तत्व संबंधी पद। विनय और भक्ति के पदों में भगवान की प्रार्थना के पद, विनय के पद, भक्ति-भावना-संबंधी पद, गुरु महिमा संबंधी पद और सन्त-महिमा संबंधी पद हैं। अवतार-कथा संबंधी पदों में प्रायः सभी अवतारों का वर्णन है। कृष्ण-लीला संबंधी पदों में बाल-लीला, गोचारण, दान-लीला, चीरहरण-लीला, रासलीला, मान-लीला,

माखन-लीला, रूप-माधुरी, मुरली-माधुरी आदि का स्फीत चित्रण है। दार्श-निक तत्त्व-संबंधी पदों में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण है। ऐसे पदों का समावेश मुख्यतः भ्रमरगीत के अन्तर्गत हुआ है।

सूर की काव्य-साधना का मुख्य ध्येय है प्रेम-निरूपण। अपने इस ध्येय में उन्हें पूरी सफलता मिली है। प्रेम के आघात-प्रतिघातो को समझने में वह अप्रतिम हैं। अपने प्रेम-निरूपण के लिए उन्होंने बालकों का हृदय टटोला है, माता के हृदय में प्रवेश किया है, पिता के हृदय को परखा है, गोप-गोपिकाओं के हृदय को देखा है और परकीया राधा के हृदय की थाह ली है। इस प्रकार वात्सल्य और शृङ्गार के जैसे सुन्दर चित्र उन्होने उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। कृष्ण की बाललीला वात्सल्य-रस-प्रधान अंश है। इस अश के चित्रण मे सूर की काव्य-प्रतिभा का विकासारंभ हुआ है। वल्लभ-संप्रदाय में कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही विशेष महत्त्व है। इस-लिए सूर ने कृष्ण के बाल-जीवन के चित्र बड़े कौशल से अंकित किए हैं। उनके इस प्रकार के चित्र चार भागों में विभाजित किए जा सकते हैं: (१) रूप-सौदर्य के चित्र, (२) चेष्टाओं और क्रीडाओं के चित्र, (३) अन्तर्भावों के चित्र और (४) सस्कारों, उत्सवों तथा समारोहों के चित्र। रूप-सौन्दर्य के चित्रण में सूरदास ने बालकृष्ण के लौकिक और अलौकिक, दोनो पक्षों पर ध्यान दिया है। बाल कृष्ण जन्म लेते ही अपने विराट रूप का दर्शन कराते हैं। असुरों के बध के समय तथा अन्य अवसरों पर वह अपने इस रूप का परिचय सब को देते हैं, पर इससे उनके लौकिक रूप-चित्रण में बाधा नहीं पड़ती। उनका लौकिक रूप-चित्रण उतना ही आकर्षक है जितना अलौ-किक रूप चित्रण भव्य और अद्भुत। बाल-कृष्ण की क्रीडाओ तथा चेष्टाओं के चित्र भी रूप-सौदर्य के चित्रो की भाँति मोहक और हृदयग्राही हैं। आरभ में कृष्ण कभी मचलते हैं, कभी नाचते हैं, कभी घुटने के बल चलते हुए परछाईं पकड़ते हैं, कभी नंद के साथ खाना-खाने बैठते हैं। इसके पश्चात् जब वह बडे होते हैं तब उनकी शरारतें और भी बढ़ जाती हैं। माखन चुरा कर खाने में, पनिहारियो को तंग करने मे, ग्वालिनो के साथ छेडखानी

करने में, दही-दूध लूटने में, गोपिकाओं का वस्त्र नोचने में, खेल में बाजी हार जाने पर दाँव न देने में, अपनी बारी आने पर सब को थका देने में, मीठी-मीठी बातें बनाने में और फिर झूठ बोलने में भी वह सिद्धहस्त हो जाते हैं। सूर ने इन सब को अपने वात्सल्य-चित्रण के अन्तर्गत स्थान दिया है। झूठ बोलने और बातें बनाने का एक उदाहरण लीजिए :—

**'मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।**
**भोर भयो गैयन के पाछे मधुबन मोहिं पठायो।**
**चार पहर बंसीबट भटक्यो, सांझ परे घर आयो॥**
**मैं बालक बहियन को छोटो, छींको किस विधि पायो।**
**ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो॥'**

यह है कृष्ण की बाल-सूझ! कौन है ऐसी माता जो अपने बालक के इस भोलेपन पर न रीझती हो! इसमें बाल-हृदय की जैसी सुंदर व्यंजना है वैसी किसी साहित्य में नहीं मिलती। इसी प्रकार अन्तर्भावों के चित्र भी अत्यन्त अनूठे हैं। बालकृष्ण की स्पर्द्धा का सुंदर भाव इन पंक्तियों में देखिए : —

**'मैया! कबहिं बढ़ैगी चोटी।**
**कितिक बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।**
**तू जो कहति बल की बेनी-ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी॥'**

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के वचन का रस लीजिए :—

**'खेलत में को काको गोसैयाँ।**
**जाति-पांति हम तैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।**
**अति अधिकार जनावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥'**

सूर के वात्सल्य का वर्णन कृष्ण-जन्म से होता है। इसलिए उन्होंने विविध उत्सवों का वर्णन भी सफलतापूर्वक किया है। उनके पदों में छठी-व्यवहार-वर्णन, अन्न प्राशन लीला, वर्षगांठ-लीला, कनछेदन-लीला, घुटरु-अन चलनि, पायन-चलनि आदि की सुन्दर झांकियाँ मिलती हैं। इन

झाँकियों का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। यशोदा के लिए जो वात्सल्य भाव है वही भक्तो की भक्ति की आधार-शिला है।

कृष्ण की बाल-लीला के साथ-साथ सूर ने उनकी प्रेममयी लीलाओं के भी अनूठे चित्र उतारे हैं। कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ उनकी तरुणावस्था के पूर्व से ही आरंभ हो जाती हैं। बाल्यावस्था मे गोपियों के साथ उनकी जो छेड़छाड़ है वह उनकी तरुणाई मे आते-आते प्रेम में परिणत हो जाती है। राधा स्वतः प्रेम की साकार प्रतिमा हैं। कृष्ण के प्रति उनका व्यक्तिगत प्रेम है। उन्हीं के द्वारा ब्रज के कण-कण में कृष्ण का प्रेम व्याप्त होता है। प्रेम के दो पक्ष हैं : (१) संयोग और (२) वियोग। गोकुल में जबतक कृष्ण रहे तबतक उनका सारा जीवन संयोग-पक्ष है। दानलीला, माखन-लीला, चीरहरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओं पर सहस्रों पद 'सूरसागर' में मिलते हैं। प्रेम के प्रारंभिक रूप का परिचय इन पंक्तियों में देखिए : —

**'धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।**
**एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहाँ प्यारी ठाढ़ी।**
**मोहन-कर तें धार चलति पय, मोहन मुख अतिही छबि बाढ़ी॥'**

शृङ्गार के अन्तर्गत भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष, दोनो के अत्यन्त विस्तृत और अनूठे वर्णन सूर की रचनाओं में मिलते हैं। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में ही सैकडों पद कहे गए हैं। आँख, नाक, कान, मुख, सँव के वर्णन सजीव और मनोहर हैं। मुरली तक में, प्रेम के प्रभाव से, गोपियों की ऐसी सजीवता दिखाई पड़ती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में लगा देती है :—

**'मुरली तऊ गोपालहिं भावति।**
**सुन री सखी! जदपि नन्द-नन्दहिं नाना भाँति नचावति।**
**राखत एक पाएं ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति॥**
**आपुनि पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव पलुटावति।**
**भृकुटी कुटिल नैन नासा पुट, हम पर कोपि करावति॥**

संयोग शृङ्गार के अतिरिक्त सूर ने वियोग शृङ्गार का भी अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की विरह-वेदना का उन्होंने जितना अनुभव किया, उतना हिन्दी के किसी कवि ने नहीं किया है। वियोग की सभी दशाओं का चित्रण उनकी रचनाओं में मिलता है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'निसिदिन बरसत नैन हमारे।
कंचुकि नहिं सूखत सजनी ! उर बिच बहत पनारे॥'

× × ×

'दिया बिनु सांपिनि कारी रात।
कबहुँ जामिनि होति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥'

× × ×

'एहि बेरियाँ बन तें चलि आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि, बारं बार बजावते॥'

× × ×

'मधुवन ! तुम कत रहत हरे।
बिरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुम को, फिर सिर पहुप धरे॥'

उक्त वियोग की असहनीय घड़ियों में एक दिन कृष्ण के मित्र उद्धव गोकुल आते हैं। गोपियों को आशा होती है कि वह कृष्ण के शुभागमन की सूचना देंगे, पर होता है विपरीत। उद्धव निराकार ब्रह्म ज्ञान और योग द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं, पर गोपियाँ उनकी एक भी नहीं सुनतीं। यही 'सूरसागर' का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध पूर्ण अंश है जिसे 'भ्रमरगीत' कहते है। इस अंश में सूरदास ने हृदय की अनुभूति के आधार पर अत्यन्त मार्मिक ढङ्ग से उद्धव की निराकारोपासना का खंडन और सगुणोपासना का मंडन किया है। उद्धव के बहुत बकने पर गोपियाँ कहती हैं :—

'ऊधौ ! तुम अपनो जतन करौ ।
हित की कहत, कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ॥
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहति हैं जी की ।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धन देखियत नहिं नीकी ॥'

सूर की भक्ति-भावना पर वल्लभाचार्य के 'पुष्टि-मार्ग' का विशेष प्रभाव है। आरम्भ में उन्होंने सेव्य-सेवक भाव से कृष्ण की आराधना की है। उनकी भक्ति में वही विनय, वही दैन्य, वही आत्मसमर्पण, वही कारुण्य और वही सेवा-भाव है जो तुलसी का अपने इष्टदेव राम के प्रति है, पर पुष्टि-मार्ग के प्रभाव से आगे चलकर उनकी भक्ति-भावना सख्य-भाव में परिवर्तित हो गयी है। 'पुष्टि-मार्ग' में कृष्ण की लीलाओं को महत्त्व दिया जाता है और उसकी भक्ति-पद्धति में कीर्तन आदि-द्वारा कृष्ण का सानिद्ध्य प्राप्त किया जाता हैं। इसी से 'सूरसागर' में सख्य-भक्ति के पदों का बाहुल्य मिलता है। सूर की सख्य-भक्ति का विकास दो रूपों में हुआ है : (१) गोप-ग्वाल और कृष्ण के प्रसङ्ग मे और (२) राधा और कृष्ण के प्रसङ्ग में। गोप-ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य-भाव के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे बालकृष्ण के सच्चे सखा हैं। माखन चुराने में, खेल-कूद में, गोचारण में, गोपियों को छकाने में, झांसा-पट्टी देने में, लूट-खसोट में प्रत्येक क्षण उनका और कृष्ण का साथ रहता है। सख्य-भक्ति का दूसरा रूप है राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसङ्ग में। कृष्ण का सखा होने के नाते सूर ने जिस प्रकार बाल-मित्र के रूप में बाल-कृष्ण की भक्ति की है उसी प्रकार एक तरुण-मित्र के रूप में उन्होंने कृष्ण के प्रेम-व्यापारों में उनका साथ दिया है। इन अवसरों पर कृष्ण का उनसे कोई पर्दा नही है। वह बाहर भी कृष्ण के साथ हैं और अन्तःपुर में भी। कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार उनकी आँखो के सामने होता रहता है और वह उसके चित्र उतारा करते हैं। यही सूर की भक्ति का स्वरूप है।

सूरदास उच्चकोटि के भक्त थे। उनके इष्ट देव थे कृष्ण। कृष्ण की भक्ति में उनका अटूट विश्वास था। 'सूरसागर' के दसम स्कन्ध में उन्होंने

राम-कथा का वर्णन परम्परा-पालन की दृष्टि से ही किया है। राम-चर्चा के लिए लोक-धर्म का जैसा भाव अपेक्षित है वैसा सूर में नहीं था। कृष्ण चरित के गान में गीत-काव्य की जो धारा पूर्व में जयदेव (सं० १२३६-६२) और विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) ने बहाई थी, ब्रज के भक्त-कवियो ने उसी का अनुसरण किया। इस प्रकार कृष्ण-काव्य का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में ही हुआ, प्रबन्ध के क्षेत्र में नहीं और संभवतः इसी कारण उसमें लोक-धर्म की स्थापना नहीं हो सकी। कृष्ण-भक्त-कवियो की परम्परा अपने इष्टदेव की केवल बाल-लीला और यौवन लीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिए ही उपयुक्त थी। सूरदास का 'सूरसागर' इसी लिए गीत अथवा मुक्तक काव्य है। उसमें मानव-जीवन की अनेकरूपता नहीं है। नवीन प्रसङ्गों की उद्‌भावना में वह तुलसी से आगे हैं, पर एक ही विषय को बार-बार दुहराने के कारण वह तुलसी से बहुत पीछे हो गए हैं।

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। उन्होने अपने समय की चलती हुई भाषा को साहित्यिक रूप देकर अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। यत्र-तत्र उसमें फारसी, उर्दू, और अरबी के भी शब्द मिलते हैं जिन्हें उन्होंने अपनी प्रतिभा से खरादकर कोमल बना दिया है। माधुर्य और प्रसाद उनकी भाषा के सहज गुण हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलता है। उसमें प्रवाह, स्वाभाविक चमत्कार, सजीवता और मधुरता है। भाव और विषय के अनुकूल सूर ने अपनी भाषा को सजाने में अपनी कलात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया है। रसो में वात्सल्य, शृङ्गार, हास्य, करुण, शात; अलङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत, लोकोक्ति, अतिशयोक्ति, रूपक आदि और छन्दो में रूपमाला, गीतिका, विष्णु-पद, सरसी, सार, वीर, लावनी, चन्द्र, हरिप्रिया, हंसाल, मत्त सवैया, सुखदा, कुंडल, दोहा आदि के विधान अत्यन्त सुन्दर हैं। नख-शिख, दूती, षट-ऋतु आदि का भी सूर ने साहित्यिक दृष्टि से निर्वाह किया है। सङ्गीत-प्रेमी होने के कारण उन्होंने अपने काव्य में स्वरों की कोमलता भी भर दी है।

बाल-क्रीड़ा का जैसा मुग्धकारी वर्णन, प्रेम का जैसा उज्ज्वल रूप, चित-वृत्तियों का जैसा चातुर्यपूर्ण चित्रण, मधुर सङ्गीत का जैसा समन्वय, सरस भावों की जैसी निर्झरिणी, भाषा की जैसी प्रसादता, संवाद की जैसी पटुता, सगुणोपासना का जैसा निरूपण और भाव-चित्रण की जैसी यथार्थता उनके 'सूरसागर' में मिलती है वैसी विश्व के किसी साहित्य में नहीं मिलती। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण सूर महान हैं।

अष्टछाप के कवियों मे दूसरा स्थान नंददास (सं० १५७०-१६४०) का है। नंददास, तुलसीदास (सं० १५८९-१६८०), तथा सूरदास (सं० १५४०- १५२०) के समकालीन और गोसाई विट्ठलनाथ (मृ० सं० १६४२) के शिष्य थे। सोरों की सामग्री के आधार पर यह कहा जाता है कि वह सूकर क्षेत्र, वर्तमान सोरों, जिला एटा के निकटवर्ती रामपुर ग्राम के निवासी थे और वहीं उनका जन्म हुआ था। बड़े होने पर उन्होंने संस्कृत-साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया। इसके साथ ही वह काव्य-रचना और संगीत-कला की ओर भी झुके और अल्पकाल मे ही वह इन विषयों में पारंगत हो गये। कुछ दिनो पश्चात् वह पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और गोवर्द्धन में स्थायी रूप से मानसी गंगा पर रहने लगे। वहाँ रहते हुए उन्होंने अपना शेष जीवन श्रीनाथ के भजन-कीर्तन तथा ग्रंथ-रचना में लगाया और अच्छी ख्याति प्राप्त की।

नन्ददास की उत्कृष्ट रचना है : रास पंचाध्यायी (सं० १६१० के लगभग)। इसमें भागवत के दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध के आधार पर पांच अध्यायों में रास के लौकिक और पारलौकिक, दोनो ज्ञान-पक्षो का वर्णन है। यह रोला छन्द में है। इसमें कवि की कला का अच्छा विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त 'अनेकार्थ मंजरी', 'मानमजरी', 'रसमंजरी', 'ज्ञान-मंजरी', 'रूपमंजरी', 'विरह मंजरी', 'श्याम सगाई', 'सुदामाचरित', 'रुक्मिणी मङ्गल', 'भँवरगीत', 'सिद्धान्त पंचाध्यायी', 'भागवत दशमस्कंध', 'नाम चिंतामणिमाला', 'अनेकार्थ नाम-माला', 'दानलीला' और 'मानलीला' भी उनके काव्य-ग्रंथ हैं। गद्य में उनकी दो रचनाएँ हैं : 'हितोपदेश' और

'नासिकेत पुराण'। 'अनेकार्थमंजरी' और 'मान-मंजरी' उनके कोश-ग्रथ हैं। 'रूपमंजरी', 'रसमंजरी' और 'विरह-मंजरी' चौपाई छन्द मे लिखी गयी रचनाएँ हैं। 'श्याम-सगाई' मे श्रीकृष्ण की राधा के साथ सगाई का वर्णन है। 'रुक्मिणी मंगल' की रचना तुलसी-कृत 'जानकी-मङ्गल' और 'पार्वती मङ्गल' से प्रभावित है। 'भाषा दशमस्कंध' भागवत के दशमस्कंध के प्रारंभिक २८ अध्यायों का भावानुवाद है। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में 'रास पंचाध्यायी' की सैद्धान्तिक व्याख्या है। 'भँवरगीत' के कथा-प्रसंग और क्रम में मौलिकता है। उसमें दार्शनिकता, तर्क, अलंकारो की सुंदर योजना और मनोवैज्ञानिक चित्रण हैं। उनकी गोपियाँ भावुक नहीं; तार्किक हैं। छंद रोला और दोहा के मिश्रण से बना एक नवीन छन्द है। इस प्रकार नन्ददास बहुमुखी प्रतिभा के कवि हैं। उनमें भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा कलाकारिता अधिक है। इसलिए कहा जाता है कि 'और कवि गढ़िया' नन्ददास जड़िया'। उनकी भाषा ब्रजभाषा है जिससे शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। उनको रचना के उदाहरण लीजिए :—

'जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तैं ?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तै ?
वा गुन की परछाँह री माया-दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि, जल, कीच ॥
सखा सुन श्याम के।

—भँवरगीत

'ताही छिन उडुराज उदित रस रास सहायक।
कुंकुम-मंडित-वदन प्रिया जनु नागरि-नायक ॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फागु घमड़ि घुरि रह्यो गुलाल-ज्यों ॥'

—रासपंचाध्यायी

नन्ददास के पश्चात् अष्टछाप की परंपरा में कृष्णदास (मृ० सं० १६३५) वल्लभाचार्य के शिष्य थे और महाराज वीरबल के समय (सं० १५८५-१६४०)

में वर्तमान थे। उनके तीन काव्य-ग्रंथों : 'जुगलमान चरित्र,' 'भ्रमरगीत' और 'प्रेम-तत्त्व-निरूपण' का पता चलता है। **परमानंद दास** भी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और सं० १६०६ में वर्तमान थे। उनके फुटकल पद 'परमानंद-सागर' में संगृहीत हैं। **कुंभनदास** (सं० १५२५-१६४०) उनके समकालीन थे। **चतुर्भुज दास** (सं० १५६७-१६४२) कुंभनदास के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। उनकी तीन रचनाएँ—'चतुर्भुज कीर्तन-संग्रह', 'कीर्तनावलि' और 'दान-लीला' मिलती हैं। **छीतस्वामी** (सं० १५७२-१६४२) भी गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य (सं० १५८२) थे। उनका रचना-काल सं० १६१२ के आस-पास माना जाता है। **गोविन्द स्वामी** (स० १५६२-१६४२) सनाढ्य ब्राह्मण थे और महावन में रहते थे। सगीत में वह अत्यन्त निपुण थे। तानसेन (सं० १५७७-१६४६) भी कभी-कभी उनका गाना सुनने उनके पास आया करते थे। उदाहरण लीजिए :—

'कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी-ग्वाल, न गाय ।।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छायँ।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय ।।

× × ×

'भोर भए नव कुंज सदन तें आवत लाल गोबर्द्धनधारी।
लट पर पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी ।।
बिन गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वै त चन्द अनुहारी।'
छीत स्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी ।।'

वल्लभाचार्य की शिष्य-परंपरा के उक्त आठ कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भक्त मिलते हैं जिन्होने अन्य प्रभावों के अन्तर्गत कृष्ण की उपासना की है। **हित हरिवंश** ( सं० १५५६-१६५० ) ऐसे ही भक्त थे। उनका जन्म मथुरा से ४ मील दक्षिण बाद गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम केशवदास मिश्र, माता का तारावती और स्त्री का रुक्मिणी था। वह हित हरिवंशी गौड़ ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि आरंभ में वह मध्वाचार्य

**कृष्ण-काव्य की परंपरा के अन्य कवि**

के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे, परन्तु बाद को उन्होंने राधा की भक्ति को प्रधानता देकर एक नवीन संप्रदाय की स्थापना की जिसे 'राधावल्लभी संप्रदाय' कहते हैं। उन्होने सं० १५८२ में श्री राधावल्लभ की मूर्ति वृन्दावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। वह संस्कृत और भाषा काव्य के अच्छे विद्वान् थे। उनका रचना काल स० १६०० से सं० १६४० तक माना जाता है। उनके पदो का संग्रह 'हित चौरासी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ८४ पद हैं जो अत्यन्त सरस हैं। इन पदों की सरसता एवं मधुरता के कारण लोग उन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार मानते हैं। उनकी स्तुति में वृन्दावन दास ने 'हित की सहस्र नामावली' और चतुर्भुज दास ने 'हितजू को मंगल' लिखा है। उनकी रचना का उदाहरण लीजिए :—

'चलहि किन माननि कुंज-कुटीर।
तो बिन कुँवर कोटि वनिता जुत मथत मदन की पीर।।
गदगद सुर बिरहाकुल पुलकित स्रवत विलोचन नीर।
क्वासि - क्वासि वृषभान नंदिनी विलपत विपिन अधीर।।
बंसी बिसिख, काल मालावलि, पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखा मृग रिपु चीर।।
'हित हरिवंस' परम कोमल चित, सपदि चली पिय तीर।
सुनि भयभीत वज्र को पिंजर सुरत-सूर रन - बीर।।'

कृष्ण-काव्य की परंपरा में गदाधर भट्ट का नाम भी लिया जाता है। वह दक्षिणी ब्राह्मण थे। उन्होंने चैतन्य महाप्रभु ( सं० १५४२-९० ) से सं० १५८४ में गौडिया में दीक्षा ली थी और उनकी रागानुगा भक्ति से प्रभावित थे। उनकी रचनाओं का आरंभ सं० १५८० से माना जाता है। उनकी एक रचना का उदाहरण लीजिए :—

'सखी ! हौं स्याम-रंग रंगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति सूरति माहिं पगी।।
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि नेकु न न्यारो होई।।

**एक जु मेरी आँखियनि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।**
**गाय चरावत जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन?**
**कासों कहौं, कौन पतियावै, कौन करै बकवाद?**
**कैसे कै कहि जात 'गदाधर' गूंगे तें गुर-स्वाद?'**

कृष्ण-भक्तों में मीरॉबाई (सं० १५५५-१६०३) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ते में हुआ था। जोधपुर राज्य (सं० १५१५) के बसानेवाले जोधाराव उनके प्रपितामह राव दूदाजी (मृ० सं० १५७२) पितामह और रत्नसिंह (मृ० सं० १५८८) पिता थे। उन्हें बचपन से ही 'गिरिधारीलाल' का इष्ट था। उदयपुर के महाराणा सांगा (सं० १५३६-८४) के ज्येष्ठ पुत्र कुमार भोजराज के साथ उनका विवाह (सं० १५७३) होने पर भी उनकी भक्ति-भावना कम नहीं हुई। दैवयोग से विवाह के थोड़े ही दिनों पश्चात् उनके पति का देहान्त (स० १५७५) हो गया। फिर तो वह प्रायः मंदिरों में जाकर उपस्थित भक्तों और सन्तों के बीच श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने आनद-मग्न होकर नाचने और गाने लगीं। उनके इस प्रकार के राज-कुल-विरुद्ध आचरण से उनके स्वजन उनके विरुद्ध हो गये और उन्होंने कई बार उन्हें विष आदि देकर मारने का उपक्रम किया। पर भगवत्कृपा से वह प्रत्येक बार बच गयी। अन्त में घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर वह द्वारिका और वृन्दावन के मन्दिरो में घूम-घूमकर भजन सुनाने लगीं। जहाँ वह जाती थी वहाँ देवियो का-सा उनका सम्मान होता था। द्वारिका में ही उनका परलोक-वास हुआ।

मीरॉबाई की उपासना 'माधुर्य भाव' की थी। वह अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना पतिरूप में करती थीं। कहा जाता है कि वह सन्त रैदास की शिष्या थीं, पर ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। रैदास रामानन्दी थे, मीराँ कृष्ण की उपासिका थीं। उन्हें रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी की शिष्या भी बताया जाता है, पर समय और भक्ति-सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत भी संगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में उनका सम्बन्ध तत्कालीन किसी सम्प्रदाय से नहीं था। उनका कोई

विशिष्ट संप्रदाय भी नहीं था और न उन्होंने किसी आचार्य से दीक्षा ही ली थी। उनकी भक्ति-भावना उनकी अपनी भक्ति-भावना थी जिसका विकास उन्होंने अपने समय के सभी संप्रदायों के सिद्धान्तों के आधार पर किया था। उनकी भाव-धारा के भीतर सभी सम्प्रदायों का समन्वय हुआ था और उन्होंने सबसे प्रेरणा ग्रहण की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान में रहते हुए संतों और रामानन्दी साधुओं का, वृन्दावन आने पर भागवत धर्म के अन्तर्गत विकसित पुष्टिमार्ग, निंबार्क सम्प्रदाय, टट्टी सम्प्रदाय आदि के वातावरण का और अन्त में स्वयं अपने कुल-धर्म का उन पर प्रभाव पड़ा था और वह श्याम के रंग में रंग गयी थीं। इसीलिए उनकी रचनाओं में तुलसी के विनय-पद; सूर के कृष्ण-लीला-सबंधी पद; कबीर और रैदास के निर्गुण पद; चंडीदास, नरसी मेहता (सं० १४७२-१५३८) और विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) के मधुर-भाव-पूर्ण पद और गिरिधर गोपाल से मिलने की उनकी तीव्र उत्कंठा से परिपूर्ण पद मिलते हैं। तुलसी के स्वर में वह कहती हैं :—

'मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग, सीतल, कमल कोमल, त्रिविधि ज्वाला हरन।
जे चरन प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपनी सरन।
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो, नख - सिखौ श्री - भरन॥
जिन चरन प्रभु परसि लीन्हें, तरी गौतम - घरन।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोप - लीला करन॥
जिन चरन धारयो गोबरधन, गरब - मघवा - हरन।
दास मीरा लाल गिरधर, अगम तारन तरन॥'

सूर के रंग में वह कहती हैं :—

'छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना।
जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन जोर मेरे प्राण हरो ना॥

वृन्दावन की कुंज गली में, रीत छोड़ अनरीत करो ना।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण-कमल चित टारे टरो ना॥'

कबीर आदि संतों की शैली में उनका यह पद लीजिए :—

'पायो जी, मैंने नाम-रतन-धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो॥
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं, कोई चोर न लेवे, दिन-दिन बढत सवायो॥
सत की नाव, खेवटिया सतगुरु, भव-सागर तर आयो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥'

चंडीदास और विद्यापति के अनुरूप उनके उद्‌गार इन पंक्तियों में देखिए :—

'तुमरे कारण सब सुख छोड़्या, अब मोहिं क्यों तरसावौ हो।
बिरह-बिथा लागी उर अन्तर, सो तुम आप बुलावौ हो॥
अब छोड़त नहिं बनै प्रभू जी, हँसकरि तुरत बुलावौ हो।
मीराँ दासी जनम-जनम की, अंग से अंग लगावौ हो॥'

उनकी विरह-वेदना का स्फीत उद्‌गार इस पद में देखिए :—

'मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हांरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ, भोर गये उठि आऊँ।
रैण दिना वाके संग खेलूं, ज्यूं-त्यूं वाहि रिझाऊँ॥
जो पहिराऊँ सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावै तितही बैठूं, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥'

मीराँ का प्रत्येक पद प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना से परिपूर्ण है। उनकी भक्ति के दो पक्ष हैं : (१) विनय और (२) विरह। इन दोनो पक्षों के चित्रण में वह अभूतपूर्व हैं। कबीर और जायसी ने वियोग का रूपक

बांधा है, पर मीराँ स्वयं रूपक बन गयी हैं। उन्होंने 'बक़ा' और 'फ़ना' को जायसी की अपेक्षा अधिक समझा है। उनकी प्रणयानुभूति और विरह-वेदना की अभिव्यक्ति में नारी-हृदय की वास्तविक विदग्धता है। कबीर ने अपने आपको पत्नी रूप में मानकर कहा था—'हरि मोर पीउ, मैं राम की बहुरिया' और जायसी ने अपने आपको आशिक-प्रेमी-के रूप में मानकर माशूक—प्रियतमा के रूप में ईश्वर की आराधना की थी, पर मीराँ ने अपना सर्वस्व, अपने हृदय की सारी अभिलाषाएँ-आकांक्षाएँ ही भगवान पर न्योछावर कर दीं। इसलिए प्रेम-साधना के क्षेत्र में मीराँ कबीर और जायसी की अपेक्षा बहुत ऊँची उठी हुई हैं। और इसी कारण उनका रहस्यवाद सरल और स्वाभाविक है। उसमें दुरूहता और जटिलता नहीं, वरन नारी-हृदय की साधना का सहज और वास्तविक प्रतिबिंब है। उनका प्रेम-वर्णन अत्यन्त शिष्ट, संयत और मर्यादित है।

मीराँ कृष्ण की उपासिका थीं, हिन्दी की कवियित्री नहीं थीं। इसलिए उन्हें भाषा और अलंकार की चिन्ता नहीं थी। परन्तु फिर भी हम उनकी रचनाओं में सब कुछ पाते हैं। उनके काव्य की भाषा राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा है और उसमें गुजराती, पूर्वी तथा खड़ीबोली के रूप भी मिलते हैं। उनकी भाषा में सरसता, स्वाभाविकता, सरलता, स्पष्टता और प्रवाह है। गेय, तीव्रानुभूति प्रधान, अंतर्मुखी, सरल, स्वच्छंद, गतिपूर्ण और संक्षिप्त होने के कारण उनकी रचनाएँ हिन्दी के भक्ति-साहित्य में आदर्श हैं।

मीराँबाई के अनन्तर कृष्ण-भक्ति-परंपरा में स्वामी हरिदास (सं० १५६६-१६६४) हुए। उन्होंने निम्बार्क मतांतर्गत ही 'टट्टी सम्प्रदाय' की स्थापना की। सगीत कला में वह अत्यन्त निपुण थे। कहा जाता है कि तानसेन (सं० १५८८-१६४६) को उन्होंने गान-विद्या सिखाई थी। इस दृष्टि से वह मुग़ल-सम्राट अकबर (सं० १५९९-६२) के समकालीन थे। तानसेन की सहायता से एक बार अकबर ने भी उनका गाना सुना था। 'स्वामी हरिदास जी के पद', 'हरिदास जी की बानी' आदि में

उनके पद संगृहीत हैं जिन्हें देखने से वह साधारण कवि प्रतीत होते हैं। उनके समकालीन **सूरदास मदनमोहन** थे जिनका रचना काल सं० १५६० से सं० १६०० तक माना जाता है। वह जाति के ब्राह्मण और गौडीय संप्रदाय के वैष्णव थे। अकबर के शासन-काल (सं० १६१३-६२) में वह संडीला के अमीन थे और साधु-संतों की सेवा में लीन रहते थे। नौकरी छोड़ने के पश्चात् उन्होंने वृन्दावन को अपना निवास-स्थान बना लिया और वहीं स्थाई रूप से रहने लगे। उनके बनाए हुए बहुत से पद मिलते हैं। उनके समान ही श्री भट्ट (ज० सं० १५६५) की कविता भी साधारण थी। वह निंबार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान केशव काश्मीरी के शिष्य थे। 'युगल शतक' और 'आदि बानी' में उनके पद मिलते हैं। **हरीराम व्यास** (सं० १६२० में वर्तमान) ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण और ओरछा-नरेश मधुकर शाह के राज गुरु थे। पहले वह गौडीय संप्रदाय में दीक्षित थे, पर बाद को हित हरिवंश के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गये। उनकी रचनाएँ परिमाण में विस्तृत हैं और विषय-भेद के विचार से कृष्ण-भक्तों की अपेक्षा व्यापक हैं। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, बाल-लीला, शृङ्गार-लीली तथा खलों और पाखंडियों के संबंध में उन्होंने बहुत-से पदों और साखियों की रचना की है। उनकी साखी के उदाहरण लीजिए :—

'अपने-अपने मत लगे बादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबको सेइबो, एकै नन्द किशोर॥
प्रेम अतन या जगत में जानै बिरला कोय।
'व्यास' सतन क्यों परसि है, पचि हार्यो जग रोय॥
सती, सूरमा, संतजन, इन समान नहिं और।
अगम पंथ पै पद धरै, डिगे न पावैं ठौर॥'

कृष्ण-भक्ति की परंपरा में कुछ मुसलमान-कवि भी मिलते हैं। ऐसे कवियो में सैयद इब्राहीम रसखान' ( सं०१६१५-८५) का सर्वोच्च स्थान है। वह जाति के पठान थे और शाही खानदान से भी उनका संबंध था।

उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय में गोसाईं विट्ठलनाथ (मृ० सं० १६४२) से दीक्षा ली थी। फ़ारसी के वह अच्छे विद्वान थे और व्रजभाषा में कविता करते थे। उनकी दो रचनाएँ मिलती हैं : (१) प्रेमवाटिका (स० १६७१) और (२) सुजान रसखान। आरंभ में उनमें लौकिक प्रेम प्रधान था, पर बाद को वही आध्यात्मिक प्रेम में परिणत हो गया। इसलिए उनकी उक्त रचनाओं में प्रेम का ही अनूठा वर्णन मिलता है। 'प्रेम-बाटिका' में दोहा और 'सुजान-रसखान' में उन्होंने कवित्त-सवैया छंदों का प्रयोग किया है। उनमें प्रेमानुभूति अधिक है। उनकी भाषा व्रजभाषा है जो बहुत चलती हुई, सरस और शब्दाडंबर-युक्त है। कृष्ण को पति रूप में अपनाकर उन्होंने उपासना की है। उदाहरण लीजिए :—

'सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद, सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोकरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥'

× × ×

'मानुस हौं तो वही रसखान बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो कियो हरि छत्र, पुरन्दर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि-कूल, कदंब की डारन॥'

रसखान के पश्चात् ही कृष्ण-भक्त-कवियों की परम्परा समाप्त होती है। आगे चलकर और भी कई कवि हुए हैं, पर उनकी रचनाओं में न तो तन्मयता है और न कृष्ण-भक्ति का वास्तविक रूप। ध्रुवदास, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा हित वृन्दवनदास (ज० सं० १७६५), भगवत रसिक आदि भक्त समय-समय पर हुए हैं और उन्होंने अच्छी रचनाएँ भी की हैं, पर आलोच्य काल में कृष्ण-भक्तो की जैसी परम्परा मिलती है वैसी रसखान के पश्चात् नहीं मिलती।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूर से रसखान के समय तक कृष्ण-

की जो धारा प्रवाहित हुई उस का मुख्य आधार भागवत का दशम स्कंध था। भागवत के दशम स्कंध में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को लेकर कृष्ण-भक्त-कवियों ने कृष्ण की प्रेम-मयी मूर्ति की विशद व्यञ्जना की। उन्होंने उनकी बाल-

ण-काव्य
विशेषताएँ

लाओं और प्रेम-लीलाओं के चित्र उतारने में अपने प्रतिभा की सारी क लगा दी। गीत और मुक्तक के क्षेत्रों में उन्होंने वात्सल्य और शृङ्गार को उनकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। वे अपने सीमित क्षेत्र के सम्राट मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों का चित्रण और अपने संकुचित क्षेत्र के र नवीन प्रसङ्गों की उद्भावना करने में वे अप्रतिम थे। बाल-मनो-ज्ञान का जैसा अध्ययन उन्होंने किया था वैसा कदाचित उनके पूर्ववर्ती ा परवर्ती कवियों मे से किसी का भी नहीं था। भाषा की दृष्टि से ब्रज-षा के उन्नयन एवं विकास में भी उनका विशेष हाथ था। उन्होंने उसे नी प्रतिभा से माँजकर इतना चमका दिया था कि उसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म वों की व्यञ्जना सफलतापूर्वक हो सकती थी। उसके माध्यम-द्वारा ही न्होंने हिन्दी-साहित्य को अनेक विषय प्रदान किये। विभिन्न राग-रागनियों ी भी सृष्टि उसमें हुई। इस प्रकार उसमें सङ्गीत और साहित्य का अभूत र्व समन्वय हुआ। काव्य और सङ्गीत के साथ-साथ उसमें कुछ गद्य-रचनाएँ ी हुई जिनमें से गोकुल नाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ ावन वैष्णवों की वार्ता' अधिक प्रसिद्ध हैं। गद्य-शैली की दृष्टि से इनका हत्व भले ही न हो, पर इनकी रचना से यह व्यञ्जित होता है कि उस मय गद्य-रचना की ओर लोगों का ध्यान गया था।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा की एक विशेषता यह भी है कि उसके सब कवि क ही संप्रदाय के नहीं थे। अष्टछाप के कवि पुष्टि मार्गी, हित हरिवंश राधा-ल्लभी, गदाधर भट्ट तथा सूरदास मदनमोहन गौड़ीय और स्वामी हरिदास ट्टी संप्रदाय के थे। अतः उक्त संप्रदायों के अंतर्गत कृष्ण-भक्ति का अच्छा विकास हुआ और उसमें प्रेम के विभिन्न पक्षो की दृष्टि से रचनाएँ की गयीं। संभवतः इसी कारण उसकी परम्परा भी अधिक दिनों तक चली और वह

लोक-प्रिय भी सिद्ध हुई। उसमें जितने कवि हुए, सब राग-द्वेष से मुक्त, विरक्त, सदाचारी, विनयी और भक्ति-भावना से पूर्ण थे।

कृष्ण काव्य का प्रभाव

कृष्ण-काव्य की उक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति के प्रवर्तक अपनी प्रेम-लक्षणा-भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझते थे, कृष्ण के लोक-रञ्जक लोक-रक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को सब के सामने रखने की आवश्यकता नहीं समझते थे। ऐसी दशा में कृष्ण के धर्म-स्वरूप की ओर आकृष्ट होने और लोगों को आकर्षित करने की प्रवृत्तिका विकास कृष्ण भक्तों में न हो सका। फलतः कृष्ण-भक्त फुटकल शृङ्गारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर और आवश्यक पक्षों का स्फुरण हो सका और न अनेकरूपता ही आ सकी। कृष्ण की प्रेम-लीला ही सब गाते रहे; समाज किधर जा रहा है, इस बात की चिन्ता उन्होंने नहीं की। अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृङ्गारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यञ्जना से उन्होंने जनता को रस-मग्न किया उसका प्रभाव विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा पड़ रहा है, इस ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। इसका प्रभाव, आगे चलकर, अच्छा नहीं पड़ा। जहाँगीर (सं० १६६२-८४) और शाहजहाँ (सं० १६८४-१७२२) के शासन-काल में जब सुख-समृद्धि की व्यवस्था हुई तब कृष्ण की प्रेम-लीलाओं ने अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लिया। राज-दरबारों में शृङ्गारी कवि राधा और कृष्ण के प्रेम के आधार पर ऐसी रचनाएँ करने लगे जिनमें वासना-विलास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उन रचनाओं के सामने कृष्ण-भक्ति का सम्पूर्ण साहित्य पीछे छूट गया और कविता-कामिनी नग्न नृत्य करने लगी। भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही, पर उसमें भक्ति-भावना का चित्रण होने के स्थान पर नख-शिख, दूती, नायक और नायिकाओं के वर्णन होने लगे। काव्य में कला पक्ष का प्राधान्य हो गया और जन-जीवन से उसका सम्बन्ध छूट गया। सूर की वात्सल्य-भावना, मीराँ की विरह-वेदना, रसखान की प्रेम-व्यञ्जना सब पर पानी फिर गया।

---

# १०. भक्ति-काल के दरबारी-कवि

भारतीय इतिहास में मुगल-सम्राट अकबर का शासन-काल ६१३-६२) राजनीतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। समय में संपूर्ण उत्तरी भारत एक शासन-सूत्र में बँध गया और शांति- ी व्यवस्था हुई जिससे साहित्य और कला को पनपने का विशेष अव- ला। गुलाम-वंश से लोदी-वंश (सं० १२६४-१५८३) तक के शासक कट्टरपन के कारण भारतीय संस्कृति के प्रति उदार न थे, पर मुगल ्य का अभ्युदय (स० १५८३) होने पर अकबर ने देश की परम्परागत ़ के विकास में पूरा योग दिया। उस समय हिन्दी-साहित्य के इति- ं दो श्रेणी के कवि थे: एक तो वे कवि जो स्वतन्त्र रीति से राज्याश्रय पाए हुए अपनी भक्ति-भावना का परिचय दे रहे थे और वे कवि जो राजदरबारों में वीर, शृंगार और नीति की कविताएँ कर । राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के कवि पहली श्रेणी के कवि थे। उनकी का कारण अकबर-कालीन शांति-सुख-व्यवस्था नहीं, अपितु जनता वृत्ति का प्रवाह था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर जैसे गुण-ग्राही क का भारत के अधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक थी। उनके समय की शांति-सुख-व्यवस्था से लाभ उठानेवाले दूसरी ी के कवि थे जो राज-दरबारों में उत्साहित अथवा पुरस्कृत किए जाते भक्ति-काल के अन्य कवियों में ऐसे ही कवियो को स्थान प्राप्त है जिन ं कुछ की चर्चा यहाँ की जाती है।

(१) कृपाराम—कृपाराम के सम्बन्ध में अधिक जानकारी अबतक नहीं हो सकी है। उनकी एक रचना 'हित तरंगिणी' (सं० १५९८) ं मे मिलती है। यह रस-रीति पर लिखा गया अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। ़ कई दोहे बिहारी (सं० १६५२-१७२१) के दोहों से मिलते हैं। ऐसा

लगता है कि बिहारी इस रचना से प्रभावित थे। इसके दोहे अत्यन्त सरस, भावपूर्ण और परिमार्जित भाषा में हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विष पूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि-झमकि निज महल में टहलैं, करैं सुरानि॥'

(२) नरहरि बन्दीजन—नरहरि बन्दीजन ( सं० १५६२-१६६७ ) असनी फतेहपुर के निवासी थे। अकबर के दरबार में उनका अधिक मान था। उनके बनाए तीन ग्रंथ मिलते हैं : (१) रुक्मिणी मंगल, (२) छप्पय नीति (३) कवित्त संग्रह। इन ग्रंथों में उन्होने छप्पय और कवित्त में रचनाएँ की हैं। कहा जाता है कि उनका निम्न छप्पय सुनकर अकबर ( सं० १६१३-६२ ) ने अपने राज्य में गो-वध बन्द करा दिया था :—

'अरिहुँ दंत तृन धरैं, ताहि नहिं मार सबल कोई।
हम संतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होई॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंमन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं; कटुक तुरकहिं न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अबकर, सुनौ, बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥'

(३) नरोत्तम दास—नरोत्तम दास (सं० १५५०-१६०२) सीतापुर ज़िला के बाड़ी नामक ग्राम के निवासी थे और सं० १६०२ तक वर्तमान थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'सुदामा चरित' (सं० १५८२) है। इसके अतिरिक्त उनकी दो रचनाएँ 'ध्रुव चरित' और 'विचार माला' और हैं, पर वे अप्राप्य हैं। 'सुदामा चरित' यद्यपि एक लघु खंडकाव्य है, तथापि उसकी रचना बहुत ही सरस, मार्मिक एवं भावपूर्ण है और कवि की भावुकता का परिचय देती है। इसमें सुदामा के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन न करके केवल कृष्ण-सुदामा की मित्रता का वर्णन किया गया है। सुदामा की दरिद्रता, कृष्ण की शीलता और सुदामा की स्त्री की तर्क-पटुता के चित्र इसमें अत्यन्त अनूठे

और वास्तविक हैं। करुणा रस से 'सुदामा चरित' परिपूर्ण हैं। सुदामा का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

'सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी, लटी दुपटी, अरु पायँ उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को नाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥'

कृष्ण की करुणा का चित्र इन पंक्तियों मे देखिए :—

'कैसे बिहाल बिवाइन सों भए, कंटक-जाल गड़े पग जोए।
हाय महा दुख पाए सखा! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥'

और सुदामा की स्त्री की तर्क-पटुता देखिए :—

'विप्र के भगत हरि, जगत-विदित बन्धु,
लेत सबके ही की सुधि, ऐसे महादानि हैं।
पढ़े एक चटसार, कही तुम कैयौ बार,
लोचन अपार, वे तुम्हें न पहिचानि हैं?
एक दीनबन्धु, कृपासिन्धु, फेरि गुरु-बन्धु,
तुम सम कौन दीन जाको जिय जानि हैं?
नाम लेत चौगुनी, गए तैं द्वार सौ गुनी,
देखत सहस्रगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं॥'

(४) बीरबल—बीरबल (सं० १५८५-१६४६) का जन्म तिकवाँपुर, जिला कानपुर मे हुआ था। उनका पूर्वनाम महेशदास और उनके पिता का नाम गंगादास था। वह अकबर के मंत्री थे। अकबर उन्हें बहुत मानते थे। अकबर के दरबार में रहकर उन्होंने हिन्दुओं का बहुत हित-साधन किया था। हिन्दुओ को ऊँचे-ऊँचे पद दिलाने में उन्हीं का हाथ रहता था। विद्या और बुद्धि मे उनके समान उस समय कोई नही था। उनकी वाक-पटुता अद्वितीय थी। ब्रजभाषा के वह अच्छे कवि थे और

कवियों का बहुत सम्मान करते थे। कहते हैं, केशवदास (सं० १६१२-१६७४) को उन्होंने एक बार छः लाख रुपए दिए थे और उनकी पैरवी से ओरछा-नरेश पर एक लाख का जुरमाना क्षमा करा दिया था। कविता में वह अपना उपनाम 'ब्रह्म' रखते थे। उनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण लीजिए :—

'पूत कपूत, कुलच्छनि नारि, लराक परोस, लजायन सारो।
बन्धु कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकर चोर, अतीथ धुतारो॥
साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो।
'ब्रह्म' भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बांधि समुद्र में डारो॥'

× × ×

'कर बोलै कर ही सुनै स्रवन सुनै नहिं ताहि।
कहै पहेली बीरबल, सुनिये अकबर म्याहि॥' नाड़ी

× × ×

'मारो तो वह जी उठै, बिन मारे मर जाय।
कहै पहेली बीरबल मुर्दा आटा खाय॥ तबला

(५) गंग—गंग कवि अकबर के दरबारी कवि थे। अब्दुल रहीम खानखाना उन्हें बहुत मानते थे। वह जाति के ब्रह्म भट्ट थे। कहा जाता है कि किसी नवाब अथवा राजा की आज्ञा से वह हाथी से चिरवा डाले गए थे और उसी समय मरने से पूर्व उन्होंने यह दोहा कहा था :—

'कबहुँ न भँड़ुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम करि, बिदा होत कवि गंग॥'

गंग अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि थे। एक बार रहीम खानखाना ने उनके निम्न छप्पय से प्रसन्न होकर उन्हें ३६ लाख रुपये दिए थे :—

'चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल-वन।
अहि-फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन वन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क-चक्की न मिलैं अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥

खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रवि-रथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन, जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥'

गंग कवि अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। वीर और शृङ्गार के उन्होंने बहुत ही सुन्दर कवित्त कहे हैं। वीररस का एक उदाहरण लीजिए:—

'झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मनो सुखमा जरद की।
कहैं कवि 'गंग' तेरे बल की बयारि लागे,
फूटी गज-घटा घन-घटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमडि चलीं,
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति, गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गह्यो पूंछ लपकि बरद की॥'

(६) केशवदास—तुलसीदास के समकालीन कवियों में केशवदास (स० १६१२-७४) प्रमुख हैं। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका वंश पंडितों का वंश था। उनके पितामह, प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' के रचयिता, कृष्णदत्त मिश्र और पिता 'शीघ्रबोध' के रचयिता काशीनाथ मिश्र का ओड़छा-राजवंश से विशेष संबंध था। 'नख सिख' के रचयिता बलभद्र उनके बड़े भाई थे। इस पाण्डित्यपूर्ण वातावरण का केशवदास पर विशेष प्रभाव पड़ा। उनका युग संस्कृत-साहित्य के मान का युग नहीं था। वह था हिन्दी भाषा का उदय-काल। इसलिए केशवदास ने समय की रुचि पहचानकर अपने कुल की परंपरा के विरुद्ध हिन्दी को अपनाया और कई काव्य-ग्रंथों की रचना की। उनकी रचनाओं मे 'विज्ञान-गीता' (सं० १६६७), 'रतन बावनी', 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर-जस-चद्रिका,' 'नख-सिख और 'रामअलंकृत-मंजरी' के अतिरिक्त 'रसिक प्रिया' (सं० १६७८), कविप्रिया' (सं० १६४८) और 'रामचन्द्रिका' (सं० १६५८) अधिक प्रसिद्ध हैं। 'रसिक-प्रिया' शृंगार-रस और 'कवि-प्रिया' (स० १६५८) काव्य के सभी अंगो से संबंधित काव्य-ग्रंथ हैं। 'रामचन्द्रिका' की रचना वाल्मीकि-कृत 'रामायण', 'प्रसन्न राघव',

'अनर्घ राघव', 'कादम्बरी', 'नैषध,' 'हनुमन्नाटक' आदि संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर की गयी है। यह एक महाकाव्य है जिसमें राम का नर-रूप में चित्रण हुआ है। इसकी छन्द-योजना भी 'रामचरित मानस' से भिन्न है। इसमें अलंकारों का इतना बाहुल्य है कि यह अलंकार-ग्रन्थ-सा बन गया है। छन्दों की विविधता जैसी इसमें मिलती है वैसी हिन्दी के अन्य किसी महाकाव्य में नहीं मिलती। छन्द और अलकार-योजना की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि केशवदास ने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही इसकी रचना की है। उनकी कल्पनाओ में भी मस्तिष्क का योग अधिक मिलता है, इसलिए उनकी कविता हृदय को स्पर्श नही करती, मस्तिष्क को मथ डालती है। उनकी व्यंजनाओं में शुष्कता है।

'रामचन्द्रिका' वर्णन-प्रधान महाकाव्य है। 'मानस' की भाँति न तो यह धार्मिक ग्रंथ है और न दार्शनिक ग्रंथ। इसमें लोक-शिक्षा का रूप भी नहीं है। जीवन की सामन्य समस्याएँ, दामपत्य-संबंध, वातसल्य, प्रेम आदि की संवेदनाएँ भो इसमें नही हैं। राम-कथा का जो सांगोंपांग वर्णन 'मानस' में मिलता है उसका इसमे अभाव है। राम की दिनचर्य्या, उनके उठने-बैठने, उनके खाने-पीने, उनके भोजन करने और उनके सोने आदि का वर्णन उनके रूप, एश्वर्य, जल-क्रीडा, नख-शिख और षट्ऋतुओ आदि के वर्णन के साथ घुल-मिल जाता है। ऐसे अवसरों पर यह जान पड़ता है कि केशवदास राम को भूलकर शब्द-विलास में पड़ गए हैं। उनके राम उनके संकेत पर नाचते हैं। सोता के मुख की शोभा के वर्णन में रसात्मकता के स्थान पर उनका अलंकार-कौशल देखिए :—

'वासों मृग अंक कहैं, तोसों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर, तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज, तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि, तुहूँ कलाकलित बखानिये॥
रत्नाकर के हैं दोऊ 'केशव' प्रकाशकर,
अंबर बिलास कुवलय हितु मानिये।

वाके अति सीतकर, तुहूँ सीता सीतकर,
चन्द्रमा-सी चन्द्रमुखी सब जग जानिये ॥'

केशवदास के वर्णन में उक्ति-चमत्कार अधिक है। ऐसे लगता है कि उन्होंने राम के जीवन-संबंधी उन्हीं स्थलों पर अधिक ध्यान दिया है जो उनकी समझ से काव्य-चातुर्य के लिए उपयुक्त थे। जीवन के मार्मिक स्थलों को पहिचानने की क्षमता उनमें नहीं है। दरबारी जीवन से परिचित होने के कारण उनके संवाद स्वाभाविक होने पर भी अधिक लंबे और शुष्क हैं। संवादों की दीर्घता, छंदों की अतिशीघ्र परिवर्तन शीलता, घटनाओं की संक्षिप्तता तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा के कारण प्रबन्ध-निर्वाह और रसात्मकता को भी आघात पहुँचा है। प्रकृति-चित्रण में भी कवि-कर्म का निर्वाह-मात्र है। प्रकृति के प्रति केशवदास का अनुराग नहीं जान पड़ता। उनका सरयू और गोदावरी नदी का वर्णन एक-सा है। समुद्र का वर्णन करते समय वह ब्रह्म-ज्ञान की ओर बहक गए हैं और सूर्योदय के वर्णन में शृंगार के साथ वीभत्स का मेल कर दिया है। षट्-ऋतु वर्णन मे भी उनका ध्यान उपमा की ओर इतना अधिक रहता है कि वह देश और काल की भी चिन्ता नहीं करते। उनका सूर्योदय-वर्णन देखिए :—

'अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राण-नाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरण सिंदूरपूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूरव पट ॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह, किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को ॥'

केशवदास अपनी समस्त रचनाओं में दरबारी कवि हैं। ओड़छा-नरेश के वह दरबारी कवि थे। राज-दरबारों का भी उन्हें अनुभव था। इसलिए राजसी शृंगार, नगर तथा बाजार की सजावट, उत्सवों की चहल-पहल और नख-शिख के वर्णन में ही उनकी वृत्ति अधिक रमी है। स्वाभाविकता, भावों

की सरसता एवं तन्मयता, काव्योचित भावुकता आदि का उनमें सर्वथा अभाव है। पाण्डित्य की दृष्टि से उनका काव्य बेजोड़ है। वह भक्त नहीं थे। इसलिए उनकी रचनाएँ भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। राम-कथा का विषय लेकर उन्होंने साहित्यिक गौरव की दृष्टि से अपनी रचनाओं का निर्माण किया था। उन्होंने जहाँ 'रामचन्द्रिका' की रचना राम-कथा के अन्तर्गत की, वहाँ रीति-काव्य के अन्तर्गत 'कविप्रिया' और 'रसिक-प्रिया' तथा वीर-काव्य के अन्तर्गत 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका' और 'वीरसिंह देव चरित' की रचना की। इस प्रकार उन्होने अपने पाण्डित्य-द्वारा तत्कालीन प्रत्येक काव्य-धारा में सहयोग दिया। उनकी अलंकार-प्रियता के कारण कुछ आलोचको ने उन्हें रीतिकाल के अन्तर्गत स्थान दिया है, पर रीति-काल की परंपरा उनके लगभग ५० वर्ष पश्चात् आरंभ हुई। उन्होंने हिन्दी-पाठको को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्वदशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी, उस उत्तरदशा का नहीं जो आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट (सं० १०५०-११५०) तथा विश्वनाथ के समय में थी। भामः और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट भेद नही हुआ था और रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग होता था, पर आनंदवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ के समय में यह भेद स्पष्ट हो गया। इसलिए हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने उक्त परवर्ती आचार्यों का ही अनुकरण किया और 'चन्द्रलोक' तथा 'कुवलयानंद' आदि रीति-ग्रंथो के आधार पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। केशवदास इसी कारण रीति-काल में नहीं आते। तुलसीदास के समकालीन होने और राम-कथा को 'रामचन्द्रिका' में स्थान देने के कारण वह राम-काव्य-परंपरा के ही कवि माने जाते हैं। 'मानस' के पश्चात् उनकी 'रामचन्द्रिका' ही श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथ है। उनकी भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है। संस्कृत के अत्यधिक शब्दो के प्रयोग से उनकी ब्रजभाषा का माधुर्य बहुत कुछ लुप्त हो गया है। भाषा में अलंकारों की छटा पग-पग पर दिखायी देती हैं। शब्दो के साथ भी उन्होने काफ़ी खेलवाड किया है। इससे

उनकी भाषा और भी कठिन हो गयी है और इसीलिए वह 'कठिन काव्य का प्रेत' कहे जाते हैं।

(७) अब्दुर्रहीम खानखाना—अब्दुर्रहीम खानखाना उपनाम 'रहीम' (सं० १६१०-८२) सम्राट अकबर के अभिभावक प्रसिद्ध मुग़ल-सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। संस्कृत, अरबी, फारसी और हिन्दी के वह पूर्ण पंडित थे। दान और परोपकार में वह अपने समय के 'कर्ण' माने जाते थे। गोस्वामी तुलसीदास (सं० १५८६-१६८०) से उनका स्नेह था। उनके यहाँ कवियों का जमघट लगा रहता था और वह उनकी रचनाओं को मुक्तहस्त हो पुरस्कृत करते थे। कवि होने के साथ-साथ वह अच्छे योद्धा और सैनिक भी थे। मुगल-साम्राज्य के लिए उन्होंने अनेक प्रदेश जीते थे और उन्हें जागीर में बड़े बड़े सूबे तथा गढ़ मिले थे। लड़ाई में धोखा देने के अपराध में एक बार जहांगीर (सं० १६२६-८४) ने उनकी सारी जागीर छीन ली और उन्हें बन्दी-गृह में डाल दिया। बन्दी-गृह से छूटने पर उनकी आर्थिक दशा बिगड़ गयी। तब से वह बहुत दुखी रहने लगे। उन्हें जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव था और उस अनुभव को ही उन्होंने अपनी रचनाओं-द्वारा व्यक्त किया। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। व्रजभाषा, खड़ीबोलीत तथा अवधी के दोनों रूपों, पश्चिमी और पूर्वी, मे उन्होंने अच्छी कविता की है। 'रहीम रत्नावली' में उनकी सभी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें, बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, दोहा, पद आदि का प्रयोग हुआ है। उनके प्रसिद्ध ग्रथों में 'वरवै नायिका-भेद' 'शृंगार-सोरठा, 'मदनाष्टक' 'रास पंचाध्यायी, और 'नगर-शोभा' का स्थान है। उनके नीति के दोहे हिन्दी-संसार में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाओ के कुछ उदाहरण लीजिए :—

'दादुर, मोर, किसान मन, लग्यो रहै घन मांहिं।
पै रहीम चातक रटनि, सरबर को कोउ नाहिं॥
ओछो काम बड़े करैं, तौ न बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत को, गिरिधर कहै न कोय॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति. का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यपात नहीं, लटेप रहत भुजंग॥'

× × ×

'लहरत लहर लहरिया; लहर-बहार।
मोतिन जटी किनरिया, बिथुरे बार॥
बाहर लैके दियवा, बारन जाय।
सासु ननद ढिग पहुँचत, देति बुझाय॥'

(८) सेनापति—सेनापति कब और कहाँ हुए, कुछ पता नहीं चलता। आचार्य शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में उनका जन्म संवत १६४६ के आस-पास माना, और उन्हें अनूप शहर का निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताया है, पर ऐतिहासिक प्रमाणों से ये सारी बातें संदिग्ध सिद्ध होती हैं। आरंभ में उनका संबंध किसी राज-दरबार से अवश्य था, पर विरक्त होने पर वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने लगे। 'सेनापति' उनका उपनाम था। उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ बताए जाते हैं : (१) काव्य-कल्पद्रुम और (२) कवित्त रत्नाकर (सं० १७०६)। 'काव्य-कल्पद्रुम' अप्राप्य है। 'कवित्त-रत्नाकर में सेनापति की स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं जो पाँच तरंगों में विभाजित हैं। पहली तरंग में समस्त कवित्त श्लिष्ट, दूसरी तरंग में शृंगार-संबंधी कवित्त, तीसरी तरंग में ऋतु-वर्णन-संबंधी कवित्त, चौथी तरंग में राम-कथा-संबंधी कवित्त और पांचवी तरंग में भक्ति संबंधी कवित्त हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट के रूप में कुछ चित्र-काव्य संबंधी रचनाएँ भी दी गयी हैं। इन रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सेनापति न तो ध्वनि-संप्रदाय के थे और न रस-संप्रदाय के, उन पर अलंकार-सप्रदाय का अवश्य प्रभाव था। अलंकारों की सजावट के कारण ही रसोत्कर्ष की ओर उनका ध्यान अधिक आकृष्ट नहीं हुआ। फिर भी शृंगार, वीर, रौद्र, भयानक, तथा शांत रस-संबंधी उनकी रचनाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। रीति-कालीन-परंपरा से प्रभावित उनका नायिक-भेद भी उत्तम है। शृंगार-वर्णन में उनका ध्यान संयोग की अपेक्षा वियोग की ओर

अधिक है। उनका विरह-वर्णन मुख्यतः प्रवास-हेतुक तथा विरह-हेतुक हैं। कहीं-कहीं ईर्ष्या-हेतुक वियोग का वर्णन भी उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। इस प्रकार के विरह-वर्णन में उन्होंने वियोग की व्याकुलता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया है। लंबी उडानवाले कवित्त थोड़े ही हैं। विरह-जनित उद्विग्नता का एक चित्र देखिए :—

'जौतैं प्रानप्यारे परदेस कौ पधारे तौतैं,
बिरह तें भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहि कमल-नैनी,
'सेनापति' अनमनी बैठियै रहति है॥
कागहिं उड़ावै कौहू, कौहू करै सगुनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि-पढ़ि पाती, कौहू फेरि कै पढ़ति, कौहू
प्रीतम कौ चित्र मैं स्वरूप निरखति है॥'

विरह-व्यथा को उद्दीप्त करने के लिए सेनापति ने ऋतु-वर्णन से विशेष सहायता ली है। उसका आधिक्य चित्रित करने में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली है। विरही की मानसिक स्थिति के सूक्ष्म विश्लेषण की की ओर भी उनका ध्यान बहुत कम गया है। उन्होंने विरह-काल की साधारण स्थितियों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है।

सेनापति के काव्य की दूसरी विशेषता राम-कथा से संबंध रखती हैं और इसी विशेषता के कारण वह तुलसी की परंपरा में आते हैं। उन्होंने संपूर्ण राम-कथा को न लेकर केवल सीता-स्वयंवर, परशुराम-मिलन, मारीच-वध, हनुमान की लंका-यात्रा, सेतु बाँधने का आयोजन, हनूमान तथा राक्षसों का युद्ध, अंगद का रावण के पास जाना, राम-रावण युद्ध और सीता की अग्नि-परीक्षा का ही वर्णन किया है। इन विषयों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होने मुख्यतः वीरोत्साहवाले स्थलों का ही वर्णन किया है। राम का गुणगान उन्होने किया है अवश्य, पर कम। युद्ध की तैयारी के वर्णन में उनकी प्रतिभा अधिक रमी है। राम-रावण का उन्होंने समान

रूप से उत्कर्ष दिखाया है। इससे उनके वर्णन अधिक सजीव एवं स्वाभाविक हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

'बीर रस मद-माते, रनतैं न होत हौंते
दुहूँ के निदान अभिमान चाप बान कौं।
सर बरषत, गुन कौं न करषत मानौं,
हिय हरषत जुद्ध करत बखान कौं॥
'सेनापति' सिंह सारदूल से लरत दोऊ,
देखि धधकत दल देव-जातुधान कौं।
इत राजा राम रघुवंस कौं धुरंधर है,
उत दसकंधर है सागर गुमान कौं॥'

वीर रस के चित्रण में कवियो ने प्रायः युद्धों के विशद वर्णन से ही काम लिया है, पर तोपो की गडगडाहट और तलवारों की छपछपाहट मे वीर रस की वैसी व्यंजना नहीं होती जैसी वीरोचित उत्साह के प्रदर्शन में होती है। सेनापति ने राम-रावण युद्ध के वर्णन में वीरोचित उत्साह को ही प्रधानता दी है। राम की युद्ध-मुद्रा और राम की दानवीरता के अत्यन्त सजीव चित्र उन्होंने उतारे हैं। राम के भक्त तो वह थे ही, साथ ही शिव और कृष्ण के प्रति भी उनका अनुराग था। वैष्णव-भक्त कवियों की भाँति वह तीर्थ-सेवन, गंगा-स्नान आदि में भी आस्था रखते थे। गंगा का गुण-गान उन्होंने मुक्तकंठ से किया है।

सेनापति के काव्य की तीसरी विशेषता है उनका ऋतु-वर्णन। प्रचलित परंपरा के अनुसार उन्होंने ऋतु-वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत किया है। उनके बारह मासे के अधिकांश कवित्त इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। साथ ही कुछ कवित्त ऐसे भी हैं जिनसे उनकी स्वतंत्र प्रकृति-निरीक्षण शक्ति का आभास मिलता है। भारतीय ऋतुओ में से ग्रीष्म ऋतु से वह अधिक प्रभावित हैं और इस ऋतु का उन्होने अत्यन्त सजीव और वास्तविक वर्णन किया है। उनका ऋतु-वर्णन सामाजिक परिस्थितियों से अत्यधिक

प्रभावित है और उसमें ऋतुओं के उत्कर्ष के सुन्दर चित्र मिलते हैं। ग्रीष्म-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :—

'वृष कौं तरनि, तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत है॥
'सेनापति' नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'कवित्त रत्नाकर' की फुटकर रचनाएँ भक्त और शृङ्गारी कवियों की रचनाओं के साथ रखी जा सकती हैं। शृङ्गारी कवियों की रचनाओं में वाह्य उपकरणों-द्वारा भाषा को आभूषित करने का जो आग्रह पाया जाता है वही सेनापति की रचनाओं में भी पाया जाता है। सेनापति की ब्रजभाषा अत्यन्त सुव्यवस्थित, परिमार्जित और प्रसाद तथा ओज-गुणयुक्त है। इसीलिए श्लिष्ट काव्य लिखने में उन्हें विशेष सफलता मिली है। अभंग श्लेष, सभंग-श्लेष, उपमा, यमक, रूपक, अनुप्रास और उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत वस्तूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा आदि को उन्होंने अपनी रचनाओं में विशेष रूप से स्थान दिया है। ऐसा लगता है कि वह अलंकारवादी थे। वस्तूत्प्रेक्षा की सहायता से शुभ्र ज्योत्सनापूर्ण संसार का चित्र इन पंक्तियों में देखिए :—

'कातिक की राति, थोरी-थोरी सियरात, सेना-
पति, है सुहाति, सुखी जीवन के गन है।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन.
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित विमल चंद, चांदनी छिटकि रही,
राम कैसौ जस अध ऊरध गगन हैं।

तिमिर-हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं॥

उक्त दरबारी-कवियों के अतिरिक्त रायबरेली-निवासी लालच दास का नाम भी मिलता है। उन्होंने 'हरि-चरित्र' (सं० १५८५) और 'भागवत दशम स्कंध भाषा' (सं० १५८७) नाम की दो रचनाएँ की हैं। इन दोनों पुस्तकों की रचना अवधी मिली भाषा में हुई है और इनमें दोहे-चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। महाराज टोडरमल (स० १५५०-१६४०), आलम, बलभद्र मिश्र, मनोहर कवि, जमाल, हेलराय, सैयद मुबारक अली बिलग्रामी (ज० स० १६४०), बनारसी दास (ज० सं० १६४३), फुहकर कवि, सुंदर और मेवाड़-नरेश महाराणा जगत सिंह (सं० १६८५-१७०६) के आश्रित कवि लालचन्द भी दरबारी-परंपरा के कवि माने जाते हैं। इस परंपरा में मुबारक-कृत 'अलक-शतक' और 'तिल-शतक', आलम-कृत 'माधवानल कामकंदला' (सं० १६३६-४०), फुहकर कवि-कृत 'रसरतन' (सं० १६७३), सुंदर कवि-कृत 'सुन्दर-शृङ्गार' (स० १६८८) और लालचंद-कृत 'पद्मिनी-चरित्र' नामक प्रबन्ध-काव्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

# ११. हिन्दी-साहित्य का रीति-काल

**रीति-काल की पीठिका।**

भारतीय इतिहास में मुगल-सम्राट अकबर का शासन-काल (सं० १६१३-६२) भक्ति-भावना के विकास के सर्वथा अनुकूल था। उसने जिस राजनीतिक आदर्श का आश्रय लेकर उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की थी वह विस्तृत मुगल-साम्राज्य के लिए ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध हुआ था। उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर (सं० १६६२-८४) और शाहजहाँ (स० १६८४-१७१५) ने उस आदर्श का निर्वाह किया, परन्तु औरंगजेब (सं० १७१५ ६२) उसका पालन न कर सका। औरंगजेब निरंकुश, अहंवादी और अवसरवादी था। उसका न कोई राजनीतिक सिद्धान्त था और न कोई सामाजिक आदर्श। उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंदू ही नहीं, शिया मुसलमान भी क्षुब्द हो उठे। दक्षिण के शिया-राज्य उसकी सुन्नी-नीति के शिकार बनें और उनके नष्ट होने से मरहठों को उभरने का अवसर मिला। उत्तर भारत में सिख भी उसके विरुद्ध हो गये। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग पर टिका हुआ अकबर का आदर्शवाद उसके शासन-काल में लोप हो गया। चारों ओर उसके शत्रु ही शत्रु दिखाई देने लगे। ऐसी दशा में उसका सम्पूर्ण जीवन युद्ध करते ही बीता। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने भी शासन-व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा नही की। बहादुरशाह प्रथम (सं० १७६४-६६) से बहादुरशाह द्वितीय (सं० १८६४-१६१५) तक कुल नौ मुग़ल-सम्राट हुए, पर वे सब के सब निकम्मे निकले। इसी समय देश पर विपत्तियाँ भी आईं। मुहम्मदशाह के शासनकाल (सं० १७७६-१८०५) में नादिरशाह (मृ० सं० १८०४) का आक्रकण (सं० १७६६) हुआ। आलमगीर द्वितीय के शासन-काल (१८११-१६) मे अहमशाह अब्दाली ने चढ़ाई (सं० १८१३) की।

तिमिर-हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं ॥

उक्त दरबारी-कवियों के अतिरिक्त रायबरेली-निवासी लालच दास का नाम भी मिलता है। उन्होंने 'हरि-चरित्र' (सं० १५८५) और 'भागवत दशम स्कंध भाषा' (सं० १५८७) नाम की दो रचनाएँ की हैं। इन दोनों पुस्तकों की रचना अवधी मिली भाषा में हुई है और इनमें दोहे-चौपाइयों का प्रयोग हुआ है। महाराज टोडरमल (सं० १५५०-१६४०), आलम, बलभद्र मिश्र, मनोहर कवि, जमाल, हेलराय, सैयद मुबारक अली बिलग्रामी (ज० सं० १६४०), बनारसी दास (ज० सं० १६४३), फुहकर कवि, सुंदर और मेवाड़-नरेश महाराणा जगत सिंह (सं० १६८५-१७०६) के आश्रित कवि लालचन्द भी दरबारी-परंपरा के कवि माने जाते हैं। इस परंपरा में मुबारक-कृत 'अलक-शतक' और 'तिल-शतक', आलम-कृत 'माधवानल कामकंदला' (सं० १६३६-४०), फुहकर कवि-कृत 'रसरतन' (सं० १६७३), सुंदर कवि-कृत 'सुन्दर-शृङ्गार' (सं० १६८८) और लालचंद-कृत 'पद्मिनी-चरित्र' नामक प्रबन्ध-काव्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

---

# ११. हिन्दी-साहित्य का रीति-काल

रीति-काल की पीठिका

भारतीय इतिहास में मुगल-सम्राट अकबर का शासन-काल (सं० १६१३-६२) भक्ति-भावना के विकास के सर्वथा अनुकूल था। उसने जिस राजनीतिक आदर्श का आश्रय लेकर उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की थी वह विस्तृत मुगल-साम्राज्य के लिए ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध हुआ था। उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर (सं० १६६२-८४) और शाहजहाँ (स० १६८४-१७१५) ने उस आदर्श का निर्वाह किया, परन्तु औरंगज़ेब (सं० १७१५ ६२) उसका पालन न कर सका। औरंगजेब निरंकुश, अहंवादी और अवसरवादी था। उसका न कोई राजनीतिक सिद्धान्त था और न कोई सामाजिक आदर्श। उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंदू ही नहीं, शिया मुसलमान भी क्षुब्द हो उठे। दक्षिण के शिया-राज्य उसकी सुन्नी-नीति के शिकार बने और उनके नष्ट होने से मरहठों को उभरने का अवसर मिला। उत्तर भारत में सिख भी उसके विरुद्ध हो गये। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानो के पारस्परिक सहयोग पर टिका हुआ अकबर का आदर्शवाद उसके शासन-काल में लोप हो गया। चारो ओर उसके शत्रु ही शत्रु दिखाई देने लगे। ऐसी दशा में उसका सम्पूर्ण जीवन युद्ध करते ही बीता। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो ने भी शासन-व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा नही की। बहादुरशाह प्रथम (सं० १७६४-६६) से बहादुरशाह द्वितीय (सं० १८६४-१६१५) तक कुल नौ मुग़ल-सम्राट हुए, पर वे सब के सब निकम्मे निकले। इसी समय देश पर विपत्तियाँ भी आई। मुहम्मदशाह के शासनकाल (सं० १७७६-१८०५) में नादिरशाह (मृ० सं० १८०४) का आक्रकण (सं० १७६६) हुआ। आलमगीर द्वितीय के शासन-काल (१८११-१६) में अहमशाह अब्दाली ने चढ़ाई (सं० १८१३) की।

स० १८१५ में पानीपत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। सं० १८२२ में शाह आलम (सं० १८१६-६३) ने अंगरेजों को बिहार, बंगाल और उड़ीसा की दीवानी दे दी। गुलाम कादिर नामके एक अफ़ग़ानी ने उसे अंधा करके उसकी सम्पत्ति भी लूट ली। अंतिम सम्राट बहादुरशाह (सं०१८६४-१९१५) पर सं० १९१४ की जन-क्रान्ति में भाग लेने का अभियोग लगाया गया और उसे गद्दी से उतार कर रंगून भेज दिया गया। दिल्ली के लाल किले पर 'यूनियन जैक' फहराने लगा। यह है दो शताब्दियों का स्थूल चित्र—निरन्तर युद्ध, अशांति, विप्लव, लूट-पाट, आर्थिक संकट, क्रियात्मक शक्ति का ह्रास, नैतिक दुर्बलता। इस चित्र का उज्जवल अंश भी है। मुग़ल-सम्राट चाहे जितने निरंकुश रहे हो और शासन के कार्य भार से वे चाहे जितने विमुख, औरंगज़ेब को छोड़कर शेष सबने साहित्य, संगीत, और कला को जी खोलकर प्रोत्साहन दिया। सभी सम्राटों ने अपने दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए धन को पानी की तरह बहाया। मुहम्मद शाह के समय की दिल्ली साहित्य, संगीत, चित्र-कला, रमणीयता और विलासिता का उदाहरण उपस्थित करती थी। अच्छे-अच्छे कलाकार वहाँ निवास करते थे। जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, लाहौर, मुर्शिदाबाद और लखनऊ उस समय की सौंदर्य-भावना के अन्यतम प्रतीक थे। मुहम्मदशाह उर्दू-काव्य का प्रथम संरक्षक था। उसके समय मे उर्दू-काव्य ने बहुत उन्नति की। दिल्ली उजड़ने के पश्चात् लखनऊ, रामपुर और हैदराबाद उर्दू-काव्य के क्षेत्र बन गए। नज्मुद्दीन 'आबरु' (मृ० सं० १८०७), शेख़ जहूरुद्दीन 'हातिम' (सं०१७५६-१८४९), ख़ान 'आरज़ू' (सं०१७४६-१८१३), ख़्वाजा मीर 'दर्द' (सं०१७७८-१८४२), मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' (सं०१७७०-१८५२), मीर तक़ी 'मीर' (सं०१७८२-१८६७), इंशाअल्लाह ख़ाँ 'इंशा' (मृ०सं०१८७४) सआदत यार ख़ाँ 'रंगीन' (मृ०सं०१८९१), मोमिन ख़ाँ 'मोमिन' (सं०१८५७-१९०८); मुहम्मद इब्राहीम 'ज़ौक़' (सं०१८४६-१९११) और असदउल्ला ख़ाँ 'ग़ालिब' (सं०१८४४-१९२६) ने इसी समय उर्दू-काव्य में प्राण प्रतिष्ठा की। जयपुर और जोधपुर में संगीत की नई शैलियों का जन्म इसी समय हुआ।

इसी समय काव्य और संगीत के साथ-साथ चित्र-कला की उन्नति हुई। मुहम्मदशाह के समय में भारतीय चित्र-कला को विशेष प्रोत्साहन मिला। हैदराबाद, पूना, काशी, लखनऊ, लाहोर आदि स्थानों में चित्र-कला अपनी विशिष्ट शैलियों में विकसित हुई। इस प्रकार भारतीय इतिहास में सं० १७०० से सं० १६०० तक का समय जहाँ राजनीतिक दृष्टि से अशांत और क्षुब्ध है वहाँ कला और साहित्य की दृष्टि से वह उन्नत और समृद्ध है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? उत्तर है, शासकों में कर्तव्य-बुद्धि और क्रियाशीलता का अभाव। उस समय मुग़ल-सम्राट ही नहीं, राजपूत-नरेश भी कर्तव्य-बुद्धि-हीन और अकर्मण्य हो गए थे। उनके सामने निर्माण की कोई योजना नहीं थी। जनता के प्रति अपने कर्तव्यों की ओर से उन्होंने अपनी आखें फेर ली थीं। उत्तरदायित्व की भावना और कर्तव्य के अभाव में उनकी शक्ति जीवन के आनन्दोपभोग में लग गयी थी। वे अपने राजनीतिक वातावरण से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने अपनी आखों से अपना साम्राज्य लुटते देखा था। वे यह भी समझते थे कि वे राजा से भिखारी बनने जा रहे हैं। ऐसी अनिश्चित परिस्थिति में उनकी आनन्दोपभोग की लालसा और भी बढ़ गयी थी। विलासिता का अर्थ है सत्ता, धन और जीवन के आनन्द का भोग। इस अर्थ में उस समय के शासक अपनी अहं भावना के कारण कर्तव्य से च्युत और विलासी हो गए थे। देश की विविध जातियों और धार्मिक तत्त्वों को एक सूत्र में बांधनेवाले रचनात्मक एव क्रियात्मक आदर्श का उनमे अभाव था। आर्थिक ह्रास और नैतिक अधःपतन के गर्त में गिरती हुई जनता को उठाने की क्षमता उनमें नहीं थी। निर्णयात्मक युद्ध के अभाव में उन्हें निरन्तर युद्ध की आशंका घेरे रहती थी। इसलिए वह चारो ओर से उदासीन होकर अपने में ही केन्द्रित हो गए थे। साधारण जन-जीवन से उनका सम्पर्क छूट गया था। इसलिए अपनी मौज और मस्ती में उन्होंने कवियों, संगीतज्ञों और चित्रकारों को प्रोत्साहन दिया। वे पुरस्कृत हुए और

उन पर कंचन की वर्षा हुई। कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार और शिल्पी-सबका चारो ओर सम्मान बढ़ गया। इन कलाकारों के आदर्श को पूर्णता मिली नारी के सौंदर्य और प्रेम में। काव्य, संगीत और चित्र तीनों ने नारी के जीवन, नारी के सौंदर्य और नारी के प्रेम का अंकन किया। दरबारी समाज में सौंदर्यपूर्ण नारी का मूल्य और महत्त्व बढ़ गया। जिसने एक फड़कती हुई कविता सुना दी, जिसने अभिसार का एक सुन्दर चित्र अंकित कर दिया, जिसने प्रेम से सराबोर एक पद गा दिया वही मालामाल हो गया। ऐसे ही वातावरण में काव्य में शृङ्गार और प्रेम की कोमल भावनाओं के युग का जन्म हुआ जिसमें यदि एक ओर मरसिया की बहार थी तो दूसरी ओर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का गुणगान। पहली उर्दू-काव्य की विशेषता थी, दूसरी हिन्दी-काव्य की। हिन्दी-काव्य का यह युग 'रीति-काल' कहा जाता है। शृङ्गार के आधार पर रीति-ग्रंथों का निर्माण इस काल की प्रमुख विशेषता है।

**रीति-काल का आरंभ**

हिन्दी-साहित्य में रीति-काल का आविर्भाव अकस्मात नहीं हुआ। आलोच्य काल की राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे जन्म नही दिया, उसके विकास में सहयोग अवश्य दिया। उसका बीजारोपण तो हिन्दी-साहित्य के आदि काल में ही हो चुका था। चंद बरदाई (सं० ११८३-१२४६) स्वयं रीति-नीति से परिचित थे। उनके समकालीन अन्य कवि तथा गीत-गोविन्दकार जयदेव (सं० १२३६-६२) की परंपरा में मैथिल-कोकिल विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) राधा-कृष्ण के रति-रंग के नग्न चित्र उतार चुके थे और नायिका-भेद, नख-शिख, दूती, अभिसार, षट् ऋतु आदि शृङ्गारिक विषयो की ओर सकेत कर चुके थे, पर राम-भक्ति का प्रावल्य होने से बहुत दिनों तक उक्त विषयों को प्रोत्साहन न मिल सका। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत उन्हें कुछ उभरने का अवसर अवश्य मिला, पर उनका मर्य्यादित रूप सर्वत्र बना रहा। अकबर (सं० १६१३-६२) और जहांगीर (सं० १६६२-८४) के शासन-काल में जब राज-दरबारों में कवियो का सम्मान होने लगा और उनकी रचनाएँ पुरस्कृत

की जाने लगीं तब उन विषयों के प्रति व्यवस्थित रूप से कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने अपने आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करने के लिए उनके आधार पर रचनाएँ कीं। सर्वप्रथम कृपाराम ने रस-रीति पर 'हित-तरंगिणी' (स० १५६८) नामक ग्रंथ की, दोहों में, रचना की। इसी परंपरा में चरखारी-निवासी मोहन लाल मिश्र ने 'शृङ्गार-सागर' (सं० १६१६) और करुणेश कवि ने स० १६३७ के लगभग 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' नामक तीन अलंकार ग्रंथ लिखे। रहीम (सं० १६१०-८३) ने 'बरवै नायिका भेद', केशवदास (सं० १६१२-७४) ने 'रसिक-प्रिया' (सं० १६४८) तथा 'कवि-क्रिया' (सं० १६५८) और सुन्दर कवि ने 'सुन्दर-शृङ्गार' (सं० १६८८) लिखकर रीति-काल के आविर्भाव की सूचना दी। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक समावेश पहले-पहल आचार्य केशव दास ने ही किया, पर हिन्दी में रीति-ग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह उनकी 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पश्चात् आरम्भ हुआ और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं। केशव अलंकारों को प्रधानता देनेवाले चमत्कारी कवि थे। संस्कृत साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गयी थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर उन्होंने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली थी। उन्होंने काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया था जो भामः और उद्भट के समय में थी, उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य मम्मट (सं० १०५०-११५०) और विश्वनाथ-द्वारा विकसित हुई थी। ऐसी दशा में केशवदास को हिन्दी के परवर्ती कवियों का समर्थन प्राप्त न हो सका। उन्होंने चिन्तामणि त्रिपाठी की रीति-शैली का अनुसरण किया। इसलिए हिन्दी में चिन्तामणि से रीतिकाल का आरम्भ माना जाता है।

प्रश्न उठता है कि रीति-काल के कवियो को रीति-ग्रंथ रचने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर यही हो सकता है कि संस्कृत-साहित्य से। सस्कृति-साहित्य मे रीति के तीन अङ्ग (१) रस, (२) अलंकार और (३) ध्वनि, माने गए हैं और इन तीनों अङ्गो पर संस्कृत

साहित्यकारों ने अलग-अलग लक्षण-ग्रंथों की रचना की है। उनकी दो श्रेणियाँ मिलती हैं: (१) आचार्य और (२) कवि। जो आचार्य था वह कवि नहीं था और जो कवि था वह आचार्य नहीं था। आचार्य काव्य-शास्त्र पर व्यवस्था देते थे और कवि अपनी रचनाओं में उसका अनुसरण करते थे। रस, अलङ्कार और ध्वनि के पृथक-पृथक आचार्य थे। वे काव्य-सम्बन्धी समीक्षा को अपने-अपने सिद्धांतों के अनुसार मनोवैज्ञानिक भित्ति पर इस प्रकार आधारित करते थे कि उसमें नवीन उद्भावना अथवा भ्रम-संशोधन के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता था। कवियों का काम था, केवल अपनी रुचि-विभेद के अनुसार अपना-अपना मार्ग ग्रहण करना और उसपर चलना। हिन्दी में जिस समय रीति-ग्रंथों का निर्माण हुआ उस समय तक संस्कृत के अनेक संप्रदाय बन चुके थे और वे सब के सामने थे। सूर और तुलसी के समय तक हिन्दी-साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हो चुकी थी, यदि उसमें कोई अभाव था तो वह था रीति-ग्रंथों का। हिन्दी का कवि-समाज इस अभाव का अनुभव कर रहा था, पर जिस प्रकार का वातावरण उसके लिए अपेक्षित था उस प्रकार का वातावरण, भक्ति-काल के प्रादुर्भाव के कारण, उसे न मिला। वह मिला उसे तब, जब अकबर और जहाँगीर के शासन-काल में शांति-सुख की व्यवस्था हुई और राज-दरबारों में हिन्दी-कवियों की रचनाएँ सराही जाने लगीं। ऐसे समय में उनका ध्यान संस्कृत के रीति-शास्त्रों की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने उनसे प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने संस्कृत के रीति-ग्रंथों से बहुत कुछ लिया, पर वे आचार्य न होकर कवि ही बने रहे। कवि होने के लिए वे बाध्य थे। उनके सामने पेट-पूजा का प्रश्न था। साहित्य-सृजन के साथ-साथ वे अपना तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के साधनों की खोज में राज-दरबारों के द्वार ही खटखटाया करते थे। ऐसी दशा में उन्हें अपने आश्रय-दाताओं की रुचि का ही ध्यान रखना पड़ता था। यही कारण था कि वे संस्कृत के आचार्यों की भाँति काव्यांगों का स्वतन्त्र एवं मौलिक सृजन न कर सके। अलङ्कारवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि

रीति-काल पर संस्कृत का प्रभाव

अनेक वादों का जैसा विस्तृत विवेचन संस्कृति-रीति-ग्रंथों में हुआ वैसा करने की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। लक्षण-ग्रंथ लिखने के बहाने वे शृङ्गार रस की ही अजस्र धारा प्रवाहित करते रहे। नायिका-भेद, नख-शिख, दूती, अभिसार, हाव-भाव, संयोग-वियोग, षट्ऋतु और बारहसा में उनकी काव्य-प्रवृति इतनी रमी कि वे उससे बाहर न निकल सके। इसलिए हिन्दी-काव्य में उन समस्त वादो का सम्यक प्रचार एवं प्रसार न हो सका जो संस्कृत-साहित्य में काव्य-रचना के आदर्श माने जाते थे।

**रीति-काव्य का विकास**

संस्कृत-रीतिकारों से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में कवियों ने जो शृङ्गारमयी रचनाएँ प्रस्तुत कीं उन्हें हम सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: (१) रीति-बद्ध और (२) रीति-मुक्त। रीति-बद्ध रचनाओं को भी दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) लक्षण-बद्ध और (२) लक्ष्य मात्र। रीति-बद्ध काव्य के रचयिताओ में चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, बिहारी, पद्माकर आदि हैं और रीति-मुक्त काव्य के रचयिताओं में वृन्द आलम, घनानन्द, गिरिधर, दीनदयाल गिरि आदि के नाम आते हैं। रीति-बद्ध कवियों के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि उन्होंने अपनी रचनाएँ विद्वानों अथवा पण्डितों के लिए नहीं, अपितु रस के ग्राहकों और अपने आश्रय-दाताओं के लिए की हैं। ऐसी दशा में उनसे रीति के क्षेत्र में किसी मौलिक देन की आशा करना व्यर्थ है। उन्होंने अपने आपको संस्कृत के 'चन्द्रलोक', 'रस तरङ्गिणी', 'रस-मञ्जरी', 'कुबलयानन्द' 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' आदि रचनाओं तक ही सीमित रखा है। अगली पक्तियों में हम उन्ही के सम्बन्ध में विचार करेंगे:—

(१) चिन्तामणि त्रिपाठी—चिंतामणि त्रिपाठी (ज० सं० १६६६) तिकवॉपुर, जिला कानपुर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। भूषण उनके भाई थे। 'शिव सिंह सरोज' के अनुसार वह बहुत दिनों तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला मकरन्द शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर उन्होंने 'छंद विचार' नामक पिंगल

ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'काव्य-विवेक', 'कवि-कुल-कल्प-तरु' ( सं० १७०७ ), 'काव्य-प्रकाश', और 'रामायण' भी उनकी रचनाएँ हैं। उनका रचना-काल स० १७०० के लगभग माना जाता है। उन्होंने काव्य के सभी अंगो पर ग्रंथ लिखे हैं। इसलिए उनकी गणना ब्रजभाषा के आचार्यों में की जाती है। उनकी भाषा शुद्ध, परिभाजित और लालित्यपूर्ण है। एक उदाहरण लीजिए :—

'येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, ते न परैं कबहूँ जम-घेरे॥
राजै रमा रमनी-उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
हैं बल भार उदंड भरे, हरि के भुज दंड सहायक मेरे॥'

(२) महाराज जसवंतसिह—महाराज जसवंतसिंह (सं० १६८२-१७३८) मेवाड के प्रसिद्ध महाराज और शाहजहाँ (सं० १६४६-१७१५) एवं औरङ्गज़ेब ( सं० १६७५-१७६४ ) के समकालीन थे। अपने पिता गजसिंह की मृत्यु ( सं० १६९५ ) के पश्चात् वह सिंहासनारूढ़ हुए। वह अत्यन्त साहित्य-मर्मज्ञ और तत्त्वज्ञानी थे। साथ ही युद्ध-कला में भी वह बहुत निपुण थे। उनके यहाँ कवियो और विद्वानों का बराबर समागम होता रहता था। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं : (१) रीति-सम्बन्धी और (२) तत्त्वज्ञान सम्बन्धी। 'भाषा-भूषण' उनका रीति-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इस ग्रंथ से उनका आचार्यत्व झलकता है। वास्तव में वह कवि नही, आचार्य ही थे। 'भाषा-भूषण' में उन्होने दोहों में लक्षण और उदाहरण एक साथ दिए हैं। इसपर 'चन्द्रलोक' की शैली की स्पष्ट छाया है। यह ग्रंथ छोटा, पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त उनके तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी काव्य-ग्रंथों में 'अपरोक्ष-सिद्धान्त', 'अनुभव प्रकाश', 'आनन्द विलास', 'सिद्धान्त बोध' 'सिद्धान्त सार' और 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' (सं० १७०० ) का स्थान है। इनसे उनकी पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है, पर साहित्य के क्षेत्र में वह आचार्य ही माने जाते हैं। 'भाषा-भूषण' से दो उदाहरण लीजिए :—

'परिसंख्या इक थल बरजि, दूजे बल ठहराय।
नेह हानि हिय में नहीं, भई दीप में जाइ॥
अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिशय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप॥'

(३) बिहारी लाल—बिहारी लाल ( सं० १६५२-१७२१ ) का जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविन्दपुर में कार्तिक शुक्ल ८, बुधवार, सं० १६५२ को हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था और वह धौम्य गोत्रीय श्रोत्रिय चतुर्वेदी माथुर थे। कहा जाता है कि सं० १६६० में वह अपने पिता के साथ ओरछा गये और वहीं उन्होंने केशवदास (सं० १६१२-७४) से काव्य-कला की शिक्षा ली। इसके पश्चात् वह केशवदास के साथ ब्रज गए और साहित्य का अध्ययन करने लगे। उस समय उनके परिवार में चार प्राणी थे: बिहारी, उनके छोटे भाई बल भद्र, उनकी एक बहन, और उनके पिता केशवराय। केशवराय की पत्नी का देहान्त ब्रज आने से पूर्व ही हो चुका था। इसलिए वह अपने बच्चों सहित बाबा नागरीदास के साथ यमुना के किनारे एक कुटी में रहते थे। बाबा नागरीदास के वह परम भक्त थे और उन्हीं के कहने से उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह हरिकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया था। इसी विवाह से कुलपति मिश्र का जन्म हुआ। बिहारी का विवाह मथुरा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ और बल भद्र का मैनपुरी में। इस प्रकार अपने पुत्रों और पुत्री का विवाह करने के पश्चात् केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैराग्य लेने पर बिहारी मथुरा आकर अपने ससुराल में रहने लगे। उनके गुरु बाबा नरहरिदास थे। नरहरिदास बाबा नागरीदास के साथ रहते थे। एक बार जहाँगीर (सं० १६२६-८४) उनसे मिलने वृन्दावन आये। इस अवसर पर बाबा नरहरिदास ने जहाँगीर से अपने प्रिय शिष्य बिहारी लाल का परिचय करा दिया। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ (सं० १६३९-१७१५) ने उन्हें आगरा बुला लिया। वहीं हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ( सं० १६१०-८३ ) से उनका परिचय हुआ। शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओं से

वार्षिक वृत्ति मिलती थी। नूरजहाँ की कुचालों से जब शाहजहाँ को आगरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा तब बिहारी फिर मथुरा आकर रहने लगे। सं० १६६२ में वह वर्षाशन लेने के लिए जयपुर गये। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह (सं० १६७६-१७२४) अपनी नव-विवाहिता रानी के प्रेम में इतने निमग्न थे कि राज्य-काज तक नहीं देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होंने एक मालिन-द्वारा यह दोहा उनके पास भेजा :—

**'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।**
**अली कली ही तें बंध्यो, आगे कौन हवाल॥'**

कहते हैं कि महाराज ने उक्त दोहे को कई बार पढ़ा और उससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने राज्य-काज की ओर पुनः ध्यान देना आरंभ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुई कि उन्होंने उनका चित्र बनवाकर राज-भवन में लगवा दिया। इस घटना के कुछ समय पश्चात् ही रानी अनन्त कुँवर के गर्भ से राजकुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही आमेर की गद्दी के अधिकारी हुए। बिहारी उनके गुरु नियुक्त हुए। इसी समय बिहारी ने 'सतसई' (सं० १७१६) की रचना की। इसकी रचना के पश्चात् ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनपर इतना प्रभाव पड़ा कि वह आमेर से वृन्दावन चले आए और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ।

बिहारी अत्यन्त स्वतन्त्र प्रकृति के कवि थे। उनकी एकमात्र रचना है 'सतसई' जो रीति-बद्ध लक्ष्य ग्रन्थ है। उस पर 'आर्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' की छाया-मात्र है। उसमें कुल ७१६ दोहे सकलित हैं। मुक्तकों में कोई क्रम नहीं होता। इसीलिए 'सतसई' में दोहों का कोई निश्चित क्रम नहीं है। कहा जाता है कि सबसे पहले औरङ्गजेब के पुत्र आज़मशाह (मृ० सं० १७६४) ने उन्हें क्रमबद्ध कराया था। बिहारी ने किस क्रम से उनका निर्माण किया था, यह अनिश्चित है। आज़मशाही क्रम के अनुसार उनके दोहों मे नायिका-भेद, नख-शिख, दूती, अभिसार, सौंदर्य, षट् ऋतु, प्रकृति आदि के वर्णन मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उनके कुछ दोहे नीति-सम्बन्धी

और भक्ति सम्बन्धी भी हैं। इस प्रकार, विषय की दृष्टि से, उनके दोहों मे पर्याप्त विविधता है। शृङ्गार-रस के ग्रन्थो में जितनी ख्याति और जितनी लोक-प्रियता उनके दोहों की है उतनी किसी की भी नहीं है। उनका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। उनके दोहों के सम्बन्ध में किसी का यह कहना—

'सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं, बेधैं सकल शरीर ॥'

उनके काव्य-कौशल का प्रमाण-पत्र है। वस्तुतः उन्होंने अपने दोहों के गागर में भाव-सागर भरा है। उनके दोहों के दो चरण अन्य प्रतिभा-शाली कवियों-द्वारा रचित कवित्त-सवैयों के चार चार चरणों से अधिक प्रभावशाली चमत्कारपूर्ण हैं।

बिहारी मुख्यतः शृङ्गारी कवि हैं। उन्होंने शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों के अत्यन्त सुन्दर और मोहक चित्र उतारे हैं। उनके संयोग के चित्रों में सजीवता और जीवन की उछल-कूद भी है, पर वियोग के चित्रण में उन्होंने चमत्कार, अतिशयोक्ति, सूक्ष्मता एव वाग्वैदग्ध से अधिक काम लेकर कहीं-कहीं खेलवाड भी किया है। उदाहरण के लिए उनका यह दोहा लीजिए:—

'इत आवत, चलि जात उत चली छः सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-सी रहै लगी उसासन साथ ॥'

कितनी अस्वाभाविक कल्पना है बिहारी के उक्त दोहे में! पर इस प्रकार की कल्पना-शक्ति के साथ-साथ अनुभावों और हावों की सुन्दर योजना में उन्होंने जैसी मधुर कल्पनाएँ की हैं वैसी कोई भी शृङ्गारी कवि नहीं कर सका है। हावपूर्ण चित्र का एक उदाहरण लीजिए:—

'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥'

उक्त भाव-व्यजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने शोभा, सुकुमारता, विरह-ताप,

विरह की क्षीणता आदि का वर्णन किया है। विरह की क्षीणता का उदाहरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ शोभा का एक उदाहरण लीजिए :—

'पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित-प्रति पून्योई रहै आनन ओप-उजास॥'

बिहारी मे कल्पना-शक्ति के साथ-साथ समास-शक्ति और उक्ति कौशल भी हैं। इसलिए उनकी मुक्तक-कला अत्यन्त सफल है। उन्होंने प्रकृति के चित्र भी सफलतापूर्वक उतारे हैं। उनका षट् ऋतु-वर्णन अत्यन्त रोचक और भावपूर्ण है। वसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा हिंडोला का वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है। उनके ग्रीष्म, शरद, हेमन्त और शिशिर के वर्णन भी अत्यन्त चुटीले और चमत्कारपूर्ण हैं। नीति और भक्ति के दोहे भी उन्होंने लिखे हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी काव्य प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य-कला के भी वह पंडित थे। उनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जो अलकार-शून्य हो। कई दोहो में तो उन्होंने कई अलंकारो का एक साथ समावेश किया है। उनकी अलंकार योजना मे अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, उत्पेक्षा, उन्मीलित, विरोधाभास, व्यंग, उपमा, रूपक असंगति, आदि अलकार मिलते हैं। इन अलकारो का प्रयोग उनकी रचनाओ मे अत्यन्त स्वाभाविक ढग से हुआ है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिए उन्होंने कम दोहे लिखे हैं।

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। वह चलती हुई होने पर भी साहित्यिक है। उसमें वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपो का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। उसमें शब्दों का तोड़-मरोड भी नहीं है। वह सीधी-सादी, स्वाभाविक, सरस, प्रवाहपूर्ण और रस-व्यंजक है। उस पर फारसी का भी प्रभाव है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित-दुति होई॥
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सब बात॥

सघन कुँज-छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥
कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥'

(४) मतिराम—मतिराम (ज० स० १६७४) बनपुर जिला कानपुर में उत्पन्न हुए थे। उनके आश्रय दाता बूँदी-नरेश राव भावसिंह (सं० १७१५-३०) थे। राव भावसिंह के आश्रय में उन्होंने 'ललित ललाम' (सं० १७१६) नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त 'रस राज' (सं० १६६५) 'साहित्यसार' (सं० १७४०), 'लक्षण-शृङ्गार' (सं० १७४५) और 'मतिराम सतसई' (सं० १७३५) भी उनके ग्रंथ बताए जाते हैं। उनकी इन रचनाओं में से 'रसराज' और 'ललित ललाम' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'रस-राज' में रसों का वर्णन है और 'ललित ललाम' में अलंकारों के सरस और स्पष्ट उदाहरण हैं। अपने उदाहरणों में मतिराम ने अपना काव्य-कौशल भरपूर दिखाया है। बिहारी की भाँति दूर की कौडी लाने और वचनो की वक्रता में वह उतने निपुण नही हैं जितने अपने वचनो की सरसता और स्वाभाविकता में। कहीं-कहीं उन्होने बहुत फड़कते हुए भाव प्रदर्शित किए हैं। उनकी रचनाओ में अलंकारों का व्यर्थ आडम्बर नही है। वे रस के सहायक और परिपोषक मात्र है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है जिसमें प्रसाद और माधुर्य गुणों का प्राधान्य है। मधुर शब्दों का प्रयोग उन्होंने प्रायः सबसे अच्छा किया है। भाषा के माधुर्य के साथ-साथ अर्थ गांभीर्य उनकी रचना का विशेष गुण है। दोहा, कवित्त और सवैया—इन तीन छन्दों का प्रयोग उन्होंने किया है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई॥'

× × ×

'मो मन तम-तोमहिं हरौ, राधा को मुख चन्द।
बढ़ै जाहि लखि सिन्धु लौं नंद नंदन आनन्द॥
नवल नेह में दुहुनि की लखी अपूरब बात।
ज्यों सूखत सब देह है, त्यों पानिप अधिकात॥
तेरी औरै भांति की दीप सिखा-सी देह।
ज्यों-ज्यों दीपति जगमगै, त्यों त्यों बाढ़त नेह॥
मंडित मृदु मुसक्यानि-दुति देखत हरत कलेस।
ललित लाल तेरो बदन तिय लोचन तारेस॥'

(५) भूषण—भूषण (सं० १६७० १७७२) का वास्तविक नाम क्या था, इसका पता नहीं। उनके बड़े भाई का नाम चिंतामणि त्रिपाठी और पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। उनका जन्म तिकवाँपुर, जिला कानपुर में हुआ था और वह कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि उनके समय में उनका गाँव विद्वानों का केन्द्र था। इसलिए अपने शैशव-काल में भूषण ने उनके सत्संग से विशेष प्रेरणा ग्रहण की और कविता करने लगे। रीतिकालीन शृङ्गारी भावना के वह समर्थक नहीं थे। उनके सामने राष्ट्र का प्रश्न था। छत्रपति शिवाजी (सं १६८४-१७३७) और पन्ना-नरेश छत्रसाल बुंदेला (सं० १७०६-१७८९) की वीरता और उनकी राष्ट्र-प्रियता की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँच चुकी थीं। बूंदी-नरेश शत्रुशल्य अथवा छत्रसाल हाडा (सं० १६८८-१७१५), छत्रपति शंभाजी (सं० १७१४-१७४६), छत्रपति शाहुजी (सं० १७३९-१८०६) मुगल-सम्राट औरंगजेब (सं० १६७५-१७६३), चित्रकूट-पति हृदयराम सोलंकी (सं० १७५०-५९), कुमायूँ-नरेश उद्योतचन्द्र (सं० १७३१-५५), गढ़वाल-श्रीनगर-नरेश फ़तहशाह (सं० १७४१-७३), रीवां-नरेश अवधूत सिंह (सं० १७५७-१८१२), जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह (सं० १७५६-१८१२), दिल्ली-नरेश जहाँदार शाह (सं० १७६९-७०), असोथर-नरेश भगवन्तराय खीची (सं० १७७०-९७) आदि से उनका परिचय था और उनमें से अधिकांश उनके आश्रय-दाता थे। कहा जाता है कि वह छत्रपति

शिवाजी से मिले थे और उनके साथ रहकर सं० १७३१ में अपने गाँव आए थे। इसी प्रकार यह भी प्रसिद्ध हैं कि सं० १७५५ में चित्रकूट-पति हृदयराम सोलंकी ने उनकी रचनाओं से प्रभावित होकर उन्हें 'भूषण' की उपाधि दी थी। शिवाजी से उनका परिचय सर्वप्रथम सं० १७२३ में दिल्ली में हुआ था। उस समय भूषण अपने भाई चिंतामणि के पास गए थे। चिंतामणि औरगजेब के आश्रित कवि थे और उन्हीं के द्वारा भूषण को मुगल-दरबार मे प्रवेश मिला था। जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह के प्रयत्न से ही शिवाजी दिल्ली-दरबार में गए थे और बन्दी कर लिए गए थे। उनकी वीरता और जातीयता से प्रभावित होकर भूषण उनके बन्दी-गृह से भागने पर उनके दरबार मे चले गए और वहाँ सं० १७३१ तक रहे। इसके पश्चात् उन्होंने कई राज्यो की यात्रा की और शिवाजी के अनुकूल वातावरण एवं संगठन करते रहे। उनकी तीन रचनाएँ मिलती हैं : (१) शिवराज भूषण, (२) शिवाबावनी और (३) छत्रसाल दशक।

भूषण रीतिकालीन परम्परा में होते हुए भी उसकी भाव-धारा से प्रभावित नहीं थे। उनके आदर्श थे, छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल बुंदेला जो उस समय औरंगजेबी अत्याचारों के विरुद्ध अपनी तलवारे सौंत कर खड़े हो गए थे। इसलिए उनकी कविता, आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में, कवि-कीर्ति-सम्बधी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। उसमें जनता की आशा-अभिलाषा है, जनता का हृदय है। न जाने कितने कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा में गीत गाए हैं, पर उनका आज पता नही है। इस दिशा में भूषण अजर-अमर हैं। उन्होने ऐसे समय मे अपनी वीरोचित रागनी छेडी थी जब हिन्दू-जाति पर विपत्ति की घटाएँ छा रही थीं और उसका अस्तित्व डाँवाडोल हो रहा था। इस दृष्टि से वह हिन्दू-जाति के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके काव्य में शक्ति है, उमंग है, उल्लास है, हिन्दू-जाति के संरक्षण की भावना है। अपने समय का इतिहास चित्रित करने में वह अपने समकालीन कवियों में सब से आगे हैं। रीतिकालीन परंपरा के अनुसार उन्होंने अपने 'शिवराज भूषण' मे अलंकारों का वर्णन

किया है, पर इस दिशा में उन्हे विशेष सफलता नहीं मिली है। लक्षणों की भाषा अस्पष्ट है और कहीं-कहीं उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शिवाबावनी' में वीर रस-सम्बंधी ५२ कवित्त हैं जो छत्रपति शिवाजी की प्रशंसा में कहे गए हैं। उसमें ओजमयी रचनाएँ हैं। 'छत्रसाल' में वीर छत्रसाल बुन्देला की प्रशंसा है। 'भूषण हजारा,' 'भूषण-उल्लास' और 'दूषण-उल्लास' भी उनके काव्य-ग्रंथ बताए जाते हैं, पर वे अप्राप्य हैं।

भूषण की भाषा ब्रजभाषा है, पर वह शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है। उसमें ओज है, पर वह अधिकतर अव्यवस्थित और ऊबड़-खाबड़ है। उसमें वाक्य-रचना भी शिथिल और गडबड है। शब्दों के रूप भी उसमें विकृत किए गए हैं। कहीं-कहीं तो नए शब्द भी गढ़े गए हैं। संस्कृत के शब्दो के साथ फ़ारसी शब्दों का मेल भी उसमें पाया जाता है। उसमें वीरोचित घटनाओं का जितना अधिक चित्रण है, उतना वीरोचित उत्साह अथवा उल्लास का नहीं। युद्ध की तैयारी और उसकी तड़क-भड़क उसमें बहुत है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से उसमें विशेष चमत्कार आगया है। कहीं-कहीं खड़ीबोली के आकारान्त शब्दों का प्रयोग भी उसमें मिलता है। दो उदाहरण लीजिए :—

'भुज भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगनी-सी.
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर, पखारन बीच धँसि जाति, मीन—
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के॥
रैयाराव चंपत के छत्रसाल महाराज,
'भूषण' सकै करि बखान को बलन के।
पच्छी पर-छीनें ऐसे परे, पर छीने वीर,
तेरी बरछीने बर छीने हैं खलन के॥'

× × ×

'चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषत है।

बिलखि बदन बिलखत बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारि फरकति है।
थर थर कांपत कुतुबसाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती दरकति है॥'

(६) देवदत्त—देवदत्त अथवा कविदेव (सं० १७३०-१८२४) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म इटावा नगर के पंसारी टोला बल्लाल पुरा में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० बिहारीलाल था। कहते हैं, उन्हें सरस्वती का वर्दान था और सोलह वर्ष की अवस्था मे ही उन्होंने 'भावविलास' (सं० १७४६) की रचना की थी। आरंभ में वह औरंगजेब के तृतीय पुत्र आज़मशाह (मृ० सं० १७६४) के आश्रित कवि थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका संबध दिल्ली-दरबार से छूट गया। उस समय तक वह 'अष्टयाम' की रचना कर चुके थे। आज़मशाह ने सं० १७४६ में उनका 'भाव-बिलास' और 'अष्टयाम' सुना था। दिल्ली से हटने के पश्चात् देवदत्त क्रमशः भवानीदत्त वैश्य, फफूंद-इटावा-निवासी कुशलसिंह, राजा उद्योतसिंह, राजा भोरीलाल, पिहानी-निवासी अकबर अली खॉ आदि के आश्रय में रहे और 'भवानी-विलास,' 'कुशल-विलास', 'प्रेमचन्द्रिका', और 'रस-विलास' (सं० १७८३) की रचना की। 'शब्द-रसायन' की रचना के समय वह किसी के आश्रय में नहीं थे। अन्त में उन्हें पिहानी-निवासी अकबर अली खॉ का आश्रय मिला। उस समय उन्होंने अपनी समस्त रचनाओं को 'सुख-सागर-तरङ्ग-संग्रह (सं० १८२४) का नाम देकर उन्हीं को समर्पित कर दिया। उनकी बनाई हुई ५२ या ७२ काव्य-पुस्तकें बताई जाती हैं जिनमें से 'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी विलास', 'कुशल-विलास', 'प्रेम चन्द्रिका', 'सुजान-विनोद', 'रस-विलास', 'राग-रत्नाकर', 'सुख-सागर-तरङ्ग', 'जगदर्शन-पचीसी', 'आत्मदर्शन पचीसी', 'तत्वदर्शन पचीसी', 'प्रेम-पचीसी', 'शृङ्गार-विलासिनी', 'प्रेम तरङ्ग', 'देव-चरित्र',

'जाति-विलास', 'शब्द-रसायन', 'देवमाया-प्रपञ्च-विनोद', 'राधिका-विलास', 'नख-शिख', प्रेम दर्शन', 'नीति शतक' और वैद्यक ग्रंथ प्राप्य हैं।

'भाव-विलास' में काव्य के विविध अङ्गों की चर्चा की गयी है और उसमें ६ प्रकार के भावों तथा ३४ प्रकार के सञ्चारी भावों का उल्लेख है। दो प्रकार के नवीन रसों की उद्भावना भी उसमें मिलती है जिनमें से एक लौकिक है और दूसरा अलौकिक। लौकिक रसों के परम्परागत ६ भेद हैं और अलौकिक रस को तीन भागों में विभाजित किया गया है: (१) स्वप्न, (२) मनोरथ और (३) उपनायक। अलङ्कार कुल २६ हैं। 'सुजान-विनोद' नायिका-भेद का ग्रन्थ है। 'देव चरित्र' में पौराणिक विषय हैं। प्रेम चन्द्रिका' में शृङ्गार को रसराज माना गया है। 'जाति-विलास' में विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। 'रसविलास' में कामिनी का वर्णन है। 'राग-रत्नाकर' सङ्गीत का ग्रन्थ है। 'शब्द-रसायन' में शब्द-शक्ति पर विचार किया गया है। तात्पर्य यह कि देव ने अधिकांश शृङ्गारमयी रचनाएँ की हैं। उनकी कविता में प्रेम की सुकुमार अवस्थाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ, रस-जनित आनन्द एवं मधुरता का अत्यन्त मनोरम चित्रण मिलता है। आचार्यत्त्व पक्ष में उन्होंने रसों को और विशेषतः शृङ्गार को रसराज मानकर रस-निरूपण किया है। सञ्चारी भावों के वर्णन में उक्ति-वैचित्र्य प्रमुख है।

देवदत्त की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। उन्होंने अपनी भाषा में प्रचलित लोकोक्तियों का प्रयोग अत्यन्त मनोरम ढङ्ग से किया है। विविध छन्दों में ब्रजभाषा का जितना कलात्मक रूप उनकी कविता में मिलता है उतना रीतिकाल के किसी कवि की कविता में नहीं मिलता। अनुप्रास की छटा उनकी भाषा की विशेषता है। उनकी भाषा सरस, प्रसाद गुणयुक्त, मधुर, प्रवाहपूर्ण और स्वाभाविक है। दो उदाहरण लीजिए :—

डार द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।

पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं, 'देव'
कोकिल हलावै, हुलसावै कर तारी दै ॥
पूरित पराग सों उतारो करै राई-लोन,
कञ्ज कली-नायिका लतानि सिर सारी दै ।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहिं जगावत गुलाब चटकारी दै ॥'

× × ×

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद-बिन्दु कै भाख्यौ ।
कंचुकी मैं चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यौ ॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यौ ॥'

(७) पद्माकर भट्ट—पद्माकर भट्ट (सं० १८१०-९०) तैलङ्ग ब्रह्मण थे। उनका जन्म मध्य प्रांत के सागर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता मोहनलाल भट्ट काव्य-मर्मज्ञ थे और अपने मूल निवास-स्थान बाँदा में ही प्रायः रहते थे। कई राज-दरबारों से उनका सम्बन्ध था और उनके परिवार में सब लोग कविता करते थे। इसलिए उनके वंश का नाम ही 'कवीश्वर वंश' पड गया था। उनके प्रभाव से ही पद्माकर ने भी कविता करना आरम्भ किया। पद्माकर संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। उन्होंने काव्य-क्षेत्र में विशेष ख्याति अर्जित की थी। उनका भी कई राज-दरबारो से सम्बन्ध था। सितारा के महाराज रघुनाथ राव अथवा राघोबा (सं० १७९१-१८४०) के यहाँ उन्हें एक कवित्त पर एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पुरस्कार में मिले थे। राघोबा के साथ कुछ समय तक रहकर वह बांदा आये और दतिया होते हुए रजधान के हिम्मत बहादुर के यहाँ गये जहाँ उन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरूदावली' (सं० १८४९) की रचना की। वह जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ भी गये थे और उनके दरबार में कई वर्षों तक रहे थे। कहा जाता है कि महाराज प्रतापसिंह की मृत्यु के पश्चात् जब उनके पुत्र जगतसिंह जयपुर की गद्दी

पर बैठे तब पद्मकार ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगद्विनोद' की रचना की। संभवतः जयपुर में ही उन्होंने 'पद्माभरण' भी लिखा। महाराज जगतसिंह की मृत्यु (सं० १८६०) के पश्चात् वह ग्वालियर-नरेश महाराज दौलत राव सिंधिया (सं० १८५१-८४) के यहाँ गये। सिंधिया के दरबार में भी उनका बहुत सम्मान हुआ। वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से उन्होंने 'हितोपदेश' का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर में कुछ समय तक रहने के पश्चात् वह बाँदा आए थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह रोग ग्रस्त रहा करते थे। उसी समय उन्होंने 'प्रबोध-पचासा' नामक भक्ति-भावना-पूर्ण ग्रंथ लिखा।' सं० १८८३ के लगभग वह कानपुर गये और वहीं उन्होने 'गंगा-लहरी' की रचना के पश्चात् सं० १८९० में अपना शरीर छोड़ा। उनकी रचनाओं में उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त 'राम-रसायन' और 'आलीजाह प्रकाश' (सं० १८७८) भी प्रसिद्ध हैं। 'आलीजाह प्रकाश' की रचना उन्होने ग्वालियर-नरेश दौलत राव सिंधिया के नाम पर की थी। इसमें और 'जगद्विनोद' में बहुत कम अन्तर है। उनकी 'राम-रसायन' रचना संदिग्ध बताई जाती है। यह 'वाल्मीकि रामायण' का अनुवाद है।

रीति-काल के अंतिम खेवे के कवियो में पद्माकर का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो प्रकार की रचनाएँ की हैं। 'हिम्मत बहादुर विरूदावली' नामक प्रबन्ध-काव्य में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली, पर अपने मुक्तको में वह अत्यन्त सफल हैं। उनमे उनकी मधुर कल्पना इतनी सबीज और स्वाभाविक है कि वह पाठक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। 'पद्माभरण' में अलंकारों की विवेचना है। उसमें संस्कृत के 'चन्द्रलोक' के आधार पर अलंकारो के लक्षण लिखे गए हैं। 'जगद्विनोद' में नायक-नायिका भेद है। 'गंगा-लहरी' को रचना पंडित राज जगन्नाथ-कृत 'गंगा-लहरी' के आदर्श पर की गयी है। उक्त सभी रचनाओ में उनकी मौलिकता सराहनीय है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और वह अत्यन्त परिष्कृत, सरस, स्वाभाविक और प्रवाहपूर्ण है।

उनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली-द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्ति खड़ी करती है। अनुप्रासों की छटा उसमें दर्शनीय है। कहीं-कहीं उनकी अनुप्रास-प्रियता के कारण भाषा अस्वाभाविक भी हो गयी है, पर ऐसा उनके वर्णनात्मक छन्दों में ही हुआ है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग-द्वारा मानव-मन की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान करने में वह बेजोड़ हैं। उनकी रचनाओं के दो उदाहरण लीजिए :—

**'संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि,**
**तुरत लुटावत, विलंब उर धारै ना।**
**कहै 'पद्माकर' सहेममय हाथिन के,**
**हलके हजारन के बितरि बिचारै ना॥**
**गंज-गज-बकस महीप रघुनाथ राव,**
**पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।**
**पाय डर गिरिजा गजानन को गोय रही,**
**गिरि तें, गरेतें, निज गोद तें, उतारै ना॥'**

× × ×

**'मोहि लखि सोवत बिथोरिगो सुबेनी बनी,**
**तोरिगो हिए को हार, छोरिगो सुगैया को।**
**कहै 'पद्माकर' त्यों घोरिगो घनेरो दुख,**
**बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को॥**
**अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास? यातें,**
**सोचन परी मैं खरी जोवति जुन्हैया को।**
**बूझिहैं चबैया तब कैहौं कहा, दैया,**
**इत पारिगो को, मैया! मेरी सेज पै कन्हैया को॥'**

रीति-कालीन परंपरा में उक्त प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त कुलपति मिश्र का नाम आता है। वह आगरा-निवासी माथुर चौबे और बिहारी लाल के भानजे थे। उनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के वह आश्रित कवि थे।

उनका कविता-काल सं० १७२४ से सं० १७४३ तक माना जाता है। 'रस-रहस्य' (सं० १७२७), 'द्रोणपर्व' (सं० १७३०) 'युक्ति तरंगिणी' (सं० १७४३), 'नखशिख' और 'संग्राम सार' उनकी रचनाएँ हैं। सुदेखव मिश्र कंपिला के निवासी थे। उनका कविता-काल सं० १७२० से सं० १७६० तक माना जाता है। 'वृत्त-विचार' (सं० १७२८), 'छंद-विचार', फ़ाजिल अली प्रकाश', 'रसार्णव', 'शृङ्गारलता', 'अध्यात्म प्रकाश' (सं० १७५५) और 'दशरथराय' उनकी रचनाएँ हैं। उदयनाथ 'कवीन्द्र' (ज० स० १७२६) अन्तर्वेद के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता कालिदास त्रिवेदी भी कवि थे और उन्होंने 'वारवधू-विनोद' (सं० १७४६) की रचना की थी। 'रस-चन्द्रोदय' (सं० १८०४) और 'विनोद-चंद्रिका' (सं० १७७७) उदयनाथ कवीन्द्र की रचनाएँ बताई जाती हैं। कालपी-निवासी श्रीपति भी एक अच्छे कवि थे। उनका 'काव्य-सरोज' (सं० १७७७) अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथ है। आगरा-निवासी अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम' हास्य-रस के अच्छे कवि थे। उन्होंने 'खटमल बाईसी' (सं० १७८७) लिखी। भिखारीदास 'दास' (ज० सं० १७५५) प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा ग्राम के निवासी थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें से 'नाम प्रकाश' (सं० १७६५) 'रस-सारांश,' (सं० १७६६) 'छंदार्णव-पिंगल' (स० १७६६), 'काव्य-निर्णय' (सं० १८०३) और 'शृङ्गार-निर्णय' (स १८०७) अधिक प्रसिद्ध हैं। काव्यांगों के निरूपण में उनके 'काव्य-निर्णय' का सर्वप्रथम स्थान है। इसमें उन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि का, अन्य कवियों की अपेक्षा, विषद विवेचन किया है। इलाहाबाद के अन्तर्गत शृङ्गवेरपुर-निवासी तोपनिधि चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। उन्होने 'सुधानिधि' (सं० १७६१) की रचना की। यह रस-भेद और भाव-भेद का अच्छा ग्रन्थ है। हरदोई के बिलग्राम-निवासी सैयदगुलाम नबी 'रसलीन' (ज० सं० १७४६) के दो ग्रंथ मिलते हैं जिनके नाम हैं—'अंग-दपर्ण' (सं० १७६४) और 'रस प्रबोध' (सं० १७६८)। काशीराज महाराज बरिबंडसिंह के आश्रित कवि रघुनाथ का कवित्त-काल सं १७६० से सं० १८१० तक माना जाता है। 'रसिक

मोहन' (सं० १७६६), 'काव्य-कलाधर' (सं० १८०२) और 'जगत् मोहन' (सं० १८०७) उनके प्रसिद्धग्रन्थ हैं। उदयनाथ 'कवीन्द्र' के पुत्र दूलह-कृत 'कविकुल-कंठामरण', रूपसाही-कृत 'रूप-विलास' (सं० १८११), ऋषिनाथ-कृत 'अलंकार मणि-मंजरी' (सं० १८३१), बैरीसाल-कृत 'भाषा भरण' (सं० १८२५), हरिनाथ-कृत 'अलंकार-दर्पण' (सं० १८२६), देवकीनन्दन-कृत 'शृङ्गार चरित्र' (सं० १८४१)- नवलगढ़-नरेश महाराज रामसिंह-कृत 'रस-निवास' (सं० १८३९) और 'रस विनोद' (सं० १८६०), बेनी बन्दीजन-कृत 'टिकैतराय-प्रकाश' (सं० १८४९) और 'भँडौवा-संग्रह', वेनी प्रवीन-कृत 'नवरस-तरग' (सं० १८७४), यशोदा नन्दन-कृत 'बरवै नायिका-भेद', गुरदीन पांड़े-कृत 'बाग मनोहर' (सं० १८६०), ग्वाल-कवि (सं० १८४८-१९२८) कृत 'यमुना-लहरी' (सं० १८७९), 'भक्त भावन' (सं० १९१९), 'रसरंग' (सं० १९०४) 'नखशिख' (सं० १८८४) और 'हम्मीरहठ' (सं० १८८१), प्रतापसिंह-कृत 'जयप्रकाश सिंह' (सं० १८५२) 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (सं० १८८२), 'काव्य विलास' (सं० १८८६) 'शृङ्गार मंजरी' (सं १८८३), 'शृङ्गार शिरोमणी' (सं० १८९४),'अलंकार-चिन्तामणि' (सं० १८९४) और 'काव्य विनोद' (सं० १८९६) अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

'चूमौं कर-कञ्ज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान कान्ह ! मो तन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि-हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै॥
कुँवर कन्हैया मुख-चंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नंदलाल प्यारे,
लट उरझी है, नकबेसर सँभारि दै॥'

× × ×

'जगत के कारन, करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोषन अवनि, दुख-सोपन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस-सेज करिक कै॥
मदन जरायो जो, सँहारै दृष्टि में ही सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरिबरि कै।
विधि, हरि, हर और इनतें न कोऊ तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन कों डरि कै॥'

× × ×

'वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घर-काज की धाई॥
ह्यां दिव साध निवारे रहौं तबही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥'

× × ×

'श्री हरि की छवि देखिवे को अंखियाँ प्रति रोमहिं में करि देतो।
वैनन के सुनिवे हित स्रौन जिते-तित सो करतो करि हेतो॥
मो ढिग छोड़ि न काम कछू कहि तोष यहै लिखितो विधि ऐतो।
तौ करतार इती करनी करिकै, कलि में कल कीरति लेतो॥'

× × ×

'चींटी को चलावै को? मसा के मुख आप जाय,
स्वास की पवन लागे कोसने भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु-परमानु की समानता खगत है॥
वेनी कवि कहै, हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिवो सुगत है।
ऐसे आम दीने दयाराम मनमोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है॥'

'मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने मा फरद की।
अंबर अमल, सर-सरिता विमल भल,
पंक को न अंक, औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई, दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल-अचल पर,
चांदी सी चमकि रही चांदनी सरद की॥'

यहाँ तक तो हुआ रीति-काल के उन प्रसिद्ध कवियों का वर्णन जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ के रूप में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। अब, संक्षेप में, उन कवियों की रचनाओं पर भी विचार करना है जिन्होंने रीति-कालीन परम्परा का अनुसरण नहीं किया है। ऐसे कवियों में कुछ ने प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति अथवा भक्ति-ज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ की हैं और कुछ ने शृङ्गार रस में मुक्तक कविताएँ की हैं। इसीलिए उनकी रचनाओ को रीति-मुक्त-काव्य कहा जाता है। रीति-मुक्त-काव्य की रचना-शैली वही है जो रीति-कालीन रचनाओं की है। शृङ्गार रस भी दोनों में है, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ रीति-बद्ध-रचनाओं में क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण दिए गए हैं वहाँ रीति-मुक्त-रचनाओं में भावों का ही विशद वर्णन मिलता है। रीति-बद्ध कवि अपनी सीमा में परतंत्र थे। उन्हें अपनी रचनाओं में अलंकारों अथवा नायक-नायिका के लक्षणों को पूरी तरह व्यक्त करने के लिए मस्तिष्क पर बल देना पड़ता था, पर रीति-मुक्त-कवियों के सामने ऐसी कोई बाधा नहीं थी। वे स्वतन्त्र और स्वच्छन्द थे। इसलिए उन्होंने अपेक्षाकृत अच्छी रचनाएँ भी कीं। विषय और रचना शैली की दृष्टि से यदि देखा जाय तो उनके छः वर्ग सामने आते हैं: (१) प्रेमोन्मत्ति कवि, (२) प्रबन्ध-काव्यकार, (३) वर्णात्मक

**रीति-मुक्त काव्य का विकास**

काव्यकार, (४) सूक्तिकार, (५) ज्ञान-उपदेशक और (६) भक्ति कवि। इन कवियो की रचनाओं पर यहाँ विचार किया जाता है।

(१) बनवारी—बनवारी कवि (सं० १६९०) का विशेष परिचय नहीं मिलता। शाहजहाँ के शासन-काल (सं० १६८४-१७१५) में वह वर्तमान थे। उन्होंने वीर और शृङ्गार, दोनों रसों में कविता की है। कहा जाता है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार में सलावत खाँ ने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिस पर उन्होने चट तलवार खींचकर सलावत खाँ की गर्दन उतार दी। इस घटना का ओजपूर्ण वर्णन उनके शब्दों में देखिए :—

'धन्य अमर छिति छत्रपति, अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हत्यो सलावत खान॥
उत ग-कार मुख ते कढ़ी, इते कढ़ी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं कीन्हों जमधर पार॥'

(२) वृन्दकवि—वृन्द कवि (ज० सं० १७४२) कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे और औरंगजेब के समय (सं० १७१५-६३) में वर्तमान थे। उन्होंने 'वृन्द-सतसई' (सं० १७६१) की रचना की जिसमें ७०० नीति के दोहे हैं। 'शृङ्गार शिक्षा' (सं० १७४८) और 'भाव-पंचाशिका' भी उनके ग्रंथ बताए जाते हैं, पर वह सूक्तिकार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। उदाहरण लीजिए :—

'अपनी पहुँच विचारि कै, करतब करिये दौर।
तेते पांव पसारिये, जेती लांबी सौर॥
जिहिं प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ॥'

(३) सबलसिंह चौहान—सबलसिंह चौहान (सं० १७००-९२) इटावा के निवासी थे। उन्होने दोहा-चौपाई में महाभारत के अठारह पर्वों की कथा लिखी है। भीष्म-पर्व सं० १७१८ में और स्वर्ग-रोहण-पर्व

सं० १७८१ में लिखा गया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने लगभग ६५ वर्षों में सम्पूर्ण महाभारत लिखा होगा। उदाहरण लीजिए :—

'अभिमनु घेरे आय सब, भारत अस्त्र अनेक।
जिमि मृग गण के यूथ मंह डरत न केहरि एक॥
लैके शूल कियो परिहारा। वीर अनेक खेत मंह मारा॥
जूझी अनी भभरि कै भागे। हँसि के द्रोण कहन अस लागे॥
धन्य धन्य अभिमनु गुन-आगर। सब छत्रिन मंह बड़ो उजागर॥
धन्य सहोद्रा जग में जाई। ऐसे वीर जठर जनमाई॥'

(४) बैताल—बैताल (ज० सं० १७३४) विक्रम शाह के दरबारी कवि थे। उन्होंने अपने छन्द उन्हीं को संबोधन करके बनाए हैं। उनकी नीति विषयक रचनाएँ अत्यन्त हृदयग्राही हैं। एक कुंडली लीजिए :—

'टका करै कुलहूल, टका मिरदङ्ग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप, टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन।
बैताल कहै विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन॥'

(५) आलम और शेख—प्रेमोन्मत्त कवियों में आलम (ज० सं० १७१२) और शेख का विशेष स्थान है। आलम जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे; पर शेख नाम की रंगरेजिन के प्रेम में फँसकर मुसलमान हो गए थे। औरंगज़ेब के द्वितीय पुत्र मुअज्ज़म अथवा बहादुर शाह प्रथम (सं० १७६४-६९) के वह आश्रित-कवि थे। उनका कविता-काल सं० १७४० से सं० १७६० तक माना जाता है। शेख भी कवयित्री थी। वह श्रीकृष्ण पर रीझी हुई थी। इसलिए दोनों की रचनाओं में प्रेम का उफान है। 'आलम केलि' में दोनों की रचनाएँ संगृहीत हैं। दो उदाहरण लीजिए :—

'जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥

आलस जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥'

× × ×

'पैंड़ो सम सूधो बैंडो कठिन किवार द्वार,
द्वारपाल नहीं तहाँ सबल भगति है।
शेख भनि तहां मेरे त्रिभुवन राय हैं,
जु दीनबन्धु स्वामी सुरपतिन को पति है ॥
बैरी को न बैर, बरियाई को न परवेस,
हीने को हटक नाहीं छीने को सकति हैं।
हाथी की हँकार पल पाछे पहुँचन पावै,
चींटी की चिघार पहले ही पहुँचति है ॥'

(६) गुरु गोविंदसिंह—पटना-निवासी सिख-गुरु गोविंदसिंह (सं० १७२३-६४) भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। सस्कृत और फारसी का भी उन्हें ज्ञान था। उन्होने 'दुर्गा सप्तशती' का अनुवाद 'चडी चरित्र, के नाम से किया था। इसके अतिरिक्त 'सुनीत प्रकाश', 'प्रेम सुमार्ग', 'सर्वलोह प्रकाश', और 'बुद्धि सागर' भी उनकी रचनाएँ हैं। एक कवित्त लीजिए :—

'निर्गुन निरुप हौ, कि सुन्दर स्वरुप हौ,
कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ ?
प्रान के बचैया, दूध पूत के दॅवैया,
रोग-सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ ?
विद्या के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हो,
कि सुद्धता की मूर्ति हौ, कि सिद्धता की सान हो ?
जीवन के जाल हौ, कि काल हू के गाल हौ,
कि सत्रुन के साल हो, कि मित्रन के प्रान हौ ?'

(७) गोरेलाल पुरोहित 'लाल'—गोरेलाल पुरोहित 'लाल' (ज० सं० १७१४) बुन्देलखंड के अन्तर्गत मऊ के निवासी थे। महाराज छत्रसाल बुंदेला (सं० १७०६-८९) की आज्ञा से उन्होने उनका जीवन-चरित

दोहा-चौपाइयों में लिखा है। इस ग्रंथ का नाम है 'छत्र-प्रकाश'। ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से इसका विशेष महत्त्व है। इसमें छत्रसाल के जीवन का आरंभ से सं० १७६४ तक का ही वर्णन है। इसकी रचना प्रौढ़ और काव्य-गुणयुक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। प्रबंध का भी अच्छा निर्वाह हुआ है और वर्णन-विस्तार के लिए मार्मिक स्थलों का चुनाव भी है। 'राज-विनोद' के अतिरिक्त 'लाल' का एक ग्रन्थ 'विष्णु-विलास' है जिसमें नायिका-भेद का वर्णन है। छत्रसाल की प्रशंसा में एक उदाहरण लीजिए :—

**'लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै ॥**
**सत कवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अर्थन में आगै ॥**
**रुचि सों लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के ॥**
**चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा, खान, खुमान।**
**अबधौं धावैं कौन पर छत्रसाल बलबान ॥'**

(८) घनानंद—घनानंद (सं १७४६-९६) प्रमोन्मत्त कवि थे। वह जाति के भटनागर कायस्थ और मुगल-सम्राट मुहम्मद शाह (सं० १७७६-१८०५) के मीर मुंशी थे। सं० १७९६ में जब नादिरशाह ने मथुरा को लूटा तब उसी समय वह मारे गये। कृष्णगठ-नरेश नागरीदास (सं० १७५६-१८२१) उनके समकालीन थे। वृन्दावन में दोनों का सत्संग होता रहता था। कहा जाता है कि मीरमुंशी-काल में घनानंद सुजान नाम की एक वेश्या पर आसक्त थे। एक दिन बादशाह ने घनानंद से एक ध्रुपद गाने के लिए कहा, पर उन्होंने नहीं गाया। तब सुजान वेश्या ने उनसे गाने के लिए कहा। उसका कहना वह न टाल सके। गाते समय उन्होंने बादशाह की ओर पीठ और सुजान की ओर मुँह कर लिया। उनके गाने से बादशाह प्रसन्न तो बहुत हुआ, पर वह उनकी ढिठाई सहन न कर सका। उसने उन्हें नगर से निकाल दिया। जब वह चलने लगे तब उन्होंने सुजान से भी साथ चलने के लिए कहा, पर वह नहीं गयी। इससे वह विरक्त हो गये

और वृन्दावन जाकर निंबार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका शेष जीवन वहीं बीता। मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था :—

'बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि-जान को।
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखत ही दै-दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्राण,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥'

घनानंद ने कई ग्रंथों की रचना की है जिनमें से 'सुजान सागर,' 'घनानंद कवित्त', 'रस केलिवल्ली', 'कृपाकाण्ड-निबन्ध', 'कोकसार' और 'विरह-लीला' प्रमुख हैं। उनकी कविता में शृंगार के वियोग-पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होने 'सुजान' को ही संबोधन किया है जो लौकिक पक्ष में 'नायका' और आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। फिर भी भक्ति-काव्य में उनकी रचनाओं का स्थान नहीं है। वह आदि से अन्त तक शृंगारी कवि हैं। प्रेम-दशा की व्यंजना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है। हृदय के उल्लास और प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का वर्णन जैसा उन्होने किया है वैसा किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इसीलिए उनका वियोग-वर्णन वाह्यार्थ-निरूपक न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। बिहारी की-सी उछल-कूद उनके विरह-वर्णन में नहीं है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। वह उनकी अनुभूति की अनुगामिनी है। उन्होंने उसे अपनी काव्य-शक्ति भी प्रदान की है। लक्षणा और व्यंजना से उन्होंने उसमें वह शक्ति भर दी है जो उसे काव्योचित बनाने में समर्थ है। दो उदाहरण लीजिए :—

'ऐरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बारि
तोसों और कौन, मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
विरह बिथा को मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा ! हा ! नैकु आनि दै।'

× × ×

'पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सब ही बिधि सुन्दरता सरसौ॥
घनआनँद जीवन-दायक हौ, कवौं मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौ लै बरसौ॥'

(६) महाराज विश्वनाथ सिंह—रीव-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह (सं० १८४६-१९११) महाराज जयसिंह के पुत्र और महाराज रघुराज सिंह (सं० १८८०-१९३६) के पिता थे। वह अच्छे कवि, भक्त और विद्या-प्रेमी थे और कवियों तथा विद्वानों का बहुत आदर करते थे। रामोपासक होने पर भी अपनी कुल-परंपरा के अनुसार वह सत-मत की बानी का भी आदर करते थे। ब्रजभाषा में 'आनन्द-रघुनन्द' नाटक पहले-पहल उन्हीं ने लिखा। इसलिए वह हिन्दी के प्रथम नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी रचनाओं में 'अष्टयाम आह्निक', 'उत्तम काव्य-प्रकाश', 'गीता रघुनन्दन शतिका', 'रामायण', 'सर्वसंग्रह', 'रामचन्द्र की सवारी', 'धनुर्विद्या; 'आनन्द-रामयण', 'शांति शतक'; ध्रुवाष्टक', 'अबोध नीति', 'बसन्त चौबीसी', 'चौरासी रमैनी,' 'ध्यान मञ्जरी', और 'परमतत्त्व' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कबीर बीजक' और 'विनय पत्रिका' की टीकाएँ भी उन्होंने की हैं। उनकी कविताएँ या तो वर्णनात्मक हैं या उपदेशात्मक। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और वह स्पष्ट एवं परिमार्जित है। एक उदाहरण लीजिए :—

और वृन्दावन जाकर निंबार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका शेष जीवन वहीं बीता। मरते समय उन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था :—

'बहुत दिनान की अवधि आस-पास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठिजान को।
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखत ही दै-दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्राण,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥'

घनानंद ने कई ग्रंथों की रचना की है जिनमें से 'सुजान सागर,' 'घनानंद कवित्त', 'रस केलिवल्ली', 'कृपाकाण्ड-निबन्ध', 'कोकसार' और 'विरह-लीला' प्रमुख हैं। उनकी कविता में शृंगार के वियोग-पक्ष का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने 'सुजान' को ही संबोधन किया है जो लौकिक पक्ष में 'नायका' और आध्यात्मिक पक्ष में श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। फिर भी भक्ति-काव्य में उनकी रचनाओं का स्थान नहीं है। वह आदि से अन्त तक शृंगारी कवि हैं। प्रेम-दशा की व्यंजना ही उनके काव्य का प्रधान लक्ष्य है। हृदय के उल्लास और प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का वर्णन जैसा उन्होंने किया है वैसा किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इसीलिए उनका वियोग-वर्णन वाह्यार्थ-निरूपक न होकर अन्तर्वृत्ति-निरूपक है। बिहारी की-सी उछल-कूद उनके विरह-वर्णन में नहीं है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है और उस पर उनका पूरा अधिकार है। वह उनकी अनुभूति की अनुगामिनी है। उन्होंने उसे अपनी काव्य-शक्ति भी प्रदान की है। लक्षणा और व्यंजना से उन्होंने उसमें वह शक्ति भर दी है जो उसे काव्योचित बनाने में समर्थ है। दो उदाहरण लीजिए :—

'ऐरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, बारि
तोसों और कौन, मनै ढरकौहीं बानि दै ।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै ॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै ।
विरह बिथा को मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा ! हा ! नैकु आनि दै ।'

× × ×

'पर कारज देह को धारे फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सब ही विधि सुन्दरता सरसौ ॥
घनआनँद जीवन-दायक हौ, कवौं मेरियौ पीर हिये परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौ लै बरसौ ॥'

(९) महाराज विश्वनाथ सिंह—रीव-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह (सं० १८४६-१९११) महाराज जयसिंह के पुत्र और महाराज रघुराज सिंह (सं० १८८०-१९३६) के पिता थे । वह अच्छे कवि, भक्त और विद्या-प्रेमी थे और कवियो तथा विद्वानों का बहुत आदर करते थे । रामोपासक होने पर भी अपनी कुल-परंपरा के अनुसार वह संत-मत की बानी का भी आदर करते थे । ब्रजभाषा मे 'आनन्द-रघुनन्द' नाटक पहले-पहल उन्हीं ने लिखा । इसलिए वह हिन्दी के प्रथम नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं । उनकी रचनाओं में 'अष्टयाम आह्निक', 'उत्तम काव्य-प्रकाश', 'गीता रघुनन्दन शतिका', 'रामायण', 'सर्वसंग्रह', 'रामचन्द्र की सवारी', 'धनुर्विद्या; 'आनन्द-रामयण', 'शांति शतक'; ध्रुवाष्टक', 'अबोध नीति', 'वसन्त चौवीसी', 'चौरासी रमैनी,' 'ध्यान मञ्जरी', और 'परमतत्त्व' आदि विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं । 'कबीर बीजक' और 'विनय पत्रिका' की टीकाएँ भी उन्होंने की हैं । उनकी कविताएँ या तो वर्णनात्मक हैं या उपदेशात्मक । उनकी भापा ब्रजभाषा है और वह स्पष्ट एवं परिमार्जित है । एक उदाहरण लीजिए :—

'झूठी सुनै, तहकीक करै नहिं, ओछेन सङ्गति में मन लावै।
रीझ पचाय डरै रन को बिसना जु अठारहौ खूब बढ़ावै॥
ठट्ठा में प्रीति, कुपात्र में दान, कबीनहुँ जान गुमान जनावै।
भाखत हैं बिसुनाथ ध्रुवै अस भूपति ना कबहूं जस पावै॥'

(१०) नागरीदास—भक्त नागरीदास (सं० १७५६-१८२१) का पूर्वनाम महाराज सावंतसिंह था और वह कृष्णगढ़-नरेश थे। वह बड़े वीर और काव्य-प्रेमी थे। घरेलू झगड़ों के कारण वह सं० १८१४ में राजपाट त्याग, विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे और वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हो गये। उनका कविता-काल सं० १७८०-१८१६ तक माना जाता है। कहा जाता है कि वृन्दावन में उनकी उपपत्नी बणीठणी जी भी रहती थीं और वह भी कविता करती थीं। कृष्णगढ़ में उनकी ७३ काव्य-पुस्तकें मिलती हैं जिनमें से 'शृङ्गार-सागर', 'गोपी प्रेम प्रकाश' (सं० १८००) 'ब्रजसार' (सं० १७६६), 'भक्तिमग दीपिका' (सं० १८०२), 'तीर्थानन्द' (सं० १८१०), 'फागबिलास' (सं० १८०८), 'बन-विनोद' (सं० १८०६), 'रसिक-रत्नावली' (सं० १७८२), 'कलि वैराग्य-मञ्जरी' (सं० १७६५), 'परायण विधि प्रकाश' (सं० १७६६), 'मनोरथ मञ्जरी' (सं० १७८०) 'जुगल भक्ति विनोद' (सं० १८०८), 'निकुञ्ज विलास' (सं० १७६४), 'उत्सवमाला' आदि, अधिक प्रसिद्ध हैं। गेय पदों के अतिरिक्त उन्होंने कवित्त, सवैया, रोला, अरिल्ल आदि कई छंदों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा ब्रजभाषा है जो सरस और भावपूर्ण है। उनकी रचनाएँ अधिकांश वर्णनात्म निबन्ध हैं। एक उदाहरण लीजिए :—

'कहूँ न कबहूँ, चैन जगत दुख रूप है।
हरि-भक्तन को सङ्ग सदा सुख रूप है॥
इनके ढिग आमंदित समय बिताइये।
ब्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइए॥'

बणीठणीजी की एक रचना लीजिए :—

'रतनारी हो थारी आँखड़ियाँ।
प्रेम छकी रसबस अलसाणी, जानि कमल की पाँखड़ियाँ॥
सुन्दर रूप लुभाई गति मति. हौं गई ज्यूं मधु माँखड़ियाँ।
रसिक बिहारी वारी प्यारी कौन बसी निस काँखड़ियाँ॥'

(११) गिरिधर कविराय—गिरिधर-कविराय (जं० सं० १७७०) के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं मिलता। उनकी नीति की कुण्डलियाँ ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध हैं। उनमें सीधी-सादी भाषा में तथ्य मात्र का कथन है। भाषा की सजावट, उत्प्रेक्षा-उपमा का चमत्कार, भावों की गम्भीरता आदि उनमें कुछ भी नहीं है। इसलिए वह कोरे पद्यकार ही हैं, सूक्तिकार नहीं। वृन्द और उनमें यही अन्तर है। एक उदाहरण लीजिए :—

'लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिए संग।
गहिर नदी-नारा जहाँ, तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग, झपटि कुत्ता कहँ मारै।
दुश्मन दावागीर, होयँ तिनहूँ को झारै॥
कह गिरधर कविराय, सुनो हे धूर के बाठी।
सब हथियारन छाँड़ि, हाथ में लीजै लाठी॥'

(१२) ठाकुरदास 'ठाकुर'—ठाकुरदास 'ठाकुर' (सं० १८२३ ८०) के पूर्वज काकोरी, जिला लखनऊ, के निवासी थे। उनके पितामह खड्गराय और पिता गुलाबराय थे। गुलाबराय का विवाह महाराज ओरछा के मुसाहब रावराजा की पुत्री के साथ हुआ था और वह अपनी ससुराल ओरछा में ही रहते थे। यहीं ठाकुरदास का जन्म हुआ। ठाकुरदास आरंभ से ही काव्य-प्रेमी थे और अच्छी कविता करते थे। उनकी रचनाओं से प्रसन्न होकर बिजावर-नरेश ने उन्हें एक गाँव पुरस्कार में दिया था। जैतपुर-राज्य से भी उनका संबंध था। वहाँ के राजा केसरीसिंह की मृत्यु के पश्चात् जब उनके पुत्र राजा परीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुरदास उनकी सभा के रत्न हो गये। वह दूसरे राज-दरबारों में भी जाते थे। पद्माकर (सं० १८१०-९०) के वह समकालीन थे। उनका कविता-काल

सं० १८५० से सं० १८८० तक माना जाता है। वह सच्ची उमंग के कवि थे। उनकी रचनाओं में न तो कृत्रिमता है, न व्यर्थ का शब्दाडंबर, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। बोलचाल की चलती व्रजभाषा में भावो का यथातथ्य निरूपण ही उनका लक्ष्य है। लोकोक्तियों का प्रयोग उन्होने अत्यंत सुन्दरता से किया है। प्रेम के साथ उन्होंने उत्सवो के वर्णन भी किए हैं। दो उदाहरण लीजिए :—

'दस बार. बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन-बरन देव।
कैसो कहा कीजै कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस-रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहां के तहां,
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥'

× × × ×

'यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चांदनी चारु निहारि लै री।
बलि जो पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतो विचार विचारि लै री॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जो गुपाल तो तैं बिगरी कौं सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥'

(१३) दीनदयाल गिरि—बाबा दीनदयाल गिरि (सं० १८५६-१६१५) का जन्म काशी के गायघाट मुहल्ले में एक पाठक-कुल में हुआ था। जब वह पॉच-छः वर्ष के थे तभी उनके पिता उन्हे महंत कुशागिरि को सौपकर चल बसे। इस प्रकार महंतजी के साथ रहकर उन्होंने संस्कृत और हिन्दी मे अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और फिर कविता करने लगे। उनके प्रसिद्ध ग्रथ 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' का हिन्दी-साहित्य मे विशेष सम्मान है। उन्होंने लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों विषयों पर अत्यन्त सुन्दर, मार्मिक और सरस अन्योक्तियॉ कही हैं। उनकी अन्योक्तियों में

कला-पक्ष और हृदय-पक्ष का समन्वय देखने योग्य है। भाषा की चुस्ती के साथ-साथ उसमें श्लेष, यमक, अनुप्रास, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका आदि का विधान अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हुआ है। 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' (सं० १६१२), 'अनुराग-बाग' (सं० १८८८), 'वैराग्य दिनेश' (सं० १६०६), 'विश्वनाथ-नवरत्न' और 'दृष्टान्त तरंगिणी' (सं० १८७६) उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'अनुराग-बाग' में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन कवित्तो में मिलता है। 'दृष्टान्त तरंगिणी' में नीति-सबंधी दोहे हैं। 'विश्वनाथ-नवरत्न' में शिव की स्तुति है। 'वैराग्य दिनेश' में ऋतुओं की शोभा और ज्ञान-वैराग्य का वर्णन है। उनकी दो रचनाएँ लीजिए :—

'चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहिं रैन-विछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस संदोह॥
सुहृद हंस संदोह, कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै, वाहि सर चल तू चकई॥'

× × ×

'कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने,
नुपुर निनादनि सौं कौन दिन बोलि हैं।
नीके मम ही के बुंद-वृन्दन सुमोतिन को,
गहि कै कृपा की कब चोंचन सों तोलि हैं॥
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीनद्याल,
प्रेम कोकनद वीच कब धौं कलोलि हैं।
चरन तिहारे जदुबंस-राज हंस! कब,
मेरे मन-मानस में मन्द-मन्द डोलि हैं॥'

(१४) गिरिधर दास—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधर-दास ( सं० १८६०-१६१७ ) ब्रजभाषा के प्रौढ़ कवि थे। उनका जन्म काशी में हुआ था। उनके पिता हर्षचद उन्हें ग्यारह वर्ष की

अवस्था में ही छोड़कर चल बसे। ऐसी दशा में उन्होंने अपने परिश्रम से संस्कृत और हिंदी में योग्यता प्राप्त की और कविता करने लगे। उनके यहाँ कवियों और विद्वानो का बहुत सत्कार होता था। उन्होने चालीस ग्रंथों की रचना की जिनमें से 'जरासंध महाकाव्य','भारती भूषण', 'भाषा व्याकरण', 'रस-रत्नाकर', 'ग्रीष्म-वर्णन', 'मत्स्य-कथामृत', 'वाराह-कथामृत', 'बलराम-कथामृत', 'कल्कि-कथामृत', 'बुद्ध-कथामृत', 'नहुष नाटक', 'एकादशी महात्म्य', 'नृसिंह-कथामृत', 'वामन-कथामृत', 'परशुराम-कथामृत', 'राम-कथामृत', 'गर्ग संहिता', 'अद्भुत रामायण', 'लक्ष्मी-नखशिख', 'गया-यात्रा', 'कीर्तन', 'शिव-स्तोत्र', 'गोपाल-स्तोत्र', 'भागवत्-स्तोत्र,' 'राधा-स्तोत्र', 'रामाष्टक', 'कालिय-कालाष्टक', 'दनूजारि-स्तोत्र', 'द्वादशदल कमल', 'वाल्मीकि रामायण के सातों कांडों का पद्यानुवाद' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने दो प्रकार रचनाएँ की हैं: (१) वर्णनात्मक और (२) कला-प्रधान। 'मत्स-कथामृत' आदि उनकी वर्णनात्मक रचनाएँ हैं और 'रस-रत्नाकर', 'जरासंध बध' आदि कला-प्रधान रचनाएँ हैं। 'जरासंध-बध' ११ सर्गों में लिखा हुआ अपूर्ण महाकाव्य है। उनकी रचना के दो उदाहरण लीजिए :—

'बातन क्यों समुझावति हौ मोहिं, मैं तुमरो गुन जानति राधे।
प्रीति नई गिरिधारन सों भई, कुंज में रीति के कारन साधे॥
घूंघट नैन दुरावन चाहति, दौरति सो दुरि ओट ह्वै आधे।
नेह न गोयो रहे सखि लाज सों कैसे रहे जल-जाल के बांधे॥'

× × ×

'धिक नरेश बिनु देस, देस धिक जहँ न धरम-रुचि।
रुचि धिक सत्यविहीन, सत्य धिक बिन विचार सुचि॥
धिक बिचार बिनु समय, समय धिक बिना भजन के।
भजनहु धिक बिनु लगन, लगन धिक लालच मन के॥
मन धिक सुन्दर बुद्धि बिनु, बुद्धि सुधिक बिनु ज्ञान गति।
धिक ज्ञान भगति बिनु भगत धिक, नहिं गिरिधर पर प्रेम अति॥'

रीति-मुक्त-परंपरा मे उक्त प्रसिद्ध कवियो के अतिरिक्त और भी कई कवि मिलते है जिनकी रचनाएँ मनोहर और भावपूर्ण है। ऐसे कवियों में 'विजय मुक्तावली' (सं० १७५७) के रचयिता छत्रसिंह; 'जंगनामा' प्रबन्ध-काव्य के रचयिता श्रीधर; 'रतन हज़ारा' के प्रणेता पृथ्वीसिंह उपनाम 'रसनिधि;' 'हम्मीर रासो' प्रबन्ध-काव्य (सं० १८७५) के रचयिता जोधराज; 'स्नेह सागर' के रचयिता बख्शी हंसराज (ज० सं० १७६६), श्रीहर्ष-कृत 'नैषध' का पद्यानुवाद (सं० १८००) करनेवाले, महोबा-निवासी गुमान मिश्र; 'राधासुधाशतक' (सं० १८३७) के रचयिता श्री हठीजी; 'जैमिनि पुराण भाषा' (सं० १८०५) के रचयिता सरजूराम पंडित; 'सुजान चरित्र' प्रबन्ध-काव्य के रचयिता मथुरा-निवासी सूदन; 'माधवानल काम कंदला' नामक कथात्मक काव्य के रचयिता हरनारायण; 'व्रज विलास' (सं० १८२७) नामक प्रबन्ध-काव्य के रचयिता वृन्दावन-निवासी व्रजबासी दास; 'विरहवारीश' और 'इश्कनामा' के रचयिता राजपुर-निवासी कवि बुद्धिसेन उपनाम 'बोधा' (ज० सं० १८०४); 'रामाश्वमेध' (सं० १८३९) नामक महाकाव्य के रचयिता मधुसूदनदास; 'गढ़राज वंश' के रचयिता गढ़वाल-निवासी भोलाराम (सं० १८१७-६०) 'माधुर्य लहरी' (स० १८५३) नामक कृष्ण-काव्य के रचयिता मिर्ज़ापुर-निवासी कृष्णदास; 'प्रद्युम्न विजय नाटक' के रचयिता काशी-नरेश उदित नारायण सिंह के आश्रित कवि गणेश; 'अमर प्रकाश' (सं० १८३६) और 'नृसिंह-चरित्र' (सं० १८१६) के रचयिता चरखारी-निवासी खुमान; 'राम सतई' और 'वाणी-भूषण' एवं 'वृत्ततरंगिणी' (सं० १८७३) के रचयिता काशी के चौबेपुर-निवासी रामसहाय दास; 'हम्मीर हठ' प्रबन्ध-काव्य के रचयिता फतेहपुर के मुअज्जमाबाद-निवासी चंद्रशेखर वाजपेयी (सं० १८५५-१९३२), 'पजनेस-प्रकाश' के रचयिता पन्ना-निवासी पजनेस; 'शृङ्गार बत्तीसी' और 'शृङ्गारलतिका' के रचयिता अयोध्या-नरेश महाराज मान सिंह उपनाम 'द्विजदेव' (सं० १८८०-१९३०); 'सुन्दरशतक' और 'रुक्मिणी-परिणाय' के रचयिता रीवॉ-नरेश महाराज रघुराज सिंह

(सं० १८८०—१९३६), और 'प्रताप रत्नाकर' तथा 'मानसिंह जङ्गाष्टक' के रचयिता बस्ती के अमोढ़ा-निवासी लछिराम (सं० १८९८-१९६१) अधिक प्रसिद्ध हैं। उक्त रचनाओं के कुछ उदाहरण लीजिए :—

'भूले-भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि-फूलि किंसुक जके-से रहिजाय है।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर,
कोकिल कलंकी ठौर-ठौर पछिताय है॥
आवत बसंत के ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै,
बावरी! बलाय सों, हमारेऊ उपाय है।
पीहैं पहिलेई तें हलाहल मंगाय या,
कलानिधि की एकौ कला चलन न पाय है॥'

× × ×

'सेलनु धकेला तें पठान-मुख मैला होत,
केते भट मेला हैं भजाये भुव भंग मैं।
तंग के कसे ते तुरकानी सब तंग कीनी,
दंग कीनी दिली और दुहाई देत बंग मैं॥
सूदन सराहत सुजान किरपा नोक गहि
धायो धीर धारि वीरताई की उमंग मैं।
दक्खिनी पछेला करि खेला तैं अजब खेल,
हेला मारि गंग मैं रुहेला मारे जंग मैं॥'

× × ×

'कलप-लता के कैधौं पल्लव नवीन दोऊ,
हरन मंजुला के कंज ताके बनिता के हैं।
पावन पतित गुन गावै मुनि ताके छबि,
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं॥
नवौंधिता के सिद्धता के आदि आलै हठी,
तीनौं लोक ताके प्रभुता के प्रभु ताके हैं।

कटै पाप ताके बढ़ैं पुन्य के पता के, जिन
ऐसे पद ताके वृषभानु के सुता के हैं ॥

× × ×

'जौ मेरे मन होते दोय।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोते कछु कहतो नहिं कोय ॥
एक जो तन हरि विमुखन के संग रहतो देस-बिदेस।
विविध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहिं भक्ति लवलेस ॥
एक जौ तन सतसंग-रंग रंगि, रहतो अति सुख-पूर।
जनम सफल करि लेतो ब्रजबसि जहँ ब्रज-जीवन-मूर ॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु तो छिन-छिन छीजै।
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै ?'

**रीति-काल की विशेषताएँ**

रीति-काल के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उसमें आदि से अन्त तक मुख्यतः लौकिक जीवन के सौंदर्य का ही चित्रण हुआ, वीर गाथा-काल और भक्ति-काल की प्रवृत्तियाँ की उसमें यत्रतत्र ही दिखाई दीं। ऐसा लगता है कि भक्ति-काल के साहित्य में जीवन की नश्वरता और आध्यात्मिकता पर विशेष बल देने के कारण लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता का जो भाव उत्पन्न हो गया था उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ही इस काल का प्रादुर्भाव हुआ। भक्ति-काल मे इन्द्रियो को उभरने का अवसर नहीं मिला, इस काल में इन्द्रिय-विलास का ही बोला-बाला रहा। कबीर, तुलसी और सूर ने भक्ति-भावना की जो धारा प्रवाहित की थी वह इस युग में शुष्क हो गयी और उसके स्थान पर बिहारी, मतिराम और पद्माकर ने उद्दाम लौकिक-प्रेम की धारा प्रवाहित की। शैली की दृष्टि से भी दोनों युग एक दूसरे के प्रतिकूल हो गये। भक्ति-काल मे जहाँ गेय पदो की भरमार रही, वहाँ इस युग में कवित्त और सवैया को ही प्रश्रय मिला। रसवाद, अलंकारवाद और वक्रोक्तिवाद का आश्रय लेकर इस युग के कवि कवित्त, सवैया और कभी-कभी दोहा के माध्यम से ही जीवन की अनेक शृंगार

पूर्ण भावनाएँ व्यक्त करते रहे। इस युग में कवियों का जीवन भी भक्ति-कालीन कवियों की भांति नहीं रहा। भक्ति-काल के कवियों ने राज-दरबारों में घूम-घूमकर अपनी भक्ति-भावना का प्रचार एवं प्रसार नहीं किया। उन्होंने अपनी कुटियों में बैठकर त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए जनता की मनोवृत्तियों का संस्कार और परिशोधन किया। इसके विरुद्ध रीति-कालीन कवि यश और पुरस्कार के लोभ से राज-दरबारों की खोज में ही घूमते रहे और अपनी वाणी के चमत्कार से अपने राजाओं का मन बहलाते रहे। उन्होंने जनता की भावनाओं का नेतृत्व न करके केवल उन राजाओं की प्रशंसा में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग किया जो उन्हीं की भांति यश और कीर्ति के इच्छुक थे। तात्पर्य यह कि भक्ति-काल की प्रायः समस्त प्रवृत्तियाँ इस युग में विलीन हो गयीं। एक बात में दोनों युग अवश्य समान रहे। जीवन की विविध समस्याओं और सामयिक वातावरण का न तो भक्ति-काल में चित्रण हुआ और न रीति-काल में। इसलिए उक्त दोनों युगों का साहित्य तत्कालीन जीवन का प्रतिनिधित्व न कर सका। भक्ति-काल में ईश्वर की उपासना तथा संसार एवं शरीर की नश्वरता के कारण और रीती-काल में काव्य-कला को महत्त्व देने के कारण जीवन उपेक्षणीय रहा।

कहा जाता है कि रीति-काल के कवियों ने केवल प्रेम के राग ही अलापे और वह भी ऐसे प्रेम के जो वासनापूर्ण है। यह कथन सत्य अवश्य है, पर यही रीति-काल की मुख्य विशेषता नहीं है। रीति-काल ने हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। तुलसी और सूर के पश्चात् कला और भाव के क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य को जो मिलना चाहिए था वह उसे रीति-काल से प्राप्त हुआ है। रीति-काल की दो धाराएँ हैं: (१) रीति-बद्ध-धारा और (२) रीति-मुक्त-धारा। रीति-बद्ध-धारा के अन्तर्गत संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथो के आधार पर अलंकार और रस की जैसी विशद विवेचना इस काल में हुई वैसी पूर्व कालों में कभी नहीं हुई। इस धारा की हिन्दी-साहित्य को आवश्यकता थी। रीति-काल में कवियो का ध्यान उसी ओर गया। उसके

प्रणयन एवं विकास के लिए उपयुक्त वातावरण भी था। राज-दरबारों में कवियों को आश्रय मिलने लगा था और वे अपने भरण-पोषण की चिन्ता से मुक्त होकर अपने आश्रय-दाताओं के यश एवं कीर्ति के वर्णन-द्वारा काव्य के शास्त्रीय नियमो का विवेचन करने लगे थे। आगे चलकर कवियों की इस प्रवृत्ति को इतना प्रोत्साहन मिला कि राज-दरबारों में ही रीति-काल का अभ्युदय हुआ। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यदि इस काल का आविर्भाव न हुआ होता तो उसके एक अंग का विकास ही रुका रहता। इसलिए हिन्दी-काव्य-शास्त्र के नियमों के लिए हम इस काल के ऋणी हैं।

रीति-काल की दूसरी धारा है रीति-मुक्त-धारा। रीति-मुक्त-धारा के अन्तर्गत कवियों ने रीति-बद्ध-काव्य की रचना-शैली को ही मुख्यतः अपनाया, पर उन्होंने रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर रचनाएँ नहीं कीं। वे स्वच्छन्दवादी थे। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखे, वर्णनात्मक प्रबन्धो की रचना की, नीति के दोहे कहे और विनय के पद गाये। सबलसिंह कृत 'महाभारत', छत्रसिंह-कृत 'विजय मुक्तावली', गुरु गोविन्दसिंह-कृत 'चंडी चरित्र', लाल कवि-कृत, 'छत्र प्रकाश,' जोधराज-कृत, 'हम्मीर रासो' सूदन-कृत, 'सुजान चरित्र', ब्रजवासीदास-कृत, 'ब्रजविलास', मधुसूदन दास-कृत, 'रामाश्वमेध', और चन्द्रशेखर-कृत, 'हम्मीर हठ' ने जहाँ प्रबन्ध-काव्य की शृङ्खला प्रसारित की, वहाँ अनेक कवियों ने दान-लीला, मान-लीला, जल-विहार, वन-विहार, मृगया, उत्सव आदि को लेकर वर्णनात्मक प्रबंधों की रचना भी की। नीति, ज्ञान और वैराग्य की बातें भी दोहो और कुंडलियो में कही गयीं। इस प्रकार तुलसी की दोहा-चौपाई शैली, चरणों की कवित्त-सवैया शैली, सूर की पद-शैली और कबीर की साखी-शैली की परंपरा बराबर बनी रही। तात्पर्य यह कि रीति-काल की दूसरी धारा से भी हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ मिला और उससे उसके भांडार में अभिवृद्धि हुई।

कहा जाता है कि रीति-काल में जीवन की भाँति ही प्रकृति की

अनेकरूपता का चित्रण नहीं हुआ । इसमें संदेह नही कि साहित्य-शास्त्र मे प्रकृति-चित्रण के जितने विधान स्वीकृत हैं उनमें से सबका उपयोग रीति-काल में नही हो सका, पर उस काल के कवियो ने प्रकृति को जिस रूप मे ग्रहण किया उसे देखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि उसकी अनेकरूपता की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। वे प्रकृति की रमणीयता, उसकी विविधता और उसके प्रभाव से भलीभाँति परिचित थे और इसीलिए वे अपने ऋतु-वर्णन में समर्थ हुए । उन्होने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही प्रकृति का चित्रण किया और उसे विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया । प्रत्येक ऋतु का सौंदर्य और उस सौंदर्य का मनोभावों पर जो प्रभाव पडता है उसका चित्रण संयोग और वियोग दोनो पक्षो मे जैसा उन्होंने किया वैसा हिन्दी-साहित्य के इतिहास के किसी काल मे नहीं मिलता ।

रीति-काल की रचनाओ पर नाक-भौं सिकोडने का कारण यदि कुछ है तो वह है उसकी शृङ्गारमयी प्रवृत्ति ।शृङ्गारमयी प्रवृत्ति के अन्तर्गत, उत्तम और निकृष्ट, दोनो प्रकार की रचनाएँ रीति-काल में हुई हैं । कई कवियों ने प्रेम के ऐसे वासनापूर्ण चित्र उतारे हैं जिन्हे पढ़ने मे लज्जा आती है । इस दृष्टि से रीति-काल वीर-गाथा काल और भक्ति-काल की अपेक्षा हीन अवश्य है, पर वह केवल इसी कारण उपेक्षणीय नहीं है । उसमें प्रेम और पौरुषमय जीवन के अनेक चित्र भी हैं ।शृङ्गार के साथ-साथ उसमें वीर रस का वर्णन भी है । राष्ट्रीय काव्य की परंपरा भी हमें उसी काल से मिलती है । उस काल के कवियो ने ही घूम-घूमकर सुदूर प्रान्तो तक हिन्दी भाषा का प्रचार किया है । इसलिए रीति-काल का अध्ययन करते समय हमें उसकी उक्त विशेषताओं पर ही ध्यान देने की आवश्यकता है ।

---

## १२. आधुनिक काल : गद्य का विकास

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल सं० १६०० से आरंभ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह मुगल-सम्राज्य के अन्त और उसके स्थान पर अँगरेजों के उत्थान का समय है। अँगरेज मुग़ल-सम्राट जहाँगीर के शासन-काल (सं० १६६२-८४) में यहाँ आए थे। आरम्भ में उनका प्रधान उद्देश्य था व्यापार करना, पर जब उन्होंने यहाँ का राजनीतिक ढङ्ग देखा तब उनमें भी अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाने का लोभ उत्पन्न हुआ। पहले उनकी पुर्तगालियों और डचों से मुडभेड हुई और फिर फ्रांसीसी उनकी कूटनीति के शिकार बने। धीरे-धीरे प्लासी (सं० १८१४) और बक्सर (सं० १८२१) के युद्धों के पश्चात् उनकी शक्ति इतनी बढ़ गयी कि उनके सामने मुसलमान, मरहठे और सिख, सब हतोत्साह हो गये। उन्होंने उनके अधिकार छीन लिये और स्वयं शासक बन बैठे। इस राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप देश में सभी प्रकार के ह्रास का वेग पहले से भी अधिक बढ़ गया। व्यापारी कंपवियो के रूप में आए हुए अँगरेजो ने यहाँ के उद्योग-धन्धों का नाश कर दिया। इससे देश की आर्थिक समस्याएँ अत्यन्त भयङ्कर हो उठी। मुग़लो के शासन-काल में हिन्दू और मुसलमान दोनों को उच्च पद प्राप्त थे और सेना में उन्हें स्थान दिया जाता था। अँगरेजों ने लोगों की जीविका का यह द्वार भी बन्द कर दिया। इससे चारों ओर वेकारी बढ़ गयी। इस प्रकार के आर्थिक ह्रास के साथ-साथ सांस्कृतिक ह्रास भी आरम्भ हुआ। अँगरेज अपने देश से अपनी शासन-पद्धति ही नहीं, अपितु अपनी सभ्यता, अपना धर्म अपनी संस्कृति और अपना साहित्य भी साथ लाए थे। उनके साथ ईसाई-मिश्नरी भी आये। ईसाई मिश्नरियों ने धीरे-धीरे हिन्दू और मुसलिम समाजों की कुरीतियों को दूर करने के वहाने उन्हे ईसाई वनाना आरम्भ किया।

आधुनिक काल की पीठिका

उन्होने ईसाई-धर्म की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कई पुस्तकें भी लिखीं जिन्हें पढ़कर अनेक हिन्दू ईसाई हो गये।

देश की उक्त परिस्थिति में भारतीय जनता के शिक्षित वर्ग का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। ईसाई पादरियों ने हिन्दू-समाज की अनेक भयङ्कर एवं क्रूर प्रथाओ के विरुद्ध जो आंदोलन आरम्भ किया था उसके आधार पर वङ्गाल में राजाराम मोहन राय (सं० १८३३-६०) ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की और उसके द्वारा समाज-सुधार का कार्य अपने हाथ में लिया। इसके पश्चात् महादेव गोविन्द रानडे (सं० १८६६-१६५८) ने महाराष्ट्र में 'प्रार्थना-समाज' (सं० १६२४) और स्वामी दयानन्द (सं० १८८१-१६४०) ने 'आर्य समाज' (सं० १६३२) की स्थापना की। इन समाजो के प्रयत्न से भारतीय जनता में सामाजिक और धार्मिक चेतना का अभ्युदय हुआ। स्थान-स्थान पर सार्वजनिक सभाएँ होने लगीं और उनमें सती-दाह, बाल-हत्या, नर-बलि, बाल-विवाह, विवाह में अपव्यय आदि के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार किए जाने लगे। इस प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों से अँगरेजी सरकार को विशेष प्रेरणा मिली और उसका ध्यान अँगरेजी-शिक्षा के प्रचार की ओर गया। इसके साथ ही अँगरेज-कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा देने पर भी उसने विचार किया। इस उद्देश्य से सर्वप्रथन लार्ड कार्नवालिस के शासन-काल (सं० १८४३-५०) में बनारस में संस्कृत कालेज (सं० १८४६) और लार्डवेलेजली के शासन-काल (सं० १८५५-६२) में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज (सं० १८५७) की स्थापना की गई। संस्कृत कालेज-द्वारा अँगरेजी सरकार ने भारतीय न्याय-विधान को समझने का प्रयत्न किया और फोर्ड विलियम कालेज में फारसी, अरबी, संस्कृति और हिन्दी, मराठी, वङ्गला गुजराती आदि के साथ अँगरेजी, लेटिन और ग्रीक भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। पाठ्य-पुस्तके लिखाने के लिए उर्दू और हिन्दी के विद्वान नियुक्त किए गये और उन्हे प्रकाशित करने के लिए श्रीरामपुर में मुद्रणालय की भी व्यवस्था की गयी। इसके द्वारा उर्दू और हिन्दी में कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने से साहित्य के क्षेत्र

में भी नव चेतना उत्पन्न हुई। अँगरेजी सरकार-द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयों से निकले हुए शिक्षित नवयुवकों में से कुछ तो अपनी मातृ-भाषा के प्रति उदासीन थे, पर जिन्हें उससे प्रेम था उन्होंने अपनी भाषा एवं साहित्य का नवीन दृष्टिकोण से उद्धार करने का बीडा उठाया। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक चेतना का एक साथ अविर्भाव हुआ।

सं० १९१४ की जन-क्रांति के पश्चात् जब सम्पूर्ण देश एक शासन सूत्र में बन्ध गया तब इस नवचेतना को पाश्चात्य वातावरण से प्रभाव ग्रहण करने में विशेष सुविधा हुई। रेल, तार, प्रेस आदि वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जनता के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन में जो उथल-पुथल हुए उसने उसके विकास के लिए अनेक मार्ग खोल दिये। स्वामी विविकानंद (स० १९१९-५०), स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३०-६३), और रामकृष्ण परमहंस (सं० १८९०-१९४३) ने देश की नवीन परीस्थिति के अनुसार जनता की धार्मिक भावनाओं का नेतृत्व किया। एनीवेसेंट (सं० १८९७-१९९०) ने 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना (सं० १९५०) करके भारतीय जीवन में धार्मिक एवं राष्ट्रीय भावना का विकास किया। सं० १९३९ में कार्य-भार से मुक्त होने के पश्चात् ह्यूम और दादाभाई नौरोजी (स० १८८१-१९७४) ने 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' (सं० १९४२) द्वारा राजनीतिक उदासीनता को दूर करने का प्रयत्न किया। उसके प्रभाव से महाराष्ट्र-केसरी बालगङ्गाधर तिलक (सं० १९१३-७७) ने राजनीति में और जमशेदजी नसरवानजी ताता (सं० १८९६-१९६१) ने आर्थिक क्षेत्र में अपने उत्तरदायित्व का परिचय दिया। बङ्गला मे ईश्वरचंद विद्या-सागर (सं० १८७७-१९४८), अक्षयकुमार दत्त (सं० १८२०-१८८६), माइकेल मधुसूदन दत्त (सं० १८८०-१९३०), वंकिमचन्द्र चटर्जी (सं० १८९५-१९५१), केशवचन्द्र सेन (सं० १८९५-१९४१), तथा शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय (सं० १९३३-९४) ने; मराठी में कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर (स० १८८११९३१), लोकहितवादी (सं० १८८०-१९४६) तथा गोपालकृष्ण आगरकर (सं० १९१३-५१) ने और हिन्दी में श्रद्धाराम फुल्लौरी (मृ० सं० १९३८), राजा

शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' (सं० १८८०-१९५२), राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५१) और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं०१९०७-४१) ने साहित्यिक रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण होकर अपनी-अपनी प्रतिभा से उसे चमकाने की चेष्टा की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अभ्युदय तक हमारे चारो ओर एक सर्वथा नवीन वातावरण का जन्म हो चुका था।

साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मुगल-काल के अन्तिम दिनो में जिन राज-दरबारों में रीति-कालीन साहित्य का निर्माण हुआ था उनका, अँगरेजी-सत्ता का प्रादुर्भाव होने पर, अन्त हो गया। इससे साहित्य-निर्माण और उसके विकास में एक गत्यवरोध-सा उत्पन्न हो गया। कुछ इने-गिने कवि ही रीति-कालीन परम्परा की लकीर पीटते रहे। अँगरेजी साहित्य में उस समय तक गद्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। उसमें उपन्यास, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि सब कुछ पर्याप्त मात्रा में था। मॉटेन (सं० १५९०-१६४९), मार्लो (सं० १६२१-५०) और शेक्सपियर (सं० १६२१-७३) के नाटक; स्काट ( सं० १८२८-८९ ), थैकरे (सं० १८६८-१९२०) और विक्टर ह्यूगो (१८५९-४९४२) के उपन्यास; एडीसन (सं० १७२६-७६), स्टील (सं० १७२९-८६), बेकन (सं० १६१८-८३), जारेमीटेलर (सं० १६७०-१४२४) और सेमुअल जान्सन (१७६६-१८४१) के निबन्ध; रुसो (सं० १७२६-१८३५) और रस्किन (सं० १८७६-१९५७) के सामाजिक एवं मानवतापूर्ण सन्देश और मेकाले (सं० १८५७-१९१८) तथा बर्क (सं० १७८७-१८५४) के भाषण आदि का उसमें समावेश हो चुका था। हिंदी मे उस समय तक उक्त विषयो की बू-बास तक नहीं थी। गद्य मे उन्हें उतारने का किसी लेखक ने प्रयत्न ही नहीं किया था। देश की नयी परिस्थिति में जब औद्योगीकरण के फलस्वरूप मध्य वर्ग का जन्म हुआ और उसमें बौद्धिक चेतना जागी तब उसने भी यूरोपीय मध्य वर्ग के समान साहित्य-निर्माण का कार्य अपने हाथ में लिया और पाश्चात्य-साहित्य की विविधता एवं अनेक रूपता से प्रभावित होकर गद्य का प्रर्वतन करने के लिए विवश हुआ, विवश इसलिए कि बौद्धिक चेतना और मस्तिष्क-मंथन के उस युग में सामाजिक, आर्थिक,

राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि जीवन की इतनी समस्याएँ उनसे अपना स्पष्टीकरण कराना चाहती थी कि काव्य उनका भार वहन करने में असमर्थ था। तात्पर्य यह कि नवीन जीवन-दृष्टि में जिस भौतिकता और बुद्धिवाद की प्रधानता थी, उसकी मांग गद्य-द्वारा ही पूरी हो सकती थी। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उस समय काव्य का निर्माण हुआ ही नहीं। काव्य का निर्माण भी हुआ और उसके स्वरूप, उसके गठन, उसके विषय और उसकी अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन हुए। उसमें प्राचीन इष्ट देवी-देवताओं का मानवीकरण हुआ, प्रकृति और नारी के सम्बंध में नया दृष्टिकोण विकसित हुआ, उपेक्षितों तथा क्षुद्रों को स्थान मिला और गाँव के किसान एवं श्रमिक भी उसके विषय बने, पर इतना होने पर भी उसे वह लोक-प्रियता प्राप्त न हो सकी जो गद्य को स्वतः प्राप्त हो गयी। हिन्दी-गद्य के विकास में मुद्रण-कला ने विशेष योग दिया। नाटक, निबंध, उपन्यास आदि लिखे जाने लगे। मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों का प्रकाशन होने लगा। उनमें समाज-सुधारकों और राजनीतिक नेताओं के भाषण छपने लगे। प्राचीम साहित्य की खोज का कार्य आरंभ हुआ। कई साहित्यिक संस्थाएँ बन गयीं। सं० १९५० में 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी का और सं० १९६२ में 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,' प्रयाग का जन्म हुआ। उक्त दोनों संस्थाओं ने हिन्दी-साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में विशेष योग दिया। सारांश यह कि हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि एवं उसके विकास के लिए जो भी उचित उपाय उस समय हिन्दी-प्रेमियों को सूझ पड़े उन सबका भरपूर उपयोग किया गया और यह उन्हीं के सतत प्रयत्न का फल है कि आज हिन्दी-हमारी राष्ट्र भाषा है।

**ब्रजभाषा-गद्य का प्रारंभिक रूप।**

हिन्दी-गद्य साहित्य की परम्परा का सूत्रपात नाथ-संप्रदाय के कतिपय दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रंथो से होता है। उनमें हठयोग तथा ब्रह्मज्ञान की व्याख्या ब्रजभाषा के माध्यम से की गई है। यदि वे प्रामाणिक हैं तो यह मानना होगा कि हिन्दी-गद्य की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। गोरख-पंथी ग्रथ का निर्माण-

काल सं० १४०० के आस-पासमाना जाता है। लगभग इसी समय मुहम्मद तुग़लक के शासन-काल ( सं० १३८३-१४०८ ) में दक्षिण भारत में बहमनी राज्य (सं० १४०४-१५८३) का प्रादुर्भाव हुआ। बहमनी राज्य मुसलमानी राज्य था। उसकी नींव हसन बहमनी ने डाली थी। सुल्तान होने पर उसने अलाउद्दीन बहमन शाह के नाम से शासन करना आरंभ किया। अपने शासन-काल ( सं० १३८३-९५ ) में उसने राजकीय कार्यों के लिए फ़ारसी के स्थान पर हिन्दी को प्रधानता दी। इससे हिन्दी-गद्य को विशेष प्रोत्साहन मिला। हज़रत ख्वाजा बन्दा नवाज़ सैयद मुहम्मद गेसू दराज़ ( सं० १३७७-१४६६ ); आदिल शाही राज्य ( सं० १५४७-१७४३ ) के अन्तर्गत शमशुल उश्शाक शाह मीरॉजी ( मृ० सं० १५५३ ); कुतुबशाही राज्य ( सं० १५६७ १७४४ ) के सुल्तान अब्दुल्लाशाह (सं० १६८२-१७२६) के अन्तर्गत शाह मीराँजी खुदानुमा (मृ० सं० १७१६) और मुल्ला वजही ने गद्य में कई रचनाएँ कीं। उर्दू-साहित्य के इतिहासकारो ने उक्त सभी गद्य-लेखकों को उर्दू-गद्य के प्रारंभिक रचनाकारो में स्थान दिया है, पर ध्यान से देखने पर उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र ही फ़ारसी शब्द मिलते हैं। उनपर दक्षिणी हिन्दी का प्रभाव ही अधिक है। उत्तर-भारत में मिथिला-निवासी ज्योतिरीश्वर ठाकुर का गद्य भी मैथिली से प्रभावित है। इसी समय के आस-पास राजस्थान में भी कुछ गद्य-ग्रन्थ लिखे गए हैं। भक्ति-काल में कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्तर्गत 'वल्लभ-संप्रदाय' के जो गद्य-ग्रंथ मिलते हैं उनमें या तो वैष्णव-वार्ताएँ मिलती हैं या टीकाएँ। उनकी भाषा ब्रजभाषा है। वल्लभाचार्य ( सं० १५३६-८७ ) के पुत्र गोसाईं विट्ठलदास (मृ० सं० १६४२) कृत 'शृङ्गार-रस मंडन' की ब्रज-भाषा उखड़ी-पुखड़ी, अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर उनके पश्चात् 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' नामक जो दो गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं उनकी ब्रजभाषा अत्यन्त सुव्यवस्थित और चलती हुई है। नाभादास-कृत 'अष्टयाम' (सं०१६६०), वैकुंठ शुक्ल-कृत 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' (सं० १६८०), सुरति मिश्र-कृत 'बैताल-

पचीसी' (सं० १७६७), हीरालाल-कृत 'आईन-अकबरी की भाषा वचनिका' (सं० १८५२) आदि भी व्रजभाषा गद्य-परंपरा के अन्तर्गत की गयी रचनाएँ हैं। उनकी गद्य-शैली के कुछ उदाहरण लीजिए :—

"श्री गुरु परमानन्द को दण्डवत है। हैं कैसे, परमानन्द स्वरूप हैं शरीर जिन्हि को, जिनके नित्य गाये तें शरीर चैतन्नि आनन्दमय होतु है।"

—गोरखनाथ

"ईमान के झाड़ां (जड़) क्या और ईमान की डालियाँ क्या और ईमान के पात क्या और ईमान का वतन क्या और ईमान का बीज क्या और ईमान का पोस्त (खाल) क्या और ईमान का सर क्या और ईमान का जीउ क्या ?"

—सैयद मुहम्मद गेसू दराज़

"एक शहर था उस शहर का नाउं सीस्तान। इस सीस्तान के बादशाह के नाउं अक्ल। दीन व दुनिया का तमाम उससे चलता। उसके हुक्म के बाज (बिना) ज़र्रा कीनें (कभी नहीं) हिलता। उसके फरमाए पर जनू चले, हर दो जहाँ में होय भले, दुनिया में खुब कहवाय, चार लोगों में इज़्ज़त पाय।"

—मुल्ला वजही

"जाक मुखक शोभा देखि पद्म जल प्रवेश कयल, आंखिक सोभा देखि हरिण बन गेल, केशक शोभा देखि चमरी पलायन कयल, दाँतक शोभा देखि दाड़िम हृदय विदीर्ण कयल, अधरक शोभा देखि प्रवाल द्वीपान्तर गेल, कानक शोभा देखि बौद्ध ध्यान स्थित भेल, कंटक शोभा देखि कम्बु समुद्र प्रवेश कयल।"

—ज्योतिरीश्वर ठाकुर

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबिकै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं।"

—गोसाईं विट्ठल नाथ

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए।"

—नाभादास

"सब देवतन की कृपा तें बैकुण्ठमनि सुकुल श्री रानी चन्द्रावती के धरम

पढ़िये के अरथ यह जस रूप ग्रन्थ वैसाख महातम भाषा करत भए।"

—वैकुंठ मनि शुक्ल

"अब शेख अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करिकै अकबर बादशाह की तारीफ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूं।"

—हीरालाल

व्रजभाषा-गद्य की उक्त परंपरा अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। अँग्रेजी-राज्य की ज्यों-ज्यो स्थापना होती गई त्यो-त्यो खड़ीबोली-गद्य को प्रोत्साहन मिलता गया।

खड़ीबोली-गद्य प्रारंभिक रूप

खड़ीबोली-गद्य का आविर्भाव अकस्मात नहीं हुआ। मुग़ल सम्राट अकबर के शासन-काल (सं० १६१३-६२) में गंग कवि 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक अपने गद्य-ग्रंथ में खड़ीबोली का रूप प्रस्तुत कर चुके थे। इससे स्पष्ट है कि अकबर के समय में ही खड़ीबोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। मुग़ल-साम्राज्य के ध्वंस होने पर उसके प्रसार में और भी सहायता मिली। अँग्रेजी शासन-काल में दिल्ली और आगरा के पश्चात् लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ स्थापित हुईं। कालांतर में रेल, तार, डाक आदि के कारण आने-जाने और विचार-विनिमय की सुविधाएँ भी बढ़ीं। ऐसे ही समय में दिल्ली-निवासी रामप्रसाद 'निरंजनी' (सं० १८०३-८१) ने 'भाषा योगवाशिष्ठ' (सं० १८५५) की खड़ी बोली-गद्य मे रचना की। सं० १८१८ में मध्यप्रदेश के अन्तर्गत बसवा-निवासी पं० दौलतराम ने खड़ीबोली-गद्य में जैन 'पद्मपुराण' का अनुवाद किया। सं० १८५७ में कलकत्ता मे जब फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना हुई और उसमें प्रत्येक भाषा के विद्वान पाठ्य पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त किए गये तब खड़ीबोली-गद्य में और भी पुस्तकें लिखी गयीं। हिन्दी लेखक उस कालेज में 'भाषा-मुंशी' कहलाते थे। उनके अध्यक्ष थे—जान गिल क्राइस्ट। उनकी देख-रेख में तीन 'भाखा मुंशी'—(१) इंशाअल्ला खाँ, (२) लल्लूलाल और (३) सदल मिश्र—काम करते थे। सदासुखलाल ने

कालेज के बाहर रहकर हिन्दी की सेवा की। उक्त चारों गद्यकारों के जीवन और कृतित्व का परिचय इस प्रकार है :—

(१) सैयद इंशाअल्ला खाँ—सैयद इंशाअल्ला खाँ (सं० १८२१-७४) के पूर्वज ईरान से आकर दिल्ली में बस गए थे। उनके पिता हकीम माशा अल्ला खाँ दिल्ली के नष्ट होने पर सं० १७६६ में मुर्शिदाबाद चले गये। वहीं इंशाअल्ला खाँ का जन्म हुआ। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह फिर दिल्ली आये और शाह आलम (सं० १८१६-६३) के दरबार में रहने लगे। वहाँ कुछ समय तक रहने के पश्चात् वह लखनऊ चले गये और नवाब सआदतअली खाँ (सं० १८५५-७१) के साथ रहने लगे। नवाब साहब उन्हें बहुत मानते थे। कहा जाता है कि लखनऊ में रहकर ही उन्होंने 'उदयभान' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। वह फारसी, अरबी, उर्दू और हिन्दी के पडित थे। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। अपनी उक्त पुस्तक में उन्होंने हिन्दी-खड़ीबोली-गद्य को स्थान दिया। उसके लिखने का उद्देश्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था :—

**"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।"**

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था। उन्होंने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से युक्त रखने की प्रतिज्ञा की थी : (१) बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फारसी तथा तुर्की, (२) गँवारी बोली अर्थात् ब्रजभाषा तथा अवधी आदि और (३) भाखा अर्थात् संस्कृत शब्दों का मेल न हो। तात्पर्य यह कि उन्होंने 'भाखापन' और 'मुअल्लापन' से अपनी रचना को बचाने का प्रयत्न किया था। इसमें वह अधिकांश सफल भी हुए। फारसी की शैली का वाक्य-विन्यास उन्होने प्रायः लम्बे वाक्यों में ही प्रयुक्त किया। सजीव, चटकीली, मुहावरेदार और चलती भाषा लिखने में वह पटु थे। उनकी वाक्य-योजना अनूठी और

उनका शब्द-चयन अत्यन्त विस्तृत था। हिन्दी-गद्य के विकास में उन्होंने एक नवीन शैली की उद्भावना की। वह मौलिक सूझ-बूझ के लेखक थे। उनकी शैली से उनका जीवन झलकता था। अपने जीवन की सारी चुलबुलाहट उन्होंने अपनी भाषा में उतार दी थी। इस दृष्टि से उनकी उक्त रचना का हिन्दी-गद्य के विकास में विशेष महत्त्व है।

(२) सदासुखलाल 'नियाज़'—मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' (सं० १८०३-८१) दिल्ली के निवासी थे। सं० १८५० के लगभग वह कम्पनी की अधीनता में चुनार, जिला मिर्ज़ापुर, में एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। पैंसठ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़कर उन्होंने प्रयाग को अपना निवास-स्थान बनाया और साहित्य-सेवा करने लगे। उर्दू और फ़ारसी के वह अच्छे कवि थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'मुतख़बुत्तवारीख़' है जिसकी रचना उन्होंने सं० १८७५ मे की थी। विष्णुपुराण के कई उपदेशात्मक प्रसंगों को लेकर उन्होंने एक पुस्तक हिन्दी में भी लिखी थी जो अपूर्ण है। उनकी गद्य-शैली का नमूना लीजिए:—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य एक ठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुंशीजी ने अन्तःप्रेरणा से गद्य मे रचना की। वह भगवान के भक्त थे। अपने समय में उन्होने हिन्दुओं के बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर पाई उसी में उन्होने रचना की। संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग कर उन्होंने गद्य के भावी साहित्यिक रूप का भी आभास दिया। फारसी और उर्दू की शैलियो से परिचित होने पर भी उन्होने अपनी हिन्दी-गद्य-शैली को उनके प्रभाव से बहुत बचाया। यही उनकी शैली की विशेषता थी।

(३) लल्लूलाल—लल्लूलाल (सं० १८२०-८२ ) आगरा के रहनेवाले गूजराती ब्राह्मण थे। हिन्दी, संस्कृत और उर्दू के वह जानकार थे। फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट के आदेश से उन्होंने 'प्रेमसागर' ( सं० १८६० ) की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी', 'शकुंतला नाटक' और 'माधोनल' की भी रचना की। सं० १८६६ में उन्होंने 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ ब्रजभाषा में लिखीं। 'माधव विलास' और 'सभाविलास' नामक ब्रजभाषा-पद्य के संग्रह भी उन्होंने संपादित एवं प्रकाशित किए थे। 'लालचंद्रिका' के नाम से उन्होंने सं० १८६५ में 'बिहारी-सतसई' की टीका भी लिखी थी। हिन्दुस्तानी लतीफा का एक संग्रह भी 'लतायफ हिन्दी' के नाम से उन्होंने प्रकाशित किया था। मजहरअली 'वला' को उन्होंने 'बैताल पचीसी' का अनुवाद करने में सहायता दी थी। इस प्रकार उर्दू, ब्रजभाषा और खड़ीबोली, तीनों में उन्होने रचना की थी। 'सिंहासन-बत्तीसी', 'शकुंतला नाटक', 'माधोनल', 'लतायफ' हिन्दी' उनके उर्दू-ग्रथ हैं। 'राजनीति' ब्रजभाषा में है और 'प्रेमसागर' खड़ीबोली में। 'प्रेमसागर' से उनकी खड़ीबोली का एक उदाहरण लीजिए :—

**"इतना कह महादेव जी गिरजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र-आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द से मग्न हो डमरू बजाय-बजाय, तांडव नाच नाच संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।"**

उक्त उदारहण की वही शैली है जो गंग कवि की थी। गंग कवि ने अपनी खड़ीबोली में इधर-उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्दों को स्थान दिया है, पर लल्लूलाल ने अपनी रचना को उनसे बचाने की भरपूर चेष्टा की है। 'प्रेमसागर' में भाषा की पूरी सजावट है। उसमे पंडिताऊपन और कथा-वार्ता का मेल अधिक है। 'ब्रजभाषापन' भी उसमें है। विरामो पर तुकबदी के अतिरिक्त वर्णनो में वाक्य भी लंबे-लंबे मिलते हैं और

यत्र-तत्र अनुप्रास की भी छटा है। मुहावरों का प्रयोग कम हुआ है। रीति काल का कला-सौष्टव 'प्रेमसागर' में पूरी तरह निखर उठा है।

(४) सदल मिश्र—सदल मिश्र (सं० १८३१-१९०६) विहार प्रान्त के अन्तर्गत आरा ज़िला के निवासी थे। लल्लूलाल की भाँति वह भी फोर्ट विलियम कालेज में भाखा-मुंशी थे। उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' (सं० १८६०) की रचना की। इसके अतिरिक्त उनकी एक रचना 'रामचरित्र' (सं० १८६२) भी है। इसमें सात कांड हैं। यह अध्यात्म रामायण का अनुवाद-मात्र है। अनुवाद की भाषा खड़ीबोली है। सरकारी कर्मचारियों को भाषा की शिक्षा देने के लिए ही उन्होंने, जान गिल क्राइस्ट के आदेश पर, इसकी रचना की थी। उनकी भाषा व्यावहारिक होने के साथ-साथ ब्रजभाषा और पूरबी बोली से प्रभावित है। कहीं-कहीं शब्दों के अशुद्ध रूप भी उसमें मिलते हैं। 'राम-चरित्र' से एक उदाहरण लीजिए:—

**"एक बेर नारद योगी पर उपकार के लिये सिगरे लोक फिरते-फीरते मृत्य लोक में जा पहुँचे तो वहाँ देषा कि मूरलि धारण किये चारों दिश वेद खड़े हैं अरु प्रातः काल के सूर्य का ऐसा वर्ण को भक्तन को मन भावत फल दायक सकल शास्त्र का सार ज्ञान निहार जगत का नाथ ब्रह्मा सरस्वती को साथ ले बीच सभा में बैठा है ओ मारकण्डेयादि मुनि बार-बार उसकी बड़ाई कर रहे हैं......।"**

सदल मिश्र के पश्चात् हिन्दी-गद्य के निर्माण का कार्य कुछ काल तक ईसाई-धर्म-प्रचारकों के हाथ में रहा। सं० १८६० और सं० १८९० के बीच अवधी, ब्रजभापा, बघेली, राजस्थानी, कनौजी और खड़ीबोली में लाखों पुस्तकें प्रकाशित हुईं। समाचार पत्र और पाठ्य पुस्तकें की वृद्धि हुई। पादरियो-द्वारा स्थापित 'आगरा स्कूल-बुक सुसाइटी' (सं० १८९०) और 'कलकत्ता स्कूल-बुक सुसाइटी' ने पाठ्य-पुस्तको के निर्माण में विशेष योग दिया। 'आगरा-स्कूल-बुक सुसाइटी' के लिए पं० ओंकार भट्ट ने 'भूगोल-सार' (सं० १८९७) और पं० बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन-प्रकाश' (सं० १९०४) की रचना की। 'कलकत्ता-स्कूल-बुक सुसाइटी' ने 'पदार्थ-विद्यासार'

(सं० १९०३) नामक पुस्तक प्रकाशित की। मिर्जापुर के 'आरफ़ेन प्रेस' ने कई पाठ्य पुस्तकें निकालीं। इन पुस्तकों के प्रकाशन से हिन्दी-गद्य के प्रसार में विशेष सहायता मिली, पर इस कार्य के पीछे पादरियों की जो भावना छिपी थी उसका विरोध करना भी आवश्यक था। इसलिए कुछ शिक्षित हिन्दुओं ने समाचार पत्र निकालकर हिन्दू-जनता में धार्मिक चेतना उत्पन्न करने की चेष्टा की। सबसे पहले सं० १८८३ में 'उदन्त मार्तण्ड' नामक साप्ताहिक पत्र कलकत्ता से कानपुर-निवासी युगुलकिशोर शुक्ल के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। आर्थिक कठिनाई के कारण जब यह सं० १८८४ तक चलकर बन्द होगया तब सं० १८८६ में 'बंगदूत', सं० १८९१ में 'प्रजामित्र', सं० १९०२ में 'बनारस अखबार', सं० १९०७ में 'सुधाकर' और स० १९११ में 'समाचार-सुधा-वर्षण' के नाम से कई समाचार पत्र निकले। इन समाचार पत्रों ने भी हिन्दी-गद्य के विकास में विशेष योग दिया। सारांश यह कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक हिन्दी-गद्य की शैली बहुत-कुछ सुधर चुकी थी। उसे राजकीय संरक्षण प्राप्त था, पर उसका प्रवेश राजकीय कार्यालयों में नहीं हुआ था। उर्दू का गद्य-साहित्य अपेक्षाकृत उन्नत था अवश्य, पर उसे भी राजकीय विभागों में स्थान नही मिला था।

**उर्दू-हिन्दी में संघर्ष**

सं० १८९३ तक उर्दू-हिन्दी में विशेष संघर्ष नहीं था। उस समय तक राजकीय विभागों की भाषा फ़ारसी थी। अँगरेजी शिक्षा की व्यवस्था होने पर अगरेजी-शिक्षा प्राप्त लोग नौकरियाँ पाने लगे थे। इसलिए फ़ारसी में काम करना कठिन हो गया। यह देखकर अँगरेज़ी सरकार ने सं० १८९३ में उसके स्थान पर देश की प्रचलित भाषाओं में कार्य करने की आज्ञा प्रसारित की। उस समय उत्तर प्रदेश की ओर से जो 'इश्तहार नामः' निकला था वह हिन्दी में था। उसमें स्पष्ट रूप से हिन्दी में कार्य करने की आज्ञा दी गयी थी, परन्तु मुसलमानों के तीव्र विरोध के कारण उसे प्रश्रय नहीं मिल सका और सं० १८९४ में उर्दू हमारे प्रान्त की भाषा हो गयी। सरकार की कृपा से खड़ीबोली का अरबी-फारसीमय रूप जनता के

सामने आ गया। इसलिए जीविका और मान-मर्यादा की दृष्टि से उसे सीखना आवश्यक हो गया। विद्यालयों में भी उसी को प्रधानता मिली। सं० १६११ के पश्चात् जब शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ तब सर सैयद अहमद खाँ (सं० १८७४-१६५५) ने हिन्दी को 'गँवारू बोली' कहकर उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। हिन्दी-उर्दू का यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा। परन्तु इस झगड़े के कारण हिंदी की गति रुकी नहीं। उसमें पुस्तकें छपती रहीं, समाचार पत्र निकलते रहे और उसका अध्ययन-अध्यापन भी होता रहा। स्वामी दयानन्द (सं० १८८१-१६४०) ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया। गुजराती होने पर भी वह हिन्दी के समर्थक थे। उन्होंने 'आर्य-समाज' (सं० १६३२) द्वारा हिन्दी का संदेश प्रत्येक हिन्दू-घर में पहुँचाया और उसी में बोलने और लिखने के लिए लोगों को उत्प्रेरित किया। इससे हिन्दी की लोक-प्रियता बढ़ी। इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह का हिन्दी-क्षेत्र में प्रवेश हुआ।

(१) राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'—राजा शिव प्रसाद 'सितारे-हिन्द' (सं० १८८०-१६५२) का जन्म काशी में हुआ था। वह फारसी, संस्कृत, अँगरेजी, अरबी, उर्दू, हिन्दी और बङ्गला के अच्छे विद्वान थे। सं० १८६७ में उन्होंने भरतपुर राज्य में नौकरी की और वहाँ सं० १६०० तक रहे। इसके पश्चात् वह काशी चले आये। सं० १६०२ में उन्हें सरकारी नौकरी मिल गयी। सं० १६११ में वह बनारस एजेन्सी के मीर मुन्शी, फिर उन्नति करके बनारस और प्रयाग कमिश्नरियों के इंस्पेक्टर हो गये। शिक्षा की ओर उनका विशेष झुकाव देखकर तत्कालीन सरकार ने सं० १६१३ में उन्हें विद्यालयों का इंस्पेक्टर बना दिया। उस समय शिक्षा-विभाग में मुसलमानों की अधिक धाक थी। ऐसी परिस्थिति मे राजा साहब को हिन्दी की रक्षा के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने ठेठ हिन्दी का आश्रय लिया और उसमें पुस्तकों की रचना की। उन्होंने 'राजाभोज का सपना', 'वीरसिंह का वृतांत', 'आलसियों का कोड़ा', 'रानी

भवानी' आदि कई उपयोगी कहानियाँ भी लिखीं। अपने मित्र पं० वंशीधर और पं० श्रीलाल से भी उन्होंने कई पुस्तकें लिखवाईं। पं० वंशीधर ने हिंदी-उर्दू का एक समाचार पत्र निकाला जिसके हिंदी भाग का नाम 'भारत खंडामृत' और उर्दू भाग का नाम 'आवेहयात' था। 'पुष्पवाटिका' (सं० १९०६), 'भारतवर्षीय इतिहास' (सं० १९१३) 'जीविका परिपाटी' (सं० १९१३) और 'जगत वृतांत' (सं० १९१५) उनकी रचनाएँ थीं। पं० श्री लाल ने 'पत्र-मालिका' ( सं० १९०६ ) की रचना की। इस प्रकार आरम्भ में राजा साहब ने हिन्दी-गद्य के विकास में पर्याप्त योग दिया, पर अन्त तक वह अपने इस आदर्श पर स्थिर न रह सके। सं० १९१७ के उपरान्त उन्होंने इतिहास, भूगोल आदि की जो पुस्तकें लिखीं उनमें उनकी भाषा उर्दू के बिलकुल निकट आ गई। 'इतिहास तिमिरनाशक' की भाषा का एक उदाहरण लीजिए :—

"तुगलक का भाई मसऊद खाँ निहायत हसीन था। बगावत का शुब्हा हुआ। पूछने पर उकूबत और सिआसत के डर से झूठा इकरार कर दिया। बहुतेरे उकूबत और सिआसत से मौत को बिहतर समझते हैं। बादशाह ने भाई का सिर कटवा डाला और लाश को तीन दिन तक उसी जगह पड़ा रखा।"

यह है राजा साहब की शैली का नमूना जिससे वह हिन्दी-भाषा-भाषियों पर लादना चाहते थे। अपने 'भाषा का इतिहास' नामक लेख में उन्होंने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था उसे भी वह चरितार्थ न कर सके। 'राजा भोज का सपना' की यह शैली :—

"राजा की आँखों में नींद छा रही थी। उठकर रनिवास में गया। जड़ाऊ पलङ्ग और फूलों की सेज पर सोया। स्वप्न में क्या देखता है कि वह संगमरमर का मन्दिर बनकर तैयार हो गया। देखते ही मारे घमण्ड के फूल कर मशक बन गया।"

और फिर 'मानव-धर्म सार की यह शैली :—

"मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्म शास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू

अप्रमाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना, और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं, क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में वेदों का तात्पर्य लिखा है।"

इतिहास तिमिर नाशक तक आते-आते उर्दू में परिवर्तित हो जायगी, इसकी उस समय कोई कल्पना नहीं कर सकता था।

(२) राजा लक्ष्मणसिंह—हिन्दी-गद्य-शैली का रूप निश्चित करने में जो कार्य राजा शिवप्रसाद से नहीं हो सका उसे राजा लक्ष्मलसिंह (सं० १८८३-१९५३) ने पूरा किया। राजा लक्ष्मणसिंह का जन्म आगरा में हुआ था। संस्कृत और फारसी के वह विद्वान थे। सर्वप्रथम उन्होंने छोटे लाट के अन्तर्गत अनुवाद का कार्य आरम्भ किया। इसके पश्चात् सं० १९-१२ में उन्हें तहसीलदारी मिली। इस पद पर कुछ दिनों तक रहकर वह डिप्टी-कलेक्टर हो गये। सं० १९४६ में उन्होने अवकाश ग्रहण किया और फिर वह आगरा में रहने लगे। हिन्दी में उन्होने कोई मौलिक रचना नहीं की। सं० १९१८ में उन्होंने 'प्रजा-हितैषी' नामक समाचार पत्र निकाला और सं० १९१९ में कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया। 'रघुवंश' ( सं० १९३५ ) और 'मेघदूत' ( सं० १९३९ ) के अनुवाद भी कालांतर में निकले। 'ताज़ीरात हिन्द' का हिन्दी-अनुवाद 'दंड-संग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ। इन अनूदित ग्रंथों से हिन्दी-जगत में उन्हें पर्याप्त यश मिला। 'बुलन्दशहर का इतिहास' उन्होने हिन्दी, अँग्रेजी और उर्दू में लिखा। यही उनकी मौलिक रचना थी। हिन्दी-गद्य शैली के संबंध में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' से उनका मत-भेद था। 'रघुवंश' के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में उन्होंने अपना मत प्रकट करते हुए लिखा—"हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-पारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-पारसी के शब्दों के

बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-पारसी के शब्द भरे हों।" अपने इस मत के अनुसार ही उन्होंने अपनी शैली का रूप निश्चित किया। वह संस्कृति-गर्भित हिन्दी के पक्षपाती थे। आज हम उन्हीं की शैली का अनुकरण करते हैं, परन्तु जिस समय उन्होने अपनी शैली को जन्म दिया था उस समय उसका प्रचार न हो सका। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

**अनसूया—( हौले प्रियंवदा से ) सखी ! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूँछूगी। ( प्रगट ) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ?"**

हिन्दी-उर्दू के संघर्ष में राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के अतिरिक्त नवीनचन्द्र राय ( सं० १८५६-१९४७ ) ने भी भाग लिया। उन्होंने पंजाब में भिन्न-भिन्न विषयों की बहुत-सी हिन्दी-पुस्तकें तैयार की और दूसरों से भी तैयार कराईं। 'ब्रह्म-समाज' के सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' ( सं० १९२४ ) निकाली। वह शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उर्दू के प्रचलित होने से वह अपने देश-वासियो का विशेष लाभ नहीं समझते थे। इसलिए वह बराबर उर्दू के विरुद्ध अपना मत देते थे। पञ्जाब के प्रतिभाशाली विद्वान पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी (मृ० सं० १९३८) ने जब सं० १९१० में घूम-घूमकर ईसाइयों के मत के विरुद्ध व्याख्यान देना आरम्भ किया तब हिन्दी के प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पन्न हुई। उन्होंने हिन्दी के लिए प्राणपण से चेष्टा की। हिन्दी में कई पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त उन्होंने 'भगवती' ( सं० १९३४ ) नाम का एक उपन्यास भी लिखा। अँगरेज-विद्वान फ्रेडिरक पिन्काट ( सं० १८९३-१९५३ ) भी हिन्दी के समर्थक थे। उन्हें उर्दू और हिन्दी, दोनों भाषाओं का अच्छा अभ्यास था, पर वह अधिकांश हिन्दी में ही लिखा करते थे। सं० १९१९ में जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुन्तला नाटक' लिखा तब उन्होने उसकी शैली की

बहुत प्रशंसा की। परन्तु कुछ ऐसे विदेशी विद्वान भी थे जो हिन्दी-विरोधी थे। फ्रांसीसी लेखक गार्सां-द-तासीं और उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष एम० एस० हैवेल उनमें प्रमुख थे। वे फूटी आँखों भी हिन्दी का उत्थान नहीं देख सकते थे। ऐसी विरोधी एवं विषम परिस्थितियों में हिन्दी को सर सैयद अहमद खाँ-जैसे महान व्यक्तित्व की आवश्यकता थी और वह उसे मिला **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** के रूप में। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की जो सेवा की वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अमर है और इसीलिए उनका युग 'भारतेन्दु-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग से हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल आरम्भ होता है। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु का प्रवेश सं० १९२५ में हुआ। इसलिए तब से अब तक की साहित्यिक प्रगति का अध्ययन करने के लिए हम उसे निम्न चार कालों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्रथम उत्थान-काल : भारतेन्दु-युग ( सं०१९२५-५० )
(२) द्वितीय उत्थान-काल : द्विवेदी-युग (सं०१९६७-७५)
(३) तृतीय उत्थान-काल : छायावाद-रहस्यवाद युग (सं० १९७६-९५)
(४) चतुर्थ उत्थान-काल : प्रगतिवाद प्रयोगवाद युग (सं० १९९६ —)

अगले अध्यायों में हम इन्हीं पर क्रम से विचार करेंगे।

---

# १३. प्रथम उत्थान-काल : भारतेन्दु-युग

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का प्रथम उत्थान-काल भारतेन्दु-युग (सं० १६२५-५०) से आरंभ होता है। इस युग से रीति-काल की परंपराओ का अवसान और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सं० १६१४ की जन-क्रान्ति इस युग की जननी है। भारतीय इतिहास में यह घटना आँधी की तरह आयी और निकल गयी, परन्तु इसने भारतीय समाज की नस-नस को हिला दिया। धर्म, राजनीति, समाज, साहित्य और अर्थ के क्षेत्र में जो भावनाएँ सुसुप्त थीं उन्हें इसने जगा दिया। देश का कोना-कोना नई चेतनाओं और नई स्फूर्तियो से क्रियाशील हो उठा। पाश्चात्य सुसम्पन्न साहित्य, सभ्यता एवं राजनीति के आलोक में भारतीयो ने पहली बार अपनी हीनता का अनुभव किया जिससे उनमें प्रतिक्रिया की प्रबल भावना उत्पन्न हुई। इस प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप धर्म और राजनीति में ही नहीं, अपितु साहित्य में भी नयी चेतना के स्वर सुनाई पड़ने लगे। साहित्यकारों ने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के अनुकूल बनाकर उन्हें साहित्य में स्थान देना आरंभ किया। कबीर, तुलसी, सूर, जायसी, बिहारी—सब पीछे छूट गये और उनके आदर्श हो गये शेक्सपियर, वाल्टर स्काट, स्टील, बेकन और रस्किन। परन्तु इन पाश्चात्य साहित्यकारों का अनुकरण करने में उन्होने अपनापन नहीं खोया। पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करके भी वे प्राच्य ही बने रहे। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही अपने साहित्य के विभिन्न अंगों की सृष्टि एवं पुष्टि की।

भारतेन्दु-युग की विशेषताएँ

भारतेन्दु-युग की दूसरी विशेषता थी, विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत कर हिन्दी के प्रति जनता में अनुराग उत्पन्न करना और हिन्दी-साहित्य को लोक-प्रिय बनाना। रीति-कालीन साहित्य-साधना का आदर्श

एकनिष्ठ था। वह रईसों, राजाओ और महाराजाओं के मनोरंजन और कवियों के कला-विलास तक ही सीमित था। साहित्य का जनता और उसके जीवन के साथ कोई संबंध नहीं था। भारतेन्दु-युग ने साहित्य का जनता के जीवन के साथ सीधा संबंध स्थापित किया और उसे अनेकरूपता प्रदान की। फलतः नाटक, निबंध, उपन्यास, खण्ड-काव्य, महाकाव्य, मुक्तक काव्य, भूगोल, दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि सब एक साथ लिखे जाने लगे और उनमें जन-जीवन की आवश्यकताओं का चित्रण होने लगा। ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार, जो पहले अपने आश्रयदाता के प्रति उत्तरदायी था, जनता के प्रति उत्तरदायी हो गया।

भारतेन्दु-युग की तीसरी विशेषता थी, अभिव्यंजना के क्षेत्र में मनोभावों का सफल एवं प्रकृत चित्रण। रीति-काल में शृंगारी कवि सामाजिकता और वास्तविकता से कोसो दूर जा पड़े थे। फलतः उनकी रचनाओ में कल्पना की उड़ान तो थी, पर भावों का यथार्थ एवं वास्तविक चित्रण नहीं था। सं० १९१४ के पश्चात् जब सामंती-सभ्यता का अंत हो गया तब उन्हें विवश होकर जनता के बीच आना और उसकी मनोवृत्तियों का अध्ययन करना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि साहित्य में जहाँ शृङ्गार की प्रधानता थी, वहाँ उसमें राष्ट्रीय भावनाओं की निर्मल धारा बहने लगी और जन-जीवन की समस्याओ का मूल्यांकन होने लगा।

भारतेन्दु-युग की चौथी विशेषता यह थी कि उस समय सभी साहित्यकारों को साहित्य के परिमार्जन एवं परिवर्धन में एक-दूसरे का प्रशंसनीय सहयोग प्राप्त था। भारतेन्दु साहित्य-जगत के नेता थे और उन्हीं के संकेत पर साहित्य की सृष्टि होती थी। उनके घर पर दूसरे-तीसरे दिन बराबर गोष्ठियाँ होती थीं और उनमें हिन्दी-साहित्य की तत्कालीन आवश्यकताओं पर विचार-विनिमय होता था। कोई किसी का विरोधी नहीं था। सब एक साथ मिलकर हिन्दी के कल्याण में तत्पर थे।

उक्त विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य का आज का युग भारतेन्दु-युग की देन है। भारतेन्दु-युग ने हिन्दी

साहित्य का बहुत उपकार किया है। नाटक, उपन्यास, निबंध, कहानी, आदि के बीज उसी युग में बोए गए थे। राष्ट्र-प्रेम एवं सामाजिक भावना को उसी युग में महत्त्व मिला था। गद्य-साहित्य की विभिन्न शैलियों का शिल्यान्यास भी उसी युग में हुआ था। सारांश यह कि वह युग हमारे-साहित्य के इतिहास में प्रत्येक दृष्टि से महान था।

**भारतेन्दु-युग के साहित्यकार**

भारतेन्तु-युग के साहित्यकार तत्कालीन वातावरण की उपज थे। उन सब के सामने एक आदर्श था, एक कार्य था और वह था प्राणपण से हिन्दी-साहित्य की सेवा एवं हिन्दी का प्रचार करना। इस आदर्श की पूर्ति में सब ने अपनी-अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुरूप साहित्य की सृष्टि की और कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया। छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। व्यक्तिगत द्वेष से वे कभी प्रभावित नही हुए। वे साधारण स्थिति के साहित्यकार नहीं थे। आर्थिक दृष्टि से वे सुसंपन्न थे। उन्होंने उच्च शिक्षा भी पाई थी। हिन्दू-संस्कृति में वे पले थे। उन्हें अपने देश की परिस्थिति और अपने साहित्य की आवश्यकताओं का ध्यान था। यहाँ उन्हीं की सेवाओ का संक्षेप में मूल्यांकन किया जाता है :—

(१) भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र—भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) अपने युग के प्रकाश-स्तंभ थे। उनका जन्म काशी के एक सुप्रसिद्ध सेठ-परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधर दास (सं० १८९०-१९१७) था। गिरिधर दास के दो ही काम थे—कविता करना और पूजा-पाठ करना। उनके व्यक्तित्व का भारतेन्दु पर विशेष प्रभाव पड़ा। भारतेन्दु के माता-पिता उनकी अल्पावस्था में ही चल बसे। इससे उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो सका। घर पर रहकर ही उन्होंने हिन्दी, उर्दू, अंगरेजी, बंगाला, संस्कृत आदि भाषाओं का अभ्यास किया। १३ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ और इसके दो वर्ष पश्चात् सं० १९२२ में वह अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गये। इसी यात्रा में उनका परिचय बंग-देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ जिसे

देखकर उन्हें हिन्दी में उनके अभाव का अनुभव किया। वहाँ से काशी लौटने पर उन्होंने इस अभाव की पूर्ति करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। सं० १६२५ में उन्होंने 'विद्या सुन्दर' नाटक बंगला से अनुवाद करके हिन्दी में प्रकाशित किया। उसी वर्ष उन्होंने 'कवि वचन-सुधा' और सं० १६३० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के पश्चात् 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' हो गया। बालकों और स्त्रियो के लिए भी उन्होंने पत्रिकाएँ निकालीं। काव्य, नाटक, कथा, निबंध, इतिहास सब कुछ उन्होने लिखा। 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २ में उनकी कविताएँ और डा० श्यामसुन्दर-दास द्वारा संपादित 'भारतेन्दु-नाटकावली' में उनके नाटक संगृहीत हैं। उनके निबन्धों का एक संग्रह भी अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' उनके इतिहास-ग्रंथ हैं।

भारतेन्दु की भाषा परिमाजित, मधुर और स्वच्छ है। उसमें न तो सदासुखलाल का 'पंडिताऊपन' है, न लल्लूलाल का 'व्रजभाषापन' है, न सदल मिश्र का 'पूर्वीपन' है, न शिवप्रसाद का 'उर्दूपन' हैं और न राजा लक्ष्मणसिंह का 'संस्कृतपन' है। वह सीधी-सादी सुधरी हुई, सशक्त और चुस्त भाषा है। अन्य भाषाओ के शब्दों का वेतुका मेल उसमें नहीं है। उसमें विदेशी शब्द हिन्दी के सांचे में ढले हुए हैं। भावात्मक शैली के भारतेन्दु जनक हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने विवरणात्मक, विवेचनात्मक, व्यंगात्मक और विश्लेषणात्मक शैलियों का प्रयोग किया है। उनकी भावात्मक शैली का एक उदाहरण 'प्रेम योगिनी' से लीजिए :—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परमबंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवन-दाता हरिश्चन्द्र ही दुखी हो? (नेत्रों में जल भर कर) हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिंता न हो, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना।"

(२) बालकृष्ण भट्ट—बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१-७१) का जन्म प्रयाग में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० वेणी प्रसाद था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा प्रयाग के मिशन स्कूल में हुई। उस विद्यालय में दसवीं कक्षा तक पढ़कर उन्होंने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन करना आरंभ किया। इसी बीच वह स्थानीय जमुना मिशन स्कूल मे संस्कृत के अध्यापक हो गये। थोड़े दिनों तक वहाँ कार्य करने के पश्चात् उन्होने नौकरी छोडकर सस्कृत-साहित्य का अध्ययन करना आरंभ किया और हिन्दी में लेख लिखने लगे। कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में भी वह अध्यापक रहे। 'हिंदी-प्रदीप' (सं० १९३४) का उन्होंने लगभग ३०-३२ वर्ष तक संपादन किया और घाटा सहकर भी उसे निकालते रहे। भारतेन्दु-मंडली के वह प्रमुख सदस्य थे। उन्होंने कई मौलिक नाटक, दो मौलिक उपन्यास और कई निबन्ध लिखे। निबन्ध लिखने में वह हिन्दी के 'स्टील' थे। उनके निबन्धों की अच्छी ख्याति थी। अपनी भाषा में वह मुहावरों और कहावतों का सुन्दर प्रयोग करते थे। समास-शैली उन्हें विशेष प्रिय थी। उन्होंने किसी की शैली का अनुकरण नहीं किया। अपनी भाषा को व्यापक बनाने के लिए वह अन्य भाषाओं के शब्द भी अपना लिया करते थे। उनकी भाषा व्याकरण के नियमो से बँधी होती थी। विराम-चिह्नों का प्रयोग भी वह करते थे। वह कवि नहीं; गद्यकार थे और अपने इस रूप में महान थे। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए:—

"इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमनचैन का फायदा पाय हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़िया का ब्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिये। × × × आत्म-निर्भरता में दृढ़, अपने कूवतेबाजू पर भरोसा रखनेवाला पुष्ट वीर्य, पुष्ट बल, भाग्यवान् एक सन्तान अच्छी। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग-रग मे दास-भाव से पूर्ण, पर भाग्योपजीवी दस किस काम के।"

(२) प्रतापनारायण मिश्र—प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३-५१) का जन्म कानपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० सङ्कटाप्रसाद

था। पढ़ने-लिखने में उनका मन नहीं लगता था। वह आरम्भ से ही मन-मौजी थे। हिन्दी, उर्दू और कुछ फारसी भी वह जानते थे। कविता से उन्हें विशेष प्रेम था। भारतेन्दु की 'कवि-वचन-सुधा' वह प्रायः पढ़ा करते थे। उन दिनों कानपुर में 'लावनी' गाने की बड़ी धूम थी। इसलिए उन्होंने 'लावनियां' लिखना आरम्भ किया। धीरे-धीरे उनकी ख्याति बढ़ी। सं० १६४० में उन्होंने 'ब्राह्मण' नामक एक मासिक पत्र निकाला। सं० १६४४ में वह बन्द हो गया। इसके पश्चात् सं० १६४६ में वह कालाकांकर से निकलनेवाले 'हिन्दोस्थान' पत्र के सहकारी सम्पादक हो गये, पर इस पद पर वह अधिक दिनों तक नहीं रहे। उन्होंने कई बङ्गला-पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें से 'चरिताष्टक' (सं० १६५१), 'पञ्चामृत' (सं० १६४६), 'कथामाला' (सं० १६४७) और 'सङ्गीत शाकुंतल' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'कलि कौतुक' (सं० १६४३), 'भारत-दुर्दशा' उनके रूपक और 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर' तथा 'गो सङ्कट' उनके नाटक हैं। इनके अतिरिक्त 'मन की लहर' (सं० १६४२); 'लोकोक्ति शतक', 'मानसविनोद' (सं० १६४३) आदि भी उनके मौलिक ग्रंथ हैं। इस प्रकार वह नाटककार, निबन्धकार, कवि और संपादक सब एक साथ थे। उनकी भाषा में ग्रामीणता अधिक थी और उसका रूप अस्थिर था। उसमें 'पंडिताऊपन' और 'पूर्वीपन' भी अधिक था। घरेलू शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग उन्होंने खुलकर किया था। शब्द-शुद्धि की ओर उनका ध्यान नहीं था। उनके पास विचार थे, भाषा नहीं थी। हास्य और व्यङ्ग लिखने में वह पटु थे। उन्होंने अपने जीवन की चुलबुलाहट को अपनी भाषा में उतार दिया था। यही उनकी विशेषता थी। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

"सच है सब तें भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप्प मारा करना, जो कोई तिथि त्योहार आ पड़ा तो गङ्गा में बदन धो आना, गङ्गापुत्र को चार पैसा देकर सेत-मेत में धरममूरत, धरमऔतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गये, अब काहे की है है और काहे की खै खै?"

(४) बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'—बदरीनारायण चौधरी उपनाम 'प्रेमघन' (सं० १९१२-७९) का जन्म मिर्जापुर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० गुरु चरणलाल उपाध्याय था। आरम्भ में उन्होंने हिंदी संस्कृत, अँगरेजी और फारसी पढ़ी। सं० १९२७ में उनका पं० इन्द्रनारायण शांगलू से परिचय हुआ और उन्हीं के सत्सङ्ग से उनमे साहित्य-सेवा की भावना उत्पन्न हुई। उनके द्वारा ही भारतेन्दु से उनका परिचय हुआ। सं० १९३० में उन्होंने 'सद्धर्म-सभा' और सं० १९३१ में 'रसिक-समाज' की स्थापना की। सं० १९३२ से उन्होने कविता करना आरम्भ किया और 'कवि-वचन-सुधा' में लिखने लगे। कालांतर में उन्होंने 'भारत-सौभाग्य' (सं०१९४५), 'प्रयाग-रामागमन' (१९६१), 'वारांगनारहस्य' (सं० १९५०), एवं 'वृद्ध-विलाप'(सं०१९५२)नाम के चार नाटक और 'हार्दिकहर्षादर्श','भारत बधाई', 'वर्षा बिंदु-गान' 'कजली-कादंबिनी' 'आर्याभिनन्दन', 'मङ्गलाशा' 'आनन्द अरुणोदय' आदि कई अन्य ग्रंथ लिखे। समालोचना का सूत्रपात भी उन्होंने किया। कलकत्ता मे होनेवाले हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के तीसरे अधिवेशन (सं० १९६९) के वह सभाति हुए। उनकी शैली सबसे विलक्षण थी। वह गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले लेखक थे। 'कभी-कभी वह ऐसे पेचीदे मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लंबे वाक्यों में उलझा रह जाता था।' अनुप्रास और अनूठे पद-विन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। वह जो कुछ लिखते थे उसे कई बार पढ़कर और उसमें उचित संशोधन करके उसे प्रकाशनार्थ देते थे। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

"जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग-ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा; भूमि हरी भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानों मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुन्दर हरित पत्रावालियों से भरित यरुग्नों की सुहावनी लताएँ लिपट-लिपट मानों मुग्ध मयंक मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं।"

(५) लाला श्रीनिवासदास—लाला श्रीनिवासदास (सं० १९०८-४४) का जन्म दिल्ली में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला मंगलीलाल था। आरंभ में उन्होंने हिन्दी, फिर फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत और अंगरेजी में अभ्यास करके शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त करली। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था। भारतेन्दु के सम-सामयिक लेखकों में उनका एक विशेष स्थान था। उन्होंने चार नाटक लिखे, 'प्रह्लाद-चरित्र (सं० १९३०) 'सप्ता-संवरण' (सं० १९३१), 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' (सं० १९३४), और 'संयोगिता-स्वयंवर' (सं० १९४२)। इसके अतिरिक्त 'परीक्षा-गुरु' (सं० १९३९) नामक एक उपन्यास भी उन्होंने ने लिखा। यही उपन्यास हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। लालाजी की भाषा संयत, साफ़-सुथरी और शुद्ध है। उसमें खड़ीबोली के बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी हैं। दिल्ली की भाषा का प्रभाव भी उस पर है। 'परीक्षागुरु' से एक उदाहरण लीजिए :—

**"न्याय प्रियता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखनेवाली है, परन्तु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यंत लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषंगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा।"**

(६) ठाकुर जगमोहनसिंह—ठाकुर जगमोहनसिंह (सं० १९१४-५६) का जन्म मध्यप्रदेश के अन्तर्गत विजयराघव गढ़ में हुआ था। उनके पिता का नाम ठाकुर सरयूसिंह था। सं० १९१४ की जन-क्रान्ति में भाग लेने के कारण ठाकुर सरयूसिंह का राज्य छीन लिया गया। ऐसी दशा में जगमोहन सिंह सं० १९२३ में पढ़ने के लिए काशी भेजे गये। काशी में उन्होने ॲंगरेजी, संस्कृत, हिन्दी, बंगला, उर्दू आदि कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं दिनों भारतेन्दुजी से उनका परिचय हुआ। सं० १९३७ में वह रायगढ़ के अन्तर्गत धमतरी के तहसीलदार हुए। अपनी

तहसीलदारी के समय में ही उन्होंने 'श्यामा-स्वप्न' (सं० १९४५), 'श्यामा-सरोजनी', 'प्रेम संपत्तिलता', 'प्रेमहजारा', 'सज्जनाष्टक', 'ज्ञानप्रदीपिका' आदि कई ग्रन्थो की रचना की। उनकी संस्कृत और भाषा-योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वह अँगरेजी के भी अच्छे विद्वान थे। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रुचिर संस्कार के साथ मातृ-भूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन में बसानेवाले वह पहले हिन्दी-लेखक थे। गद्य में प्रकृति का चित्रण उनकी एक ऐसी विशेषता थी जो उनसे समकालीन लेखकों में नहीं मिलती। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित थी। 'श्यामा-स्वप्न' से एक उदाहरण लीजिए :—

**"ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों की बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।"**

(७) तोताराम—तोताराम (सं० १९०४-५९) के पिता का नाम लाला ज्ञानचंद था। सं० १९२० में उन्होने इंट्रेंस पास किया। इसके पश्चात् बी० ए० तक पढ़कर वह फतेहगढ़ स्कूल में हेडमास्टर हो गये। वहाँ से उनकी बदली बनारस हुई। उन्हें हिन्दी, फारसी, बँगला, गुजराती, मराठी, संस्कृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। काशी से उन्होंने कानून की परीक्षा पास करके नौकरी छोड़ दी और अलीगढ़ में एक छापाखाना (सं० १९३४) खोलकर 'भारत-बंधु' पत्र निकालने लगे। उन्होंने 'भाषा-संवर्द्धिनी' नाम की एक सभा भी स्थापित की थी। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में वह बराबर लेख लिखा करते थे। उसमें उनका 'कीर्त्तिकेतु' (सं० १९३१) नामक नाटक प्रकाशित हुआ था। उन्होने एक नाटक 'विवाह विडंबन' ( सं० १९४१ ) के नाम से भी लिखा था। 'केटो कृतांत नाटक' ( सं० १९३८ ) उनका अंगरेजी से अनूदित ग्रंथ है। 'स्त्री सुबोधिनी' उनकी मौलिक रचना है। उनकी भाषा साधारण है। 'कीर्त्तिकेतु' से एक उदाहरण लीजिए :—

"यह कौन नहीं जानता ? परन्तु इस नीच संसार के आगे कीर्तिकेतु विचारे की क्या चलती है ! जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नगरी की नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाए है।"

उक्त लेखकों के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग में हिन्दी की उन्नति में योग देनेवाले देवीप्रसाद मुंसिफ (सं० १९०४-८०), राजा रामपालसिंह (सं० १९०५-६६), गदाधरसिंह (सं० १९०५-५५), लक्ष्मीशंकर मिश्र (सं० १९०६-६३), काशीनाथ खत्री (सं० १९०६-४८), कार्तिकप्रसाद खत्री (सं० १९०८-६१), भीमसेन शर्मा (सं० १९११-७४) केशवराम भट्ट (सं० १९११-६२), विनायक राव (सं० १९१२-८१), किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९१२-८९), राधाचरण गोस्वामी (सं० १९१५-५७), सीताराम वर्मा (सं० १९१५-९३), अंबिकादत्त व्यास (सं० १९१५-५७), राधाकृष्ण दास (सं० १९२२-६४), विश्वनाथ शर्मा (सं० १९२४-८५) आदि थे। कार्तिक प्रसाद खत्री और राधाचरण गोस्वामी ने भारतेन्दु का आदर्श अपने सामने रखा। देवीप्रसाद मुंसिफ ने जन-साधारण में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। किशोरीलाल गोस्वामी की भाषा-शैली पर बंगला की कोमल-कान्त पदावली का प्रभाव था।

भारतेन्दु-युग के लेखकों के उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण से स्पष्ट है कि उसमें नाट्य-रचना प्रचुर मात्रा मे हुई। उसके पूर्व भी नाटक लिखे जा चुके थे। बनारसीदास जैन 'समयसार' (सं० १६९३) और हृदयराम उपनाम 'राम' 'हनुमन्नाटक' (सं० १६८०) नामक नाटकों का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद कर चुके थे। इसी परंपरा में जोधपुर-नरेश जसवंतसिंह (सं० १६४९-१७१५) ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' (सं० १७००) संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद किया था। प्रथम दोनों नाटकीय काव्य थे। प्राणचंद चौहान कृत 'रामायण महानाटक' (सं० १६६७), कृष्णजीवन लछीराम-कृत 'करुणाभरण' (सं० १७७२), नेवाज-कृत 'शकुंतला नाटक' (सं० १७६७), गिरिधर

**भारतेन्दु-युग का नाट्य-साहित्य**

दास (सं० १८६०-१६१७) कृत 'नहुष' (सं० १८६८) और रीवाँ-नरेश विश्वनाथ सिंह (सं० १८७०-१६११) कृत 'आनन्द रघुनन्दन' (सं० १८२८) आदि मौलिक नाटक भी भारतेन्दु-युग के पूर्व लिखे जा चुके थे। इस प्रकार अनूदित और मौलिक नाटकों की परंपरा विक्रम की सत्तरहवीं शताब्दी से ही आरंभ हो चुकी थी। परन्तु वे सब नाम-मात्र के नाटक थे। उनमें नाटकीय छटा थी, नाट्य-कला नहीं थी। ब्रजभाषा में होने के कारण उनका रूप भी नहीं निखरा था। यदि किसी अर्थ में कोई नाटक था तो वह था 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक। आगे चलकर राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५३) ने कालिदास-कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' (सं० १६१६) का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया। यह नाटक प्रत्येक दृष्टि से बहुत लोक प्रिय सिद्ध हुआ। इसी परंपरा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १६०७-४१) ने बंगला से 'विद्या सुंदर' (सं० १६२५), संस्कृत से 'रत्नावली' (सं० १६२५), 'पाखण्ड विडंबन' (सं० १६२६), 'धनंजय विजय' (सं० १६३०), 'कर्पूर मंजरी' (सं० ११३२), 'मुद्रा राक्षस' (सं० १६३१ : अपूर्ण) और अंगरेजी से 'दुर्लभ बन्धु' (सं० १६३७ : अपूर्ण) की रचना की। इन अनूदित नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने 'प्रवास नाटक' (सं० १६२५ : अपूर्ण) 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सं० १६३०), 'सत्य हरिश्चन्द्र' (सं० १६३२), 'प्रेम जोगिनी' (सं० १६३२: अपूर्ण), 'विषस्य विषमौषधम्' (सं० १६३३), 'श्रीचन्द्रावली' (सं० १६३३), 'भारत जननी' (सं० १६३४), 'भारत-दुर्दशा' (सं० १६३७) 'नीलदेवी' (सं० १६३८), 'अंधेर नगरी' (सं० १६३८) और 'सती प्रताप' (सं० १६४० : अपूर्ण) नामक मौलिक नाटकों की रचना की। उनके इन नाटकों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने धार्मिक रूपक, प्रहसन, व्यायोग, नाटिका, भाण, नाट्य गीत, नाटक, लास्य रूपक, गीतिरूपक आदि नाट्य-कला की कई शैलियाँ अपनायी और ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक एवं सामाजिक नाटक लिखे। नाट्य-कला का जितना अच्छा ज्ञान उन्हें था उतना उनके समय के नाटककारों में से किसी को भी नहीं था। उन्होने अपने नाटकों को रंगमंच पर उतारने की व्यवस्था भी की थी। वह नाटक लिखने

में ही नहीं, नाटक खेलने में भी कुशल थे। अपने मौलिक नाटकों में उन्होंने संस्कृत-नाट्य-परंपरा की सभी बातें नहीं अपनायीं। वह हिन्दी-नाट्य-कला की आवश्यकताएँ समझते थे। इसलिए उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही उन्होंने अपने मौलिक नाटको की रचना की। उनके नाटकों में 'प्रस्तावना' बराबर रहती थी। 'पताका' और 'स्थानक' आदि का प्रयोग भी वह कहीं-कहीं करते थे। उनकी भाषा नाटकीय होती थी। सारांश यह कि उनके नाटकों में संस्कृत-नाटकों की-सी जटिलता नहीं थी। अपने नाटकों में उन्होंने राष्ट्र-प्रेम का स्वर भी ऊँचा किया था।

भारतेन्दु के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग में लाला श्रीनिवासदास (सं० १९०८-४४) ने 'प्रह्लाद-चरित' (सं० १९३०), 'सप्तासंवरण' (सं० १९३१), 'रणधीर और प्रेम मोहिनी (सं० १९३४) और 'संयोगिता-स्वयंवर' (सं० १९४२) की रचना की। 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' उनका दुःखान्त नाटक था। इसकी रचना उन्होंने अंगरेजी के दुखांत नाटको के अनुकरण पर की थी। उनके समकालीन काशीनाथ खत्री (सं० १९०६-४८) ने 'बाल विधवा-सताप' (सं० १९३९), 'ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी'। (सं० १९४०), 'सिन्धु देश की राजकुमारियाँ' (सं० १९४१), 'गुन्नौर की रानी' (सं० १९४१) ओर 'लवजी का स्वप्न' (सं० १९४१) की रचना की थी। बदरीनारायण चौधरो 'प्रेमघन' (सं० १९१२-७९) ने भी 'भारत सौभाग्य' (सं० १९४५), 'प्रयाग-रामागमन' (सं० १९६१), 'वारांगना-रहस्य' (सं० १९५०) और 'वृद्ध-विलाप' (सं० १९५२) नाम के चार नाटक उसी समय लिखे। 'भारत-सौभाग्य' में उन्होने ५२ पुरुष और ४२ स्त्री-पात्रों को स्थान दिया। साथ ही उनकी भाषा भी उर्दू, पंजावी, मारवाडी, मराठी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, बंगला आदि होती गयी। इससे उनका उक्त नाटक अनेक प्रकार के पात्रों का सम्मेलन और भाषा-विज्ञान का ग्रंथ बन गया। 'प्रयाग-रामागमन' में उन्होने राम और सीता के भरद्वाज आश्रम तक आने की कथा ली और 'वारांगना-रहस्य' में उन्होंने दुर्दशा-ग्रस्त समाज का चित्र उतारा। प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३-५१) ने 'कलि कौतुक रूपक'

(सं० १९४३), 'गो-संकट' (सं० १९४३), 'हठी हमीर' (सं० १९४४) 'कलि प्रभाव' (सं० १९४५), 'भारत-दुर्दशा' (सं० १९४६) और 'जुआरी-खुआरी' (सं० १९४५) नाम के छः नाटकों की रचना की। उनके इन नाटकों में कोई विशेषता नहीं थी। **केशवराम भट्ट** (सं० १९११-६२) ने 'सज्जाद सम्बुल' (सं० १९३१) और 'शमसाद-सौसन' (सं० १९३७) नामक दो नाटक मुसलमानी वातावरण के आधार पर लिखे। हास्य और शृङ्गार का उनके नाटकों में अच्छा मेल दीख पड़ा। उनके कथोपकथन भी स्वाभाविक और रंगमंचीय हुए। **बालकृष्ण भट्ट** (सं० १९०१-७१)-कृत 'कालिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', बाल-विवाह और 'चन्द्रसेन' अत्यन्त साधारण रचनाएँ सिद्ध हुईं। **'राधाकृष्ण दास'** (सं० १९२२-६४) ने 'दुःखिनी बाला' (सं० १९३७), 'पद्मावती अथवा मेवाड़-कमलिनी' (सं० १९४०) 'धर्मालाप' (सं० १९४२) और 'महाराणा प्रतापसिंह' (सं० १९५४) नाम के चार नाटक लिखे। नाट्य-कला, पात्र, संवाद, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से उनके नाटक अत्यन्त सुन्दर और अभिनेय हुए। **राधाचरण गोस्वामी** (सं० १९१५-५७) ने भी 'बूढ़े मुँह मुहासे' (सं० १९४४), 'सती चन्द्रावली' (सं० १९४७), 'भंग तरंग' (सं० १९५२), 'अमरसिंह राठौर' (सं० १९५२) 'तन-मन-धन-गोसाईंजी के अरपन' आदि कई नाटक लिखे। **तोताराम वर्मा** (सं० १९०४-५९)-कृत-'कीर्ति-केतु' (सं० १९३१), और 'विवाह-विडंबन नाटक' (सं० १९४१); **किशोरीलाल गोस्वामी** (सं० १९२२-८९)–कृत 'मयक मंजरी महानाटक' (सं० १९४८), 'चौपट चपेट' (सं० १९४८) और 'नाट्यसंभव' (सं० १९६१); तथा **अंबिकादत्त व्यास** (सं० १९१५-५७)-कृत-'ललिता नाटक' (सं० १९३५), 'कलियुग और घी' (सं० १९४३), 'मन की उमंग', (सं० १९४३), 'भारत-सौभाग्य नाटक' (सं० १९४४), 'गोसङ्कट नाटक' (सं० १९३९), 'मरहठा नाटक' (सं० १९४५) और 'देव पुरुष दृश्य' (सं० १९४५) नाटक-कला की दृष्टि से साधारण रचनाएँ सिद्ध हुईं।

भारतेन्दु-युग में रंगमंच और रंगमंचीय नाटकों का प्रचार भी हो

चला था। बम्बई में 'बाम्बे ग्रीन' (सं० १८२७) पहला थियेटर स्थापित हुआ। सं० १८९९ में जगन्नाथ-शङ्करनाथ ने 'प्रायवेट थियेटर' खोला। सं० १९२७ में 'ओरिजिनल थियेटरिकल कम्पनी' खुली। इनके पश्चात् नाटक-कम्पनियों की बाढ़-सी आ गयी। हिन्दी के लिए 'सूर्य विजय' और 'व्याकुल भारत' नाम की कम्पनियाँ खुलीं। इन कम्पनियों के लिए नाटक लिखे जाने लगे। उर्दू में पचासों रंगमंचीय नाटक लिखे गये। उनकी देखा-देखी हिन्दी में भी नाटक लिखे गये। खड्ग बहादुर मल-कृत 'रतिकुसुमायुध' (सं० १९४२); 'महारास' (सं०१९४२), 'बाल विवाह विदूषक' (सं० १९४२), 'कल्पवृक्ष' (सं० १९४३) 'हरितालिका' (सं० १९४४) और 'भारत-ललना' (सं० १९४५) इसी परम्परा के नाटक हैं। बलदेवजी-कृत 'राम-लीला-विजय' (सं० १९४४), देवकी नन्दन त्रिपाठी-कृत 'जय नारसिंह की' (सं० १९३३), 'सीता हरण' (सं० १९३३), 'रुक्मिणी हरण' (सं० १९३३), 'चक्षुदान' (सं० १९३३), 'रक्षा बन्धन' (सं० १९३५), 'रामलीला' (सं० १९३६), 'कंस-बध' (सं० १९३६), 'स्त्री-चरित्र' (सं० १९३६), 'एक-एक के तीन-तीन' (सं० १९३६), 'नन्दोत्सव' (सं० १९३८) 'बाल-विवाह' (सं० १९३८), 'गोवध-निषेध' (सं० १९३८), 'कलियुगी जनेऊ' (सं १९४३), 'कलियुगी विवाह' (सं० १९४९) 'भारत-हरण' (सं० १९५६) आदि भी रंगमंच के लिए लिखे गए नाटक हैं। ऐसे नाटक लिखनेवाले उस समय बहुत थे। इसका प्रमुख कारण पारसी नाट्य-संस्थाओं के रंगमंच का प्रभाव था। इस प्रभाव के फलस्वरूप साहित्यिक नाटक के प्रणयन का कार्य बहुत दिनों तक रुका रहा।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत और बँगला से कई नाटकों के अनुवाद भी हुए। भारतेन्दु के अनूदित नाटकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। रामकृष्ण वर्मा (सं० १९१६-६३) उनके समय के प्रसिद्ध अनुवादक थे। 'कृष्ण कुमारी नाटक', 'पद्मावती नाटक', 'वीर नारी' आदि उनके अनूदित नाटक हैं। अन्त में लाला सीताराम (सं० १९१५-९३) ने संस्कृत से 'मेघदूत' (सं० १९४०), 'कुमार सम्भव' (सं० १९३१), 'नागानन्द' (सं० १९४४) और 'रघुवंश' (सं० १९४९) आदि नाटकों के अनुवाद

प्रस्तुत किये। अनुवाद की यह परम्परा आगे चलकर और भी विकसित हुई।

भारतेन्दु -युग में नाट्य-साहित्य का जितना विकास हुआ उतना कथा-साहित्य का नहीं हो सका। आज हम कथा-साहित्य का जो अर्थ लगाते हैं वह अर्थ भारतेन्दु के पूर्व ग्रहीत नहीं था। इंशाअल्ला-कृत 'रानीकेतकी की कहानी', लल्लूलाल-कृत 'प्रेम-सागर', और सदल मिश्र-कृत 'नासिकेतोपाख्यान' में आधुनिक काल की कथा-कला की बू-बास नही थी। पञ्जाब के उत्साही हिन्दी-सेवक श्रद्धाराम फुल्लौरी (मृ० सं० १९३८) भी 'भगवती' (सं० १९३४) नामक एक उपन्यास लिख चुके थे, परन्तु उसमे भी वह कला नहीं थी। हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक लाला श्रीनिवासदास (सं०१९०८-४४) थे। उन्होने 'परीक्षा-गुरु' (सं० १९३९) नामक उपन्यास लिखा। यही हिन्दी का प्रथम उपन्यास था। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि यह अँगरेज़ी उपन्यासो के अनुकरण में एक कृति है। इसमें उन्होने एक ऐसे बहुत बड़े रईस की कथा ली है जो चारों ओर चाटुकारों से घिरकर पतित हो जाता है। अन्त में वह अपने परिवार के एक अभिभावक-द्वारा सही मार्ग पर आता है। यह कथा आदि से अन्त तक रोचक और कौतूहल-प्रद है। लम्बे-लम्बे उपदेश भी इसमें हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि लेखक ने अँगरेजी उपन्यास-कला के साथ-साथ संस्कृत के कथा-साहित्य की उपदेशात्मक प्रवृत्ति को भी अपनाया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कोई उपन्यास नहीं लिखा। वह उपन्यास की ओर झुके ही थे कि उनका स्वर्ग-वास हो गया। उनके समकालीन बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१-७१) ने दो उपन्यास लिखे : (१) 'नूतन ब्रह्मचारी' (सं० १९४३) और (२) 'सौ जान और एक सुजान' (सं० १९४९)। ठाकुर जगमोहनसिंह (सं० १९१४-५६) ने 'श्यामा स्वप्न' (सं० १९४५) लिखा। 'श्यामा स्वप्न' एक कल्पना-प्रधान उपन्यास है। इसमें श्यामा और श्यामसुन्दर की प्रेम-कथा है। इसके पात्र वास्तविक जगत के नही, स्वप्न-लोक के प्राणी हैं। विध्य

**भारतेन्दु युग का कथा-साहित्य**

भूमि के प्रकृति-चित्रों से यह भरा हुआ है। इसके पश्चात् किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९१२-८९) के उपन्यास आते हैं। वास्तव में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों से ही हिन्दी-उपन्यास का विकास आरम्भ होता है। उन्होंने हिन्दी-उपन्यास की रूप-रेखा का निर्माण और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की है। अपने उपन्यासों के लिए उन्होंने बंगला-उपन्यासों से प्रेरणा ग्रहण की है और ऐतिहासिक, सामाजिक तथा जासूसी उपन्यास लिखे हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'लवङ्गलता' (१९४७), 'स्वर्गीय कुसुम' (१९४७) 'रजिया बेगम' (सं० १९७२) प्रमुख हैं। उन्होंने और भी सैकड़ों उपन्यास लिखे हैं जिनमें ऐय्यारी, तिलिस्म तथा काम-वासना का प्राधान्य है। देवकी नन्दन खत्री (सं० १९१८-७०) ने लगभग बारह उपन्यास लिखे हैं जिनमें से 'चन्द्रकान्ता' (सं० १९४६) विशेष प्रसिद्ध है। उनके उपन्यास कल्पना-प्रधान हैं। घटनाओं के निर्माण और उन्हें संगठित करने में उनकी कला विशेष प्रस्फुटित हुई है। पात्रों में अलौकिक शक्ति भरने में वह आदर्श थे। जमीन-आसमान का कुलावा मिलाने में उनके-जैसा कोई दूसरा लेखक नहीं हुआ। उनके उपन्यासों में इतनी उत्सुकता, इतनी रोचकता और इतनी कुतुहलता है कि उन्हें पढ़ते समय पाठक उन्हीं में लीन हो जाता है। गोपालराम गहमरी (सं० १९२३-२००५) जासूसी उपन्यासों के विशेषज्ञ थे। उनके कई जासूसी उपन्यास निकले। सं० १९४३ से उन्होंने उपन्यास लिखना आरंभ किया। उनके समय में उनके उपन्यासों से सामान्य पाठकों का विशेष मनोरंजन हुआ। अंबिकादत्त व्यास (सं० १९१५-५७)-कृत 'आश्चर्य वृतान्त' (सं० १९५०), और राधाकृष्णदास (स० १९२२-६४) कृत 'निःसहाय हिन्दू' (सं० १९४७) अधिक सफल रहे।

उक्त मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त बंगला और अंगरेजी से भी कई उपन्यासों के अनुवाद हुए। भारतेन्दु ने बंकिम-कृत 'राजसिंह' (स० १९४१); राधाकृष्ण दास ने तारकचन्द्र-कृत 'पतिप्राण', 'स्वर्णलता' और बंकिम-कृत 'राधारानी'; राधाचरण गोस्वामी ने 'सरन कुमारी'

घोष-कृत 'दीप निर्वाण' और 'विरजा', गदाधरसिंह (सं० १६०५-५५) ने बंकिम-कृत 'दुर्गेशनंदिनी' (सं० १६३६); प्रतापनारायण मिश्र ने बंकिम-कृत 'युगलांगुलीय' और 'कपालकुंडला' के हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किये। काशीनाथ शर्मा ने पौराणिक कथाओं के आधार पर 'चतुरसखी', 'सावित्री-सत्यवान', 'दुष्यन्त-शकुन्तला' और 'ध्रुव की तपस्या' शीर्षक उपन्यास लिखे। रामकृष्ण वर्मा ( सं० १६१६-६३ ) ने 'ठग-वृतान्तमाला' (सं० १६४६), 'पुलिस-वृतान्तमाला' (सं० १६४७) 'अकबर' (सं० १६४८) आदि अनूदित उपन्यास लिखे। इस प्रकार मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ अनूदित-उपन्यासों का कार्य भी होता रहा।

**भारतेन्दु-युग का निबंध-साहित्य**

भारतेन्दु-युग में निबन्ध-रचना की परंपरा का भी सूत्र-पात हुआ। हिन्दी-साहित्य के विकास में यह सर्वथा नवीन प्रयास था। इस प्रयास को सफल बनाने मे अँगरेजी-निबन्ध-साहित्य के संस्पर्श का विशेष हाथ था। अँगरेजी साहित्य में पर्याप्त निबन्ध लिखे जा चुके थे। उसी से प्रेरणा प्राप्त कर सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निबंध-रचना का शिलान्यास किया। उन्होंने 'कवि-बचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका,' और 'बालबोधनी' में धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर अनेक निबंध लिखे। उनके निबंधों के शीर्षक होते थे—'हम मूर्तिपूजक हैं,' 'सूर्योदय', 'आँख', 'नाक', 'अपव्यय', 'मित्रता', 'होली', 'भूकम्प' आदि। इन निबन्धों में उनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़, गठी हुई और प्रवाह-युक्त होती थी। उनके समकालीन बालकृष्ण भट्ट भी एक प्रौढ़ निबंधकार थे। 'हिन्दी-प्रदीप' का वह संपादन करते थे और उसमें ही निबंध के रूप में वह अपने विचार व्यक्त करते थे। अपने निबंधों में वह ठोस और विचारपूर्ण सामग्री देते थे। 'सभ्यता और साहित्य', 'कल्पना शक्ति', 'धर्म का महत्त्व', 'संभाषण', 'पैसा,' 'नहीं' आदि निबंधों में उन्होंने स्वच्छन्द और स्वाभाविक ढंग से अपने विचारों का प्रतिपादन किया था। उनकी शैली कहीं व्यंगात्मक, कहीं विचारात्मक, कहीं भावात्मक और कहीं विवरणात्मक होती थी। 'प्रतापनरायण मिश्र'

संपादकीय के रूप में अपने पत्र 'ब्राह्मण' में निबंध लिखा करते थे। उनके निबंधों में भट्टजी की-सी गंभीरता नहीं थी। हास्य और व्यंगपूर्ण निबन्ध लिखने में वह एक थे। गम्भीर विषयो को सरल शैली में व्यक्त करने की कला वह जानते थे। उनका राष्ट्र-प्रेम भी उनके निबन्धों से झलकता था। 'बज्रमूर्ख', 'अपव्यय', 'नास्तिक', 'उपाधि', 'कांग्रेस की जय' 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध', 'भौ' 'युवावस्था' आदि शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने अत्यन्त सुन्दर निबन्ध लिखे थे। देश-दशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयो पर उनकी लेखनी उठती थी। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबन्ध 'आनन्द कादंबिनी' में प्रकाशित होते थे। 'हमारी मसहरी', 'मित्र', 'फाल्गुन', 'परिपूर्ण-पावस' आदि शीर्षक से उन्होंने पद्यात्मक गद्य में निबन्ध लिखे थे। आलोचनात्मक निबन्धो के वह जनक थे। उनके निबन्धो में अलंकारो की छटा होने के कारण कृत्रिमता की मात्रा अधिक रहती थी। किसी बात को घुमा-फिरा कर अलंकारपूर्ण शैली में कहना ही वह जानते थे। इसलिए भट्टजी के समान वह अपने निबन्धों में सफल न हो सके। अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी आदि भी अच्छे निबन्ध लिखते थे। उस युग में निबन्ध-रचना का प्रयास-मात्र था। निबन्ध-लेखक प्रायः अपने पत्रों में ही निबन्ध लिखते थे। वे कवि, नाटककार, निबन्धकार और संपादक—सब एक साथ थे। निबन्ध-रचना वे अपने पत्र की आवश्यकता की पूर्ति-मात्र के लिए करते थे। इसलिए उस युग में निन्बध-कला का जैसा विकास होना चाहिए था, नही हो सका।

**भारतेन्दु-युग का जीवनी-साहित्य**

भारतेन्दु-युग में अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक व्यक्तियो की जीवनियाँ भी लिखी गयीं। इस परम्परा का सूत्रपात भक्ति-काल में ही हो चुका था। नाभादास 'भक्त माल' और वेणीमाधव दास 'गोसाईं चरित' लिख चुके थे। रीति-काल में कवियों का ध्यान विशेषतः लक्षण-ग्रन्थों की रचना की ओर ही रहा। इसलिए उस काल में इसका विकास न हो सका। जीवनी-साहित्य

के लिए जैसी भाषा की आवश्यकता थी उसका उस काल में अभाव था। भारतेन्दु-युग का अभ्युदय होने पर जब गद्य में खड़ीबोली का प्रवेश हुआ तब जिस प्रकार गद्य के अनेक अंगों के प्रसार एवं विकास की ओर साहित्यकारों का ध्यान गया उसी प्रकार जीवनी-साहित्य की ओर भी प्रयास हुआ। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही 'श्री रामानुज स्वामी', 'जयदेव जी', 'सूरदास', 'कालिदास', 'काष्ठ-जिह्वा स्वामी', 'श्री शंकराचार्य', 'श्री वल्लभाचार्य', 'नेपोलियन', 'लार्डलारेंस' आदि के जीवन चरित्र लिखे। जीवन-वृत लेखन की इस परम्परा को देवीप्रसाद मुंसिफ (सं० १९०४-८०) तथा राधाकृष्णदास (सं० १९२२-६४) ने बहुत अधिक बढ़ाया। देवीप्रसाद मुंसिफ ने मीराँ, मानसिंह, मालदेव, उदयसिंह, जसवन्तसिंह, प्रतापसिंह आदि ऐतिहासिक महापुरुषों के और राधाकृष्णदास ने नागरीदास, बिहारीलाल, सूरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि साहित्यिक महापुरुषों के जीवन-वृत्त लिखे। इन जीवन-वृत्तो में ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा नही की गयी। साथ ही विशेष अलौकिक घटनाओं को भी इनमें स्थान नही दिया गया।

हिंदी-साहित्य के विभिन्न अंगों की भाँति भारतेन्दु-युग में संपादन-कला का भी विकास हुआ। अन्यत्र बताया जा चुका हैं कि पादरियों के धर्म प्रचार के विरोध में सर्वप्रथम 'उदन्त मारतण्ड' (सं० १८८३), 'बंगदूत' (सं० १८८२), 'प्रजामित्र' (सं० १८९१), 'बनारस अखबार' (सं० १९०६), 'सुधाकर' (सं० १९०७), 'समाचार-सुधावर्षण' (सं० १९११) आदि समाचार-पत्र प्रकाशित हुए थे। इनमें धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक विषयों की चरचा रहा करती थी। भारतेन्दु-युग में इस परम्परा को विशेष प्रोत्साहन मिला। भारतेन्दु ने स्वयं 'कवि-बचन-सुधा' (सं० १९२५), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' अथवा 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' (सं० १९३०), और 'बालबोधनी' (सं० १९३१) का संपादन किया और उन्हें घाटा सहकर भी निकालते रहे। इसी युग में 'अलमोड़ा अखबार' (सं० १९२८), 'हिंदी-दीप्ति-प्रकाश' (सं० १९२९), 'बिहार-बंधु'

**भारतेन्दु-युग में संपादन-कला का विकास**

(सं० १६२६) 'सदादर्श' (सं० १६३१), 'काशी पत्रिका' (सं० १६३३), 'भारत-बंधु' (सं० १६३३) 'भारत-मित्र' (सं० १६३४), 'मित्र-विलास' (सं० १६३४), 'हिंदी-प्रदीप' (सं० १६३४), 'आर्य-दर्पण' (सं० १६३४), 'सारसुधानिधि' (सं० १६३५),, 'उचित वक्ता' (सं० १६३५), 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' (सं० १६३६), 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' (सं० १६३६), 'आनंद कादंबिनी' (सं १६३८), 'देश-हितैषी' (सं० १६३६), 'दिनकर-प्रकाश' (सं० १६४०), 'धर्म दिवाकर' (सं० १६४०), 'प्रयाग-समाचार' (स० १६४०), 'ब्राह्मण' • (सं० १६४०), 'शुभचिंतक' (सं० १६४०), 'सदाचार-मार्त्तंड' (सं० १६४०), 'दैनिक हिंदुस्तान' (सं० १६४१) 'पीयूष प्रवाह' (स० १६४१), 'भारत-जीवन' (सं० १६४१), 'भारतेन्दु' (सं० १६४१) और 'कवि कुल कुंज दिवाकर' (सं० १६४१) आदि प्रकाशित हुए। इनमें से बहुत कम पत्र-पत्रिकाएँ ही अधिक समय तक चल सकीं। उन दिनों समाचार-पत्रो के प्रति लोगों में विशेष प्रेम नहीं था। इसलिए आर्थिक कठिनाईयाँ बराबर बनी रहती थीं। फिर भी समय-समय पर समाचार-पत्रों का आविर्भाव होता रहा। इन समाचार-पत्रों-द्वारा ही हिन्दी-साहित्य में संपादन-कला का सूत्रपात हुआ। उस समय संपादन-कला अपने शैशव-काल में थी। 'दैनिक हिंदुस्तान' का सम्पादन बहुत सुन्दर होता था। उसके सम्पादक महामना मालवीयजो (सं० १६१८-२००३) थे। 'भारत-मित्र' का संपादन भी अच्छा होता था। मासिक; साप्ताहिक और दैनिक, सभी प्रकार के पत्र निकलते थे और उनमें साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक लेखों के अतिरिक्त समाचार भी रहते थे। समाचार प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती थी। संवाद-दाताओं की बहुत कमी थी। बाहर से भी समाचार कम ही मिल पाते थे। इन सब कठिनाईयो के होते हुए भी सं० १६४६ तक समाचार पत्रों की संख्या १३६ तक पहुँच गयी थी। उनमें से एक त्रैमासिक, ८० मासिक, ३६ पाक्षिक, १७ साप्ताहिक और दो दैनिक पत्र थे। इससे यह अनुमान लगाना सहज है कि दैनिक पत्र पढ़ने की ओर जनता की विशेष रुचि नहीं थी।

भारतेन्दु-युग में समालोचना-साहित्य का भी शिलान्यास हुआ। इस कार्य में हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं से विशेष सहायता मिली। भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' और 'मुद्रा-राक्षस नाटक' में समालोचनाएँ प्रकाशित कीं। इसके पश्चात् प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'ब्राह्मण' में और बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी-प्रदीप' में आलोचनाएँ लिखीं। सं० १९४३ में उन्होंने लाला श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' की 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से समालोचना अपने पत्र में निकाली। उसी वर्ष बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी उसकी समालोचना अपने पत्र 'आनंद-कादंबिनी' में की। उस समय समालोचना का सूत्रपात उक्त दोनों लेखकों-द्वारा ही हुआ था। उनकी आलोचना अधिकतर परिचयात्मक ही होती थी।

**भारतेन्दु-युग का समालोचना-साहित्य**

भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य के साथ-साथ काव्य-साहित्य का भी विकास हुआ। भावना के क्षेत्र में संवत् १९१४ की जन-क्रान्ति के कारण कई नवीन विषयों का समावेश हुआ। रीति-काल के कवियों का संपर्क जनता से छूट गया था। भारतेन्दु-युग के कवियों ने जनता के साथ संपर्क स्थापित किया और उन्होंने उसकी बातें अपनी कविताओं में चित्रित कीं। वे मुख्यतः यथार्थवादी थे। अपने समाज की समस्यायों से वे आँखें नहीं फेर सकते थे। इसलिए उस युग की कविता में भक्ति और शृंगार के साथ-साथ देश-प्रेम और सामाजिक भावना का स्वर भी सुनाई दिया। काव्यगत इस नवीन दृष्टि के सूत्रधार भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। उनके काव्य में भक्ति और शृङ्गार के साथ-साथ देश-प्रेम और सामाजिक समस्याओं का चित्रण हमे सर्वप्रथम दिखाई पड़ा। वह वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित थे। इसलिए उनकी अधिकांश कविताएँ भक्ति-प्रधान और शृङ्गार-प्रधान हैं। उनमें रसखान, घनानंद और मीराँ की पीर तथा सूर की भक्ति-भावना एक साथ मिलती है। लावनियाँ भी उन्होने लिखी हैं और

**भारतेन्दु-युग का काव्य-साहित्य**

बहुत अच्छी लिखी हैं। उर्दू में गज़लें भी वह लिखते थे। उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण लीजिए :—

'हम तो मोल लियो या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ-कुल के, चाकर राधावर के॥'
× × × ×
'अब हम वदि-वदि के अब करिहैं।
जब सब पतितन सों बढ़ि जैहैं, तबहीं भव-जल तरिहैं॥'
× × × ×
'गोपिन की बात कौं बखानौ कहा नन्दलाल,
तेरो रूप रोम-रोम जिनके समायगो।
विरह-बिथा से सब व्याकुल रहत सदा,
'हरीचंद' हाल वाको कौन पै कहायगो॥
आँसुन को प्रलय-पयोधि बूढ़ि जैहैं जबै,
डूबि-डूबि सब ब्रहमंडहू बिलायगो।
पौंड़त फिरौगे आप नीर बीच होय जब,
बिरह-उसासन तैं वट जरि जायगो॥'
× × × ×
'मन्द-मन्द आवै देखो प्रात समीरण।
करत सुगंध चारों ओर विकीरन॥
गात सिहरात तन लागत शीतल।
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल॥'
× × ×
'भारत के भुजबल जन रच्छित।
भारत-विद्या लहि जग सिच्छित॥
भारत-तेज जगत विस्तारा।
भारत-भय कांपत संसारा॥'
× × ×

'चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ ।
लेहु म्यान से खड्ग खींच रन-रंग जमाओ ॥'

भारतेन्दु-युग में वर्णनात्मक काव्य की रचना के लिए बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'कलिकाल तर्पण', 'पितर प्रलाप', 'शोकाश्रु-बिन्दु', 'मंगलाशा' आदि उनकी वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। नवीन विषयों के प्रतिपादन में वह भारतेन्दु से भी आगे हैं। उनका 'शोकाश्रु-बिन्दु' हिन्दी का सर्वप्रथम शोक-काव्य (एलेजी) है। 'जीर्णजनपद' में गोल्ड स्मिथ (सं० १७८५-१८२१) के 'डेज़र्टेड विलेज' का अनुकरण है। खड़ीबोली में भी उन्होंने कविता की है और अच्छी तरह सफल हुए हैं। नवीन छन्दों के प्रयोग भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। लावनियाँ आदि भी उन्होंने लिखी हैं।

'जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ।
सब सुख-सामग्री-पूरित ऋतु सकल समान सुहानी ॥'

× × ×

'हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का ।
समझ अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका ॥
अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती ।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती ॥'

प्रताप नारायण मिश्र 'प्रेमधन' से सर्वथा भिन्न थे। उनके काव्य में गंभीरता नहीं थी। वह काव्य में हास्य और विनोद के जनक थे। जीवन की छोटी-छोटी घटनाओ को लेकर अन्तर्निहित सत्य को हास्य और व्यंग के माध्यम से व्यक्त करने में वह अपने युग के पथ-प्रदर्शक थे। अपने समय के जीवन का उन्होने अध्ययन किया था। राष्ट्रीय भावना से वह ओत-प्रोत थे। उनकी रचनाओ के नमूने लीजिए :—

'चहहु जु साँचौ निज कल्यान। तो सब मिलि भारत-संतान ॥
जपो निरन्तर एक जबान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥'

× × ×

'गैया माता तुमका सुमरों कीरत सबते बड़ी तुम्हारि।
करौ पालना तुम लरिकन कै पुरिखन वैतरनी देउ तारि ॥'

× × ×

'साधो मनुवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया तिनके रूप भुलाना।
छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि गाना ॥'

अंबिकादत्त व्यास भी भारतेन्दु-युग में एक सुलझे हुए कवि थे। उनके काव्य-जीवन का आरंभ 'कविता-वर्द्धिनी-सभा'-द्वारा हुआ था। वह अपनी कविताओं में पाश्चात्य सभ्यता में पले हुए लोगों पर तीक्ष्ण व्यंग करने में बहुत पटु थे। अतुकान्त रचना भी उन्होंने आरंभ की थी, पर उसमें वह विशेष सफल नहीं हुए। अंगरेजी सभ्यता पर उनका व्यंग देखिए :—

'पहिरि कोट-पतलून बूट अरु हैट धारि सिर।
भालू चरबी चरचि लवैंडर को लगाय फिर ॥
नई विदेशी विद्या को ही मानत सर्बस।
संस्कृत के मृदु बचन लगत इनको अति कर्कस ॥'

ठाकुर जगमोहनसिंह प्रकृति के चित्रकार थे। इस प्रकार के काव्य की प्रेरणा उन्हे संस्कृत-काव्य से प्राप्त हुई थी। उन्होंने प्रकृति-काव्य में अपनी जन्म-भूमि के अत्यन्त सुन्दर चित्र उतारे थे। इस दिशा में वह अपने युग के कवियो के पथ-प्रदर्शक थे। 'दण्डकारण्य' का एक भावना-चित्र लीजिए :—

'जहँ गिरि अतिहि उतंग लसत शृंगन मन भाए।
जिनपै बहु मृग चरहिं मिष्ठ तृण नीर लुभाए ॥

सघन वृक्ष तरुलता मिले गह्वर घर उलहत।
जिनमें सूरज-किरन पत्र-रंध्रन नहिं निबहत ॥'

उक्त कवियों के अतिरिक्त विजायानन्द त्रिपाठी (ज० सं० १९१३) विनायक राव (सं० १९१२-८१), राधाचरण गोस्वामी और राधाकृष्णदास भी भारतेन्दु-युग के अच्छे कवि थे। इन कवियों ने काव्य के क्षेत्र में कोई मौलिक अभिव्यंजना नही की। सेवक (सं० १८७२-१९३८), रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह (स० १८८०-१९३६), सरदार (कविता-काल सं० १९२०-५०), ललितकिशोरी (क० क० १९१३-३०), लछिराम (ज० सं० १८९८), गोविन्द गिला भाई (ज० सं० १९०५), नवनीत चौबे (सं० १९१५-८९) आदि ने भी रीति-परपरा में बहुत सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की थीं।

संक्षेप में यही है भारतेन्दु-युग की साहित्यिक प्रगति जिसमें हमें हिन्दी-साहित्य के विकास के सभी चिह्न मिलते हैं। भारतेन्दु-युग भारतेन्दु और उनके मित्रों की हिन्दी-प्रियता और उनके सतत प्रयास एवं निःस्वार्थ सेवा का फल था। उन्होंने एक साथ मिलकर हिन्दी-साहित्य के उत्थान का जो व्रत लिया उसे उन्होंने पूरा किया। नाटक, उपन्यास, निबंध आदि उन्होंने लिखे, पत्रों का संपादन उन्होंने किया, घूम-फिरकर हिन्दी का प्रचार वे करते रहे और यह सब किया उन्होने अपनी कमाई के धन से। हिन्दी-साहित्य के संवर्द्धन, विकास एवं उसकी उन्नति में उनकी सेवाएँ अमूल्य हैं। उन्ही के दिखाए हुए पथ पर हिन्दी-साहित्य आगे बढ़ा है। उनका युग द्विवेदी-युग की प्रशस्त भूमिका है।

---

# १४. द्वितीय उत्थान-काल : द्विवेदी-युग

द्विवेदी-युग की विशेषताएँ

आधुनिक काल के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग (सं० १६२५-५०) हिन्दी-साहित्य का प्रथम उत्थान-काल था। उस युग में पाश्चात्य साहित्य के संस्पर्श से हिन्दी-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग-मात्र हुए। द्विवेदी-युग (सं० १६५०-७५) में उन प्रयोगों को पूर्णता मिली। इसलिए इसे हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य का द्वितीय उत्थान-काल कह सकते हैं। इस द्वितीय उत्थान-काल में हिन्दी-साहित्य के सामने दो आदर्श थे: (१) पाश्चात्य-साहित्य और (२) बंगला-साहित्य। तत्कालीन दिन्दी-साहित्यकारों ने उक्त दोनों आदर्शों का अनुकरण करते हुए अपना स्वतंत्र पथ निर्धारित करने का प्रयत्न किया। उनके सामने न तो हिन्दी-उर्दू के संघर्ष की समस्या थी और न राजनीतिक दाँव-पेंच के मसले। भारतेन्दु-युग में जो साहित्यिक प्रयोग हो चुके थे उन्हें पूर्ण बनाने का ध्येय ही उनके सामने था। इस ध्येय को पूर्ण बनाने में उनके सामने भाषा-संबंधी एक जटिल समस्या थी। गद्य की भाषा खड़ीबोली थी और पद्य की ब्रजभाषा। गद्य और पद्य की भाषा-संबंधी इस विभिन्नता को दूर करना और खड़ीबोली को पद्य की भाषा बनाना द्विवेदी-युग की पहली विशेषता थी।

द्विवेदी-युग की दूसरी विशेषता थी भाषा का संस्कार। भारतेन्दु-युग भाषा के प्रचार का युग था। उस समय जिसने जैसी भाषा चाही वैसी लिखी। भाषा-संबंधी कोई नियंत्रण नहीं था और न उसके दोष दूर करने की ओर किसी का झुकाव था। अशुद्ध, अनगढ़ और प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग भाषा में होते थे और व्याकरण के नियमों की उपेक्षा की जाती थी। भाषा में शक्ति नहीं थी, सौष्ठव नहीं था, प्रवाह नहीं था। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के शब्दों के मेल से वह खिचड़ी-सी हो गयी थी। गंभीर

भावों को वहन करते समय उसके पैर लडखड़ाते जाते थे। द्विवेदी-युग में उक्त सभी दोषों का संस्कार हुआ और भाषा को काव्य एवं गंभीर विषयों के उपयुक्त बनाने की सफल चेष्टा की गयी। आज गद्य और पद्य में हम जिस परिष्कृत खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं वह द्विवेदी-युग की ही देन है।

द्विवेदी-युग की तीसरी विशेषता थी, गद्य-शैली का संस्कार। भारतेन्दु युग में भाषा की भाँति ही शैली भी लेखकों के मन की मौज पर आश्रित थी। प्रत्येक लेखक अपने विषय की शैली का स्वतंत्र निर्माता था। भाषा में शैली के वास्तविक महत्त्व को समझने की क्षमता उस समय अधिक लेखकों में नहीं थी। चलती भाषा में कुछ विचार प्रकट कर देना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। विषय के अनुरूप भाषा-शैली को रूप देने की ओर किसी का ध्यान नहीं था। द्विवेदी-युग में उक्त सभी दोषों को दूर कर विषय के अनुसार शैली की रूप-रेखा निर्धारित की गयी और उसमें ओज, प्रसाद एवं माधुर्य की प्राण-प्रतिष्ठा करने के साथ-साथ भावों तथा विचारों के विषयानुकूल उतार-चढ़ाव पर बल दिया गया। इससे हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की वृद्धि तथा अभिव्यंजना-प्रणाली का विकास हुआ और हिन्दी की गद्य-शैली सशक्त, प्रवाहपूर्ण और स्वाभाविक हो गयी। विराम चिह्नों का प्रयोग भी होने लगा।

द्विवेदी-युग की चौथी विशेषता थी, नवीन साहित्यकारों का निर्माण। भारतेन्दु-युग में लेखकों का निर्माण नही हुआ था। हिन्दी-गद्य और पद्य का निर्माण किन नियमों के अनुसार होना चाहिए—यह उस समय निश्चित नहीं हो सका था। कोई नियम बनाकर अथवा किसी नियम विशेष के अनुसार साहित्य की सृष्टि करना उस समय के साहित्यकारों का लक्ष्य नहीं था। इसलिए जिसने थोड़ी कविता करना और हिन्दी में कुछ लिखना जान लिया वही उस युग का साहित्यकार बन गया। द्विवेदी-युग में इस प्रकार की धांधली नहीं चल सकी। द्विवेदी-युग मे साहित्य-रचना के नियम निश्चित किए गये और उन्हीं नियमों के अनुकूल लेखकों का निर्माण हुआ।

किसी को स्वतंत्र रूप से साहित्य के क्षेत्र में विचरण करने की आज्ञा नहीं मिली। इतनी कठोरता से काम लेने पर भी अनेक लेखक सामने आये। उन्होंने अपने रचना-कौशल से हिन्दी का मस्तक ऊँचा किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त उसी युग की देन हैं।

द्विवेदी-युग की पाँचवीं विशेषता थी, आलोचना-साहित्य का प्रसार। भारतेन्दु-युग में आलोचना का कार्य आरभ अवश्य हो चुका था, पर उसमें विवेचना-शक्ति नहीं थी। द्विवेदी-युग में बिना आलोचना के काम चल ही नहीं सकता था। मुद्रणालयों के खुल जाने, समाचार पत्रों के निकलने और हिन्दी का प्रचार हो जाने से किसी की लेखनी रोकी नहीं जा सकती थी। इसलिए साहित्य-क्षेत्र में घरजानी-मनमानी रोकने के लिए आलोचना से उत्तम कोई अस्त्र नहीं हो सकता था! आलोचना करने में लेखक के जीवन-प्रवाह की आलोचना नहीं, प्रत्युत उसकी रचना की आलोचना की जाती थी। विषय, भाषा और रचना के उद्देश्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इससे हिंदी में कूड़ा-कर्कट एकत्र नहीं हो सका। लेखक अपने विषय के निर्वाचन तथा भाषा-शैली के निर्माण में सजग और सतर्क रहने लगे।

द्विवेदी-युग की छठी विशेषता थी, हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी अंगों का विकास। भारतेन्दु-युग में नाटक, उपन्यास, निबन्ध और कुछ नवीन विषय लेकर काव्य लिखे गये थे। एक प्रकार से साहित्य के उक्त अंगों का वह शिलान्यास-काल था। 'अंगरेजी' और 'बंगला साहित्य' से प्रेरणा पाकर उस समय जिससे जितना बन पडा उसने उतना योग दिया। उनके सामने हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों को संपुष्ट करने की इतनी जागरूक समस्या नही थी, जितनी हिन्दी-भाषा के प्रचार एवं प्रसार की। हिन्दी-भाषा के प्रचार के लिए ही उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों का आश्रय लिया था। द्विवेदी-युग में आते-आते यह आवश्यकता किसी सीमा तक पूरी हो चुकी थी। सं० १६५७ में अंगरेजी सरकार-द्वारा कचहरियो में हिन्दी के प्रवेश की घोषणा होने से भारतेन्दु-युगीन हिन्दी-आन्दोलन का लक्ष्य सफल

हो चुका था। इसलिए द्विवेदी-युग में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों के परिष्कार, संवर्द्धन और विकास की आवश्यकता सामने आयी। इस युग में हिन्दी के प्रायः सभी अंगो को प्रौढ़ता मिली। निबन्ध, उपन्यास, काव्य, जीवन-चरित, समालोचना आदि का अच्छा विकास हुआ। नाटक बहुत कम लिखे गये। कहानी-कला का इसी युग में सूत्रपात हुआ। अनुवाद कार्य की भी पर्याप्त धूम रही। इस प्रकार द्विवेदी युग ने हमें बहुत-कुछ दिया।

**द्विवेदी-युग के साहित्यकार**

द्विवेदी-युग के साहित्यकार भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों से भिन्न थे। भारतेन्दु-युग में साहित्यकारों का अभ्युदय अधिकांश सुसंपन्न घरानों से हुआ था। उनके पास धन था, समय था। द्विवेदी-युग में मध्य वर्ग के साहित्यकार सामने आये और उन्होंने साहित्य की बागडोर अपने हाथ में ली। अपनी जीविका के साथ उन्हें अपने साहित्य की चिंता भी थी। वे अपने दैनिक कार्यों से समय निकालकर साहित्यिक कार्य करते थे। जनता के, जीवन से उनका संपर्क था। देश की माँग से भी वे परिचित थे। राष्ट्रीय आन्दोलन की विचार-धारा से भी वे परिचित थे। सं० १९६१ में बंगाल-विभाजन की योजना के फलस्वरूप जिस राष्ट्रीय चेतना से सम्पूर्ण भारत जागरूक हो उठा था उससे भी वे प्रभावित थे। महात्मा गांधी (सं० १९२६-२००४) की अहिंसात्मक विचार धारा भी उनके हृदय में घर करती जा रही थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने देश और समाज का ध्यान रखते हुए हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति में भाग लिया। उनमें से प्रसिद्ध साहित्यकारों के जीवन एवं कृतित्व के विवरण इस प्रकार हैं :—

(१) **श्रीधर पाठक**—श्रीधर पाठक (सं०१९१६-८५) का जन्म फीरोज़ाबाद के जोंधरी ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० लीलाधर था। आरंभ में उन्होंने सस्कृत पढ़ी और सं० १९३७ में इंट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् सं० १९३८ में कलकत्ता में नौकरी कर ली और धीरे-धीरे उन्नति करके भारत-सरकार के दफ्तर में सुपरिंटेंडेट हो गये। वह काश्मीर भी गये थे और वहाँ से लौटने पर उन्होने 'काश्मीर सुखमा' की रचना

की थी। उनकी इस रचना ने हिन्दी काव्य-धारा को एक नयी दिशा प्रदान की जिसे 'स्वच्छन्दतावाद' अर्थात 'रोमैंटिसिज़्म' कहते हैं। 'आराध्य शोकांजलि', 'श्री गोखले प्रशस्ति', 'श्री गोखले गुणाष्टक', 'काश्मीर-सुखमा', 'वनाष्टक', 'गुमवन्त हेमन्त', 'गोपिका-गीत', 'भारत-गीत', 'जगत सचाई सार', और 'तिलस्माती सुन्दरी' उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने गोल्डस्मिथ ( सं० १७८५-१८३१ )-कृत 'हर्मिट', 'ट्रेवलर', और 'डेज़र्टेड विलेज' नामक काव्यो के अनुवाद क्रमशः 'एकान्तवासी योगी' ( सं० १९४३ ) 'श्रान्त पथिक' और 'उजड ग्राम' के नाम से किए हैं। 'उजड़ ग्राम' की भाषा ब्रजभाषा और शेष की खड़ीबोली है। कालिदास-कृत 'ऋतु संहार' का अनुवाद भी ब्रजभाषा में है।

(२) महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी-युग के सूत्रधार महावीर प्रसाद द्विवेदी ( सं० १९२७-९५ ) का जन्म जिला रायबरेली के अन्तर्गत दौलतपुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम रामसहाय दुवे था। आरंभ में उन्होंने सस्कृत और फिर उर्दू पढ़ी। १८ वर्ष की अवस्था में बम्बई जाकर उन्होंने रेलवे में नौकरी कर ली। रेलवे की नौकरी करते समय ही उन्होंने धीरे-धीरे अंगरेजी, बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू में निपुणता प्राप्त की और संस्कृत के काव्य एवं अलंकार-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया। इससे उनमें साहित्य-सेवा की भावना जागी और वह हिन्दी की ओर झुके। उस समय इंडियन प्रेस, प्रयाग से 'सरस्वती' मासिक पत्र का संपादन श्यामसुन्दर दास ( सं० १९३२-२००२ ) करते थे। द्विवेदीजी इस पत्र में बराबर कुछ-न-कुछ लिखा करते थे। कालांतर में जब श्यामसुन्दर दास 'सरस्वती' के संपादन-भार से मुक्त हो गये तब द्विवेदीजी को वह कार्य सौंपा गया। सं० १९६० से द्विवेदीजी उसका संपादन करने लगे। अपने संपादन काल में द्विवेदीजी ने उसका ही स्तर ऊँचा नही उठाया, अपितु उसके द्वारा हिन्दी-लेखकों का निर्माण, भाषा-शैली का संस्कार और साहित्य के विभिन्न अंगों का विकास किया। वह हिन्दी-भाषा और साहित्य के परिष्कार की एक योजना बनाकर 'सरस्वती' का संपादन करने आए थे। इसलिए अपनी

योजना को सफल बनाने में वह दिन रात जुटे रहे। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आए हुए लेखों का संशोधन करने में उन्हें रात-रात भर जागना पड़ता था, पर वह थकने का नाम न लेते थे। सं० १९७८ में 'सरस्वती' के संपादन भार से मुक्त होने पर वह उसे नहीं भूले और उसके लिए सं १९८६ तक बराबार लेख लिखते रहे। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं : (१) मौलिक और (२) अनूदित। उनके मौलिक ग्रन्थों के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं : (१) गद्य और (२) पद्य। उनके गद्य-ग्रन्थों में 'रसज्ञरंजन' (सं० १९७७), 'साहित्य-सदर्भ' (सं० १९८१) 'कोविद कीर्तन' (सं० १९८४), 'आलोचनांजलि' (सं० १९८५), 'साहित्य-सीकर' (सं० १९८७) और 'विचार विमर्श' (सं० १९८८) अधिक प्रसिद्ध हैं। सं० १९२२ से सं० १९५९ तक उन्होंने जो कविताएँ लिखी उनका सकलन 'काव्य मंजूषा' (सं० १९६०) है। इसके अतिरिक्त 'कविता-कलाप' (सं० १९६६) में उनकी कविताएँ संगृहीत हैं। उनके अनूदित ग्रन्थ भी पद्य और गद्य में हैं। पद्य के अनूदित-ग्रन्थों में 'विनय-विनोद' (स० १९४६), 'स्नेह-माला' (सं० १९४७) 'विहार-वाटिका' (सं० १९४७), 'ऋतु तरंगिणी' (सं० १९४८) और 'कुमार सम्भवसार' (सं० १९५९) हैं। इसी प्रकार उनके प्रमुख अनूदित-गद्य-ग्रंथ हैं—'बेकन-विचार रत्नावली' (सं० १९५६), 'स्वाधीनता' (सं० १९६४), 'हिन्दी महाभारत' (सं० १९६५), 'शिक्षा शास्त्र' (सं० १९६७) 'रघुवंश' (सं० १९६९), 'कुमारसम्भव' (सं० १९७१), 'मेघदूत' (सं० १९७२) और 'किरातार्जुन' (सं० १९७३)। इन अनुवादों-द्वारा द्विवेदीजी ने जहाँ हिन्दी-साहित्य का स्तर ऊँचा उठाया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अँगरेजी-साहित्य की विभिन्न धाराओ के अंधानुकरण से लोगों को सचेत भी किया। काव्य में खडीबोली को प्रतिष्ठा देने वाले वही थे। खड़ीबोली वह अधिकारपूर्वक लिखते थे। उनकी शैली व्यास-शैली थी। एक ही बात को नपे-तुले वाक्यों मे प्रकट करने की कला में वह दक्ष थे। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग वह अधिक करते थे। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद ( योग्यता ) स्वाभाकि होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को कुछ न कुछ अवश्य लाभ पहुँचता है।"

(३) बालमुकुन्द गुप्त—बालमुकुंद गुप्त (सं० १६२२-६४) का जन्म रोहतक ज़िले के गुड़ियाना नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला पूरनमल था। सं० १६३२ से उन्होंने पढ़ना आरम्भ किया। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह उर्दू में लेख लिखने लगे थे। उनके लेख कई उर्दू-मासिक पत्रों में प्रकाशित होते थे। सं० १६४३ में वह मिर्ज़ापुर से प्रकाशित 'अखबारे चुनार' के सम्पादक हुए। इसके पश्चात् सं० १६४५ मे उन्होंने लाहौर से प्रकाशित 'कोहनूर' का सम्पादन किया। उर्दू में वह कविता भी करते थे। संस्कृत और हिन्दी के भी वह ज्ञाता थे। कालाकांकर से प्रकाशित 'हिनुस्थान' में वह प्रायः समाचार भेजा करते थे। धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दी में लेख लिखना भी आरम्भ किया। महामना मालवीय ( सं० १६१८-२००३ ) के प्रभाव से वह उर्दू छोड़कर हिन्दी में आये और 'हिन्दुस्थान' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उस समय वह 'मिस्टर हिन्दी' के नाम से लेख लिखते थे। 'भैंस का स्वर्ग' उनकी सर्वप्रथम हिन्दी रचना थी। सं० १६४६ से सं० १६४६ तक 'हिन्दुस्थान' में कार्य करने के पश्चात् सं० १६५० में वह कलकत्ता से प्रकाशित 'वंगवासी' मे चले गये। सं० १६५५ तक उन्होंने उसमें कार्य किया। इसके पश्चात् वह 'भारत-मित्र' के सम्पादक हुए। कलकत्ता में अधिक दिन तक रहने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। वहाँ से वह दिल्ली गये और वहीं उनका परलोकवास हुआ। अपने सम्पादन काल में उन्होने 'मडेल भगिनी' ( स० १६४६ ), 'हरिदास' ( सं० १६५३ ) और 'रत्नावली नाटिका' ( सं० १६५५ ) अनूदित ग्रंथ लिखे। 'स्फुट कविता' ( सं० १६६२ ), 'शिव शम्भु का चिट्ठा' (सं० १६६३) 'हिन्दी-भाषा' ( सं० १६६५ ) तथा 'चिट्ठे और खत' ( सं० १६६५ ) उनके मौलिक ग्रंथ हैं।

इनमें से अंतिम दोनों ग्रंथ उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी अपने निबंधों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी विनोदशीलता उनके लेखों से प्रकट होती है। सामयिक प्रसंगों पर उनके लेख अत्यंत चुटीले, भावपूर्ण और मार्मिक होते थे। उनकी भाषा सजीव, चलती हुई और प्रवाहमय होती थी। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

**"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रहीं हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छा गया, बूंदें गिरने लगी, साथ ही तड़ तड़ धड़ धड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई।"**

(४) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ( सं० १६२२-२००४) का जन्म आजमगढ़ के अन्तर्गत निजामबाद में हुआ था। सं० १९३६ में मिडिल पास करने के पश्चात स० १९४१ में वह निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में अध्यापक हो गए। सं० १९४४ में उन्होंने नार्मल पास किया। कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् वह कानूनगो हुए और इस पद पर लगभग ३४ वर्ष तक काम करते रहे। नौकरी से मुक्त होने पर स० १९८० से सं० १९९८ तक उन्होंने काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक कार्य किया। फिर वहाँ से आजमगढ़ आकर रहने लगे। अपनी नौकरी के दिनों में ही उन्होंने साहित्य-सेवा का व्रत लिया। निजामाबाद के सिख-गुरु बाबा सुमेरसिंह (सं० १९०४-६०) से प्रेरणा पाकर उन्होंने पहले ब्रजभाषा में रचना आरम्भ की और 'कृष्ण शतक' ( सं० १९२९ ) दोहों में लिखा। इसके पश्चात् द्विवेदीजी के प्रभाव से वह खड़ीबोली में कविता करने लगे। खड़ीबोली के लिए पहले उन्होंने उर्दू-छन्दों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, पर बाद को वह संस्कृत-छन्दों और संस्कृत की पदावली लेकर आगे बढ़े। इस प्रभाव के अन्तर्गत उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' (स०१९७१) नामक भाव-व्यञ्जनात्मक एवं वर्णनात्मक महाकाव्य की रचना की। इसके

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद (योग्यता) स्वाभाकि होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को कुछ न कुछ अवश्य लाभ पहुँचता है।"

(३) बालमुकुन्द गुप्त—बालमुकुंद गुप्त (सं० १९२२-६४) का जन्म रोहतक ज़िले के गुडियाना नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम लाला पूरनमल था। सं० १९३२ से उन्होने पढ़ना आरम्भ किया। अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह उर्दू में लेख लिखने लगे थे। उनके लेख कई उर्दू-मासिक पत्रो में प्रकाशित होते थे। सं० १९४३ में वह मिर्ज़ापुर से प्रकाशित 'अखबारे चुनार' के सम्पादक हुए। इसके पश्चात् सं० १९४५ में उन्होंने लाहौर से प्रकाशित 'कोहनूर' का सम्पादन किया। उर्दू में वह कविता भी करते थे। सस्कृत और हिन्दी के भी वह ज्ञाता थे। कालाकांकर से प्रकाशित 'हिनुस्थान' में वह प्रायः समाचार भेजा करते थे। धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दी में लेख लिखना भी आरम्भ किया। महामना मालवीय (सं० १९१८-२००३) के प्रभाव से वह उर्दू छोड़कर हिन्दी में आये और 'हिन्दुस्थान' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उस समय वह 'मिस्टर हिन्दी' के नाम से लेख लिखते थे। 'भैंस का स्वर्ग' उनकी सर्वप्रथम हिन्दी रचना थी। सं० १९४६ से सं० १९४९ तक 'हिन्दुस्थान' में कार्य करने के पश्चात् सं० १९५० में वह कलकत्ता से प्रकाशित 'वंगवासी' में चले गये। सं० १९५५ तक उन्होंने उसमें कार्य किया। इसके पश्चात् वह 'भारत-मित्र' के सम्पादक हुए। कलकत्ता में अधिक दिन तक रहने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। वहाँ से वह दिल्ली गये और वही उनका परलोकवास हुआ। अपने सम्पादन काल में उन्होने 'मडेल भगिनी' (सं० १९४६), 'हरिदास' (सं० १९५३) और 'रत्नावली नाटिका' (सं० १९५५) अनूदित ग्रंथ लिखे। 'स्फुट कविता' (स० १९६२), 'शिव शम्भु का चिट्ठा' (सं० १९६३) 'हिन्दी-भाषा' (सं० १९६५) तथा 'चिट्ठे और खत' (सं० १९६५) उनके मौलिक ग्रंथ हैं।

**वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर हाय पैसा, हाय पैसा, करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है।"**

(६) माधवप्रसाद मिश्र—माधवप्रसाद मिश्र (सं० १६२८-६४) का जन्म हिसार जिला के अन्तर्गत भिवानी के निकट कूंगड़ ग्राम में हुआ था। वह बड़े तेजस्वी और सनातन-धर्म के कट्टर समर्थक थे। कुछ दिनों तक उन्होंने 'वैश्योपकारक' पत्र का संपादन किया था। सं० १६५७ में जब 'सरस्वती' का प्रवेश हिन्दी-संसार में हुआ तब उन्होंने देवकीनन्दन खत्री (सं० १६१८-७०) की सहायता से काशी से 'सुदर्शन' नामक पत्र निकलवाया। इसके सम्पादन-काल में उन्होंने कई लेख लिखे। उनके निबन्धों में धार्मिक छटा के साथ-साथ देश-प्रेम की भावना भी रहती थी। उनकी शैली अत्यन्त शुद्ध, प्रभावशाली और प्रवाहमय होती थी। पर्व-त्योहार, उत्सव, तीर्थ-स्थान, यात्रा, राजनीति, धर्म, देश-प्रेम आदि सभी विषयों पर वह भावात्मक शैली में बहुत-सुन्दर निबन्ध लिखते थे। 'सब मिट्टी हो गया' शीर्षक निबन्ध से उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

**"अच्छा माँ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुन्धरा' किसने रखा? यह नाम तो उस समय का है। यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन, आदि सुसन्तनों का दिया हुआ है। जाने वह तुम्हारे पुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे।"**

(७) रामचरित उपाध्याय—रामचरित उपाध्याय (सं० १६२६-६५) का जन्म गाजीपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० रामप्रपन्न (मृ० सं० १६४४) था। आरम्भ में उन्होने अपने पिता से संस्कृत पढ़ी। इसके पश्चात् उन्होंने काशी में रहकर आचार्य के दो खण्ड पास किये। सं० १६६१ में वह काशी से अपनी पितृ-भूमि महाराजपुर, आजमगढ़ आये और हिन्दी में कविता करने लगे। पहले वह होली, कजली, चैती आदि लिखते थे। सं० १६६३ तक उन्होंने पुरानी बोली में 'विजयी वसन्त', 'श्रावण-शृङ्गार,' 'सुधा-शतक' आदि कई ग्रन्थ लिखे। सं० १६६२ से उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। खड़ीबोली में

पश्चात् वह पुनः बोलचाल की भाषा की ओर पलटे और 'चोखे चौपदे' (सं० १९८१) की रचना की। इनके अतिरिक्त 'प्रद्युम्न-विजय' नाटक (सं० १९५०), 'प्रेमकान्ता' उपन्यास (सं० १९४१), 'रुक्मिणी-परिणय' नाटक (सं० १९४१) 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास (सं० १९५६), 'रसिक-रहस्य' (सं० १९५६) 'प्रेमाम्बु-वारिध' (सं० १९५७), 'प्रेमप्रपंच' (सं० १९५७), 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण' (सं० १९५८), 'प्रेमाम्बु प्रवाह' (सं० १९५८), 'प्रेमपुष्पहार' (सं० १९६१), उद्‌बोधन (सं० १९६३), 'अधखिला फूल' उपन्यास (सं० १९६४), 'काव्योपवन' (सं० १९६६), 'कर्मवीर' (सं० १९७२ ), 'पद्य-प्रमोद' (सं० १९७४), 'बाल विनोद' (सं० १९७४), 'ऋतुमुकुर' (सं० १९७४), 'विनोद वाटिका' (सं० १९७९) आदि ग्रन्थों की रचना की। उनकी भाषा के तीन रूप उनके तीन ग्रन्थों में मिलते हैं। 'प्रिय-प्रवास' में उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित, 'चौपदों' में उनकी भाषा मुहावरेदार और 'रस-कलस' में उनकी भाषा ब्रजभाषा है। हिंदी-काव्य के उत्थान में उनका प्रमुख स्थान है और वह काव्य में अपने भाषा-प्रयोग के लिए प्रसिद्ध हैं।

(५) गोपालराम 'गहमरी'—गोपाल राम 'गहमरी' (सं० १९२३-२००५) का जन्म गहमर, जिला गाज़ीपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम रामनारायण था। सं० १९२६ में उन्होंने मिडिल और सं० १९४५ में नार्मल की परीक्षा पास की। कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य करने के पश्चात् वह 'भारत-मित्र' का संपादन करने कलकत्ता गये। फिर गहमर आकर 'जासूस' नामक पत्र निकालने लगे। यह पत्र सं० १९५७ से सं० १९९६ तक निकलता रहा। उन्होंने २०० से अधिक उपन्यास लिखे। कविता भी वह करते थे। 'वसंत विकास' (सं० १९५१) उनका काव्य-ग्रंथ है। उपन्यासों की रचना के पश्चात् उन्होने पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध भी लिखे। निबन्धों में उनकी भाषा अत्यन्त चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरञ्जक होती थी। 'ऋद्धि और सिद्धि' शीर्षक निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए :—

"बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बाँस लिये हुये बरहे पर दौड़ते समय हाय पैसा, हाय पैसा, करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी

(ज० सं० १९३८) का जन्म झालरापाटन नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम भट्ट ब्रजेश्वरी था। उनकी शिक्षा झालरापाटन, जयपुर और काशी में हुई थी। वह संस्कृत और हिन्दी में लेख लिखते थे। 'सरस्वती' में भी उनके लेख प्रकाशित होते थे। राजपूताना से निकलनेवाले 'विद्या भास्कर' नामक पत्र का सपादन भी उन्होंने किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर (सं० १९१७-९८) कृत 'गीतांजलि' का अनुवाद हिन्दी-पद्यों में उन्होने किया था। शुद्ध खड़ीबोली के कुछ कवित्त भी उन्होने लिखे थे। उनकी रचनाएँ अधिकांश इतिवृत्तात्मक होती थीं।

(१०) सरदार पूर्णसिंह—सरदार पूर्णसिंह (स० १९३८-८८) का जन्म सीमाप्रान्त के ऐबटाबाद के अन्तर्गत एक गाँव में हुआ था। बी० ए० पास करने के पूर्व ही वह राजकीय छात्रवृत्ति पाकर सं० १९५७ में जापान गये। वहीं स्वामी रामतीर्थ से उनकी भेंट हुई और वह उनके शिष्य हो गये। भारत आकर उन्होने इम्पीरियल फारेस्ट इंस्टीट्यूट में नौकरी कर ली। कालांतर में उन्होंने यह नौकरी छोड़ दी और पंजाब के जडांवाला ग्राम में रहकर कृषि-कार्य करने लगे। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था और वह बहुत सुन्दर तथा चुस्त निबंध लिखते थे। उनके केवल पाँच निबन्ध मिलते हैं, पर अपने इतने निबंधों के कारण ही वह हिन्दी-साहित्य में अमर हैं। उनकी भाषा-शैली सरल, प्रवाह युक्त लाक्षणिकतापूर्ण और भावना-प्रधान होती है। एक उदाहरण लीजिए :—

**"जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल-कुदाल और खुरपा लेकर काम न करेंगे तब तक उनका मन और बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका अध्ययन बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"**

(११) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सं० १९४०-७९) का जन्म जयपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० शिवराम था और उन्हीं से उन्होने संस्कृत पढ़ी। इसके पश्चात् प्रयाग-विश्वविद्यालय से

वह अत्यन्त सुन्दर रचना करते थे। उनकी कविताओं में भावुकता भरी रहती थी। 'सूक्ति-मुक्तावली', 'राष्ट्र-भारती', 'देवी द्रौपदी', 'भारत-भक्ति' आदि उनके खड़ीबोली के काव्य-ग्रन्थ हैं।

(८) डा० श्यामसुन्दर दास—श्यामसुन्दर दास (सं० १६३२-२००२) का जन्म काशी के एक खत्री-परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम देवीदास था। सं० १६५४ में उन्होंने स्थानीय क्विंस कालेज से बी० ए० पास किया और सं० १६५६ में काशी हिन्दू स्कूल में अध्यापक हो गये। वह अनन्य हिन्दी-प्रेमी थे। इंटर मीडिएट कक्षा मे पढ़ते समय ही उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' (सं० १६५०) को जन्म दिया। सं० १६५६ में पिता की मृत्यु हो जाने से उन्हें आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। सं० १६७० से सं० १६७८ तक वह लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। इसके पश्चात् वह काशी विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक (सं० १६७८) हो गये। सं० १६६४ में उन्होंने अपने इस पद से अवकाश ग्रहण किया। उन्होंने कई पुस्तको की रचना की जिनमें से 'साहित्यालोचन' (सं० १६८०), 'हिन्दी भाषा का विकास' (सं० १६८१) 'भाषा-विज्ञान' (सं० १६८१), 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (सं० १६८७), 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (सं० १६८८), 'तुलसीदास' (सं० १६६८) और 'मेरी आत्मकथा (सं० १६६६) विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्होंने प्रायः आलोचना-साहित्य ही लिखा है। उनकी भाषा ठोस, भावुकता-विहीन, निरलंकृत और आडम्बर-शून्य है। लोकोक्तियो और मुहावरो का प्रयोग भी उसमें कम हुआ है। उनकी शैली आलोचनात्मक है। एक उदाहरण लीलिए :—

**"वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुन्दर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेह-लीला करते अंकित की गयी है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रज-निवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।"**

(६) गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'—गिरिधर शर्मा 'नवरत्न'

में वह बेजोड़ थे। उन्होंने अंगरेजी और बंगला से कई पुस्तकों का अनुवाद किया था। 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा', 'आदर्श जीवन' (सं० १९७१), 'विश्व प्रपंच', 'मेगास्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन', 'कल्पना का आनन्द', 'शशांक' और 'बुद्ध चरित'। (सं० १९७९) उनके अनूदित ग्रंथ हैं। उनके मौलिक ग्रंथों में 'चारण विनोद' (सं० १९५८) उनकी सर्वप्रथम रचना है। इसके पश्चात् 'राधाकृष्ण दास' (स० १९७०), 'चिन्तामणि दो भाग', 'त्रिवेणी', 'रस मीमांसा' और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सं० १९८७) का स्थान है। 'भ्रमरगीत सार', 'भारतेन्दु-साहित्य', 'तुलसी-ग्रन्थावली' (सं० १९७७) और 'जायसी ग्रन्थावली' (सं० १९७२) उनके संपादित ग्रंथ हैं। 'हिन्दी-शब्द-सागर' का सपादन भी उन्होंने किया है। उनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़, परिष्कृत, व्याकरण-परक और साहित्यिक है। उनकी व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में भी पाई जाती है। उन्होंने अपनी भाषा को विभिन्न विषयो के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। उनके निबंध निगमन शैली में लिखे गए हैं। उनकी शैली का उदाहरण लीजिए :—

**"हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों वा एक हीं रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है।"**

(१३) लोचनप्रसाद पाण्डेय—लोचनप्रसाद पाण्डेय ( ज० सं० १९४३ ) का जन्म बिलासपुर के बालपुर नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम प० चिन्तामणि पाण्डेय था। सं० १९६२ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा पास की। घर पर उड़िया, बंगला और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। सं० १९६१ से उन्होंने लिखना आरंभ किया। उड़िया और हिन्दी में उनकी कविताएँ बड़ी सरस होती थीं। 'दो मित्र',

सं० १९६० में उन्होंने बी० ए० पास किया। कुछ समय तक काशी-विश्व-विद्यालय के संस्कृत-कालेज के अध्यापक रहे। 'समालोचक' का सम्पादन भी उन्होंने किया। स्थायी रूप से उन्होने हिन्दी में कुछ लिखने की चेष्टा नहीं की। 'पुरानी हिन्दी' और 'शिशुनाग मूर्तियों' पर लिखे हुए उनके लेख आज भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी-जगत में उनकी तीन कहानियाँ प्रसिद्ध है—'सुखमय जीवन', 'उसने कहा था' और 'बुद्ध का कांटा'। 'अंक' भाषा संबंधी एक रचना है जो सं० १९६२ में प्रकाशित हुई थी। बस, यही उनकी रचनाएँ हैं और इनके कारण ही वह अमर हैं। उनकी भाषा ठोस, अर्थव्यंजक और भाव-व्यंजक थी। चुटकी लेने में वह बहुत निपुण थे। इसलिए उनकी भाषा में प्रसंग-गर्भत्व भी रहता था। शैली की जो विशिष्टता और अर्थ-गर्भित-वक्रता उनमें मिलती है वह अन्य किसी लेखक मे नहीं मिलती। उनकी शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

**"हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। सुरपुर में अफ़वाह पहुँची। बस, इन्द्र ने किवाड़ बन्द कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बन्द कर लीं। यह कछुआ-धरम का भाई शुतुरमुर्ग-धर्म है।"**

(१२) रामचन्द्र शुक्ल—रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१-९७) का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० चन्द्रबली शुक्ल था। कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में एफ० ए० तक पढ़ने के पश्चात् उन्होंने नौकरी की और कुछ दिन करके छोड़ दी। सं० १९६६-६७ में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने उन्हें 'हिन्दी-शब्द-सागर' में काम करने के लिए बुलाया। वह काशी गये। काशी में उन्हें अपनी प्रतिभा को विकसित करने का अच्छा अवसर मिला। आठ-नौ वर्ष तक उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन किया। कोश का कार्य समाप्त होने पर काशी विश्व-विद्यालय में उनकी नियुक्ति हुई। सं० १९९४ में श्यामसुन्दर दास के अवकाश ग्रहण करने पर वह हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हुए। उन्होंने कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं। आलोचना और निबन्ध लिखने

मे नौकरी की। ६-७ वर्ष नौकरी करके वह हरदुआगंज चले गये और वहीं चिकित्सा-कार्य करने लगे। कविता करने का अभ्यास उन्हें आरंभ से ही था। कविता में वह अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करते थे, पर जब द्विवेदीजी के प्रयत्न से काव्य-रचना में खड़ी बोली का प्रवर्तन हुआ तब वह खडीबोली में रचना करने लगे। खड़ी बोलो में भी उनकी रचनाएँ बडी सुन्दर होती थी। 'शंकर-सरोज', 'अनुराग-रत्न', 'गर्भरण्डा रहस्य' (सं० १९७६) और 'वायस-विजय' उनके प्रकाशित काव्य-ग्रन्थ हैं।

(२) लाला भगवानदीन—लाला भगवानदीन (सं० १९२३-८७) का जन्म फतेहपुर जिला के बरबर ग्राम मे हुआ था। आरंभ में उन्होंने उर्दू- फारसी पढ़ी। इसके पश्चात् प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में एफ० ए० तक पढ़कर पढ़ना छोड़ दिया। स० १९५१ से सं० १९६४ तक बुंदेल-खण्ड के अन्तर्गत छत्रपुर के स्कूल में अध्यापन-कार्य करके वह काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में उर्दू के अध्यापक हुए। 'नागरी प्रचारिणी-सभा' में जब कोश-निर्माण का कार्य होने लगा तब उसमें सहयोग देने के लिए उन्होने अध्यापन-कार्य त्याग दिया और उसके सहायक संपादक हो गये। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था। प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों का उनके-जैसा अध्ययन किसी का नहीं था। वह एक पाठशाला भी चलाते थे। उस विद्यालय में काशी के अनेक नवयुवको ने उनसे हिन्दी की शिक्षा पाई थी। कविता भी वह अपने ढंग की करते थे। 'वीरबालक' और 'वीरछत्राणी' उनकी रचनाएँ हैं।

(३) जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १९२३-८९) का जन्म काशी में हुआ था। उनके पिता पुरुषोत्तमदास फारसी तथा हिन्दी-काव्य के बहुत प्रेमी थे। उनके प्रभाव से रत्नाकरजी भी हिन्दी-काव्य की ओर झुके। सं० १९४९ में उन्होंने काशी विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया। इसके पश्चात् पहले उन्होंने कुछ दिनो तक आवागढ़ में नौकरी की, फिर सं० १९५९ में अयोध्या-नरेश प्रतापनारायण सिंह के

'नीति कविता', 'बालिका-विनोद' 'माधव-मंजरी', 'पद्य पुष्पांजलि', 'रघुवंश-सार' आदि उनकी रचनाएँ हैं।

(१४) मैथिलीशरण गुप्त—मैथिलीशरण गुप्त (जं० सं० १९४३) का जन्म चिरगाँव, जिला झाँसी में हुआ था। उनके पिता का नाम सेठ रामचरण था। उन्होंने घर पर ही हिन्दी-साहित्य का अध्ययन किया और कालांतर में कविता करने लगे। जब वह द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये तब उनकी रचनाएँ सं० १९६३ से 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। द्विवेदीजी उनके काव्य-गुरु थे। उन्हीं से प्रेरणा पाकर वह काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े। पहले उन्होंने 'रंग में भंग' (सं० १९६६) एक छोटा-सा प्रबन्ध काव्य लिखा, लेकिन हिन्दी-जगत में उनकी कीर्ति 'भारत-भारती' (सं० १९६९) के कारण फैली। इसमें उर्दू-कवि हाली (सं० १८९४-१९७१) कृत 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयो की भूत और वर्तमान दशाओं की विषमता का चित्रण किया गया था। 'जयद्रथ वध' (सं० १९६७), 'पद्य-प्रबंध' (सं० १९६९) 'तिलोत्तमा' पद्य-बद्ध रूपक (सं० १९७३), 'चन्द्रहास' पद्य-बद्ध रूपक (सं० १९७३); 'किसान' (सं० १९७४) आदि उनकी इस युग की कृतियाँ हैं। इन सभी कृतियों में उन्होंने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को स्थान दिया है। उनकी शैली वर्णनात्मक है और इसमें उनको विशेष सफलता मिली है।

द्विवेदीजी के प्रभाव से जो कवि और लेखक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में आये उनके अतिरिक्त अनेक कवि ऐसे भी थे जो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार साहित्य सृष्टि कर रहे थे। उनमें प्रमुख थे रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', नाथूरामशंकर 'शर्मा', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी', सत्यनारायण 'कविरत्न', भगवानदीन आदि। यहाँ उनके जीवन और कृतित्व की संक्षेप में चर्चा की जाती है :—

(१) नाथूराम 'शंकर' शर्मा—नाथूराम 'शंकर' शर्मा (सं० १९१६-८९) का जन्म अलीगढ़ जिला के हरदुआगंज मे हुआ था। उनके पिता का नाम रूपराम शर्मा था। पढ़ाई समाप्त करके उन्होंने कानपुर के नहर-विभाग

मे नौकरी की। ६-७ वर्ष नौकरी करके वह हरदुआगंज चले गये और वहीं चिकित्सा-कार्य करने लगे। कविता करने का अभ्यास उन्हें आरंभ से ही था। कविता में वह अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करते थे, पर जब द्विवेदीजी के प्रयत्न से काव्य-रचना में खड़ी बोली का प्रवर्तन हुआ तब वह खड़ीबोली में रचना करने लगे। खड़ी बोली में भी उनकी रचनाएँ बड़ी सुन्दर होती थी। 'शंकर-सरोज', 'अनुराग-रत्न', 'गर्भरण्डा रहस्य' (सं० १९७६) और 'वायस-विजय' उनके प्रकाशित काव्य-ग्रन्थ हैं।

(२) लाला भगवानदीन—लाला भगवानदीन (सं० १९२३-८७) का जन्म फतेहपुर जिला के बरबर ग्राम में हुआ था। आरंभ में उन्होंने उर्दू- फारसी पढ़ी। इसके पश्चात् प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में एफ० ए० तक पढ़कर पढ़ना छोड दिया। सं० १९५१ से स० १९६४ तक बुंदेल-खण्ड के अन्तर्गत छत्रपुर के स्कूल में अध्यापन-कार्य करके वह काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में उर्दू के अध्यापक हुए। 'नागरी प्रचारिणी-सभा' में जब कोश-निर्माण का कार्य होने लगा तब उसमें सहयोग देने के लिए उन्होने अध्यापन-कार्य त्याग दिया और उसके सहायक संपादक हो गये। हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम था। प्राचीन हिन्दी-ग्रन्थों का उनके-जैसा अध्ययन किसी का नहीं था। वह एक पाठशाला भी चलाते थे। उस विद्यालय में काशी के अनेक नवयुवकों ने उनसे हिन्दी की शिक्षा पाई थी। कविता भी वह अपने ढंग की करते थे। 'वीरबालक' और 'वीरछत्राणी' उनकी रचनाएँ हैं।

(३) जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'—जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १९२३-८९) का जन्म काशी में हुआ था। उनके पिता पुरुषोत्तमदास फारसी तथा हिन्दी-काव्य के बहुत प्रेमी थे। उनके प्रभाव से रत्नाकरजी भी हिन्दी-काव्य की ओर झुके। सं० १९४९ में उन्होंने काशी विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया। इसके पश्चात् पहले उन्होंने कुछ दिनो तक आवागढ़ में नौकरी की, फिर सं० १९५९ में अयोध्या-नरेश प्रतापनारायण सिंह के

प्रायवेट सेक्रेट्री हो गये और उनकी मृत्यु (सं० १६६३) होने पर भी वह इसी पद पर अपनी मृत्यु तक कार्य करते रहे। वह हिन्दी-काव्य-मर्मज्ञ और व्रजभाषा के उच्च श्रेणी के कवि थे। उनकी कविता अत्यंत सरस और भाव-व्यंजक होती थी। उनके काव्य-ग्रंथों में 'हिंडोला' (सं० १६५१), 'हरिश्चन्द्र', (सं० १६५६) 'कल-काशी', 'साहित्य-रत्नाकर', 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (सं० १६५४), 'गंगालहरी', 'गंगा विष्णुलहरी', 'रत्नाष्टक,' 'वीराष्टक,' 'देवाष्टक', 'उद्धवशतक' (सं० १६८८) और 'गंगावतरण' (सं० १६८५) का स्थान है। 'बिहारी' के दोहों की टीका करके उन्हों 'बिहारी-रत्नाकर' नामक ग्रंथ भी लिखा था। 'समालोचनादर्श' उनकी अनूदित रचना है। इनके अतिरिक्त चन्द्रशेखर (सं० १८५५) कृत 'हम्मीरहठ', कृपाराम-कृत 'हिततरङ्गिणी' ( सं० १५६८ ) और दूलह (जं० सं० १७६१) कृत 'कवि-कुल-कंठाभरण' का सम्पादन किया है।

(४) राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (सं० १६२५-७२) का जन्म जबलपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम राय वंशीधर था। बी० ए० पास करने के पश्चात् उन्होने एल० एल० बी० पास किया और फिर जबलपुर में वकालत करने लगे। वहाँ वकालत न चलते देख वह कानपुर चले गये। कानपुर में उनकी वकालत खूब चली। हिन्दी-काव्य से उन्हें विशेष प्रेम था। उनके यहाँ प्रति सप्ताह कवियों का जमाव होता था। इससे उत्साहित होकर उन्होंने 'रसिक वाटिका' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली थी। फुटकल कविताओं के अतिरिक्त उनके दो ही ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं—एक 'चन्द्रकला भानुकुमार नाटक' (सं० १६६१) और दूसरा 'धाराधर धावन'। 'धाराधर धावन' कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद है। इसके नाम से ही उनकी अनुप्रास-प्रियता प्रकट होती है। पहले वह व्रजभाषा में कविता करते थे, पर जब खड़ीबोली में कविता होने लगी तब उन्होने भी उसमें कविता करना आरम्भ किया। 'स्वदेशी' और देशोद्धार' पर भी उन्होने कविताएँ कीं।

(५) गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

(ज० सं० १६४०) का जन्म उन्नाव जिला के हड्हा नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम अवसेरी लाल शुक्ल था। सं० १६५४ में उन्होने वर्नाक्यूलर फाइनल की परीक्षा पास की और लाला गिरधारी लाल श्रीवास्तव के सत्सङ्ग से कविता करने लगे। उर्दू में वह अच्छी कविता करते थे। उनकी हिन्दी-कविताएँ तत्कालीन कविता-सम्बन्धी मासिक पत्रो में प्रकाशित होती रहती थीं। कभी-कभी 'सरस्वती' में भी उनकी रचनाएँ छपती थी। वह पुरानी और नयी दोनो ढङ्ग की कविताएँ लिखते थे। 'प्रेम पचीसी', 'कुसुमांजलि' और 'कृषक-क्रन्दन' नाम की उनकी तीन काव्य-पुस्तकें मिलती हैं।

(६) सत्यनारायण 'कविरत्न'—सत्यनारायण 'कबिरत्न' (सं० १६ ४१-७५) का जन्म अलीगढ़ में हुआ था। पिता की असामयिक मृत्यु के कारण उनकी मौसी ने उनका पालन-पोपण किया। कुछ दिनो पश्चात् जब वह उनके स्नेह से भी वंचित हो गये तब उन्होंने बाबा रघुनाथजी की सहायता से बी० ए० (सं० १६६७) तक शिक्षा प्राप्त की। कविता से उन्हें विशेष प्रेम था और वह उसी ओर झुके। वह ब्रजभाषा और खड़ीबोली में कविता करते थे। उनकी रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर होती थीं। उनके दो अनूदिन नाटक मिलते हैं जिनमें से एक है 'उत्तर रामचरित' (सं० १६७०) और दूसरा है 'मालती-माधव' (सं० १६७५)। उनकी कई पुस्तके अप्रकाशित हैं।

(७) मन्नन द्विवेदी—मन्नन द्विवेदी (सं० १६४२-७८) का जन्म गोरखपुर के गजपुरी ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० मातादीन द्विवेदी था। सं० १६६५ में उन्होंने गवर्नमेंट क्वींस कालेज, बनारस से बी० ए० की परीक्षा पास की और फिर आजमगढ़ में तहसीलदार हो गये। कविता की ओर उनकी रुचि आरम्भ से ही थी। 'बन्धु-विनय' और 'धनुष-भङ्ग' उनके काव्य-ग्रन्थ और 'रणजीत सिंह का जीवन चरित', 'आर्य-ललना' 'गोरखपुर-विभाग के कवि', 'भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष', 'रामलाल' (सं० १६-७४, तथा 'कल्याणी' (सं० १६७८) नामक उपन्यास और 'मुसलमानी राज का इतिहास' दो भाग उनके गद्य-ग्रन्थ हैं।

उक्त कवियों और लेखकों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में शिवनन्दन

सहाय (सं० १९२२-८६), माधवराव सप्रे (सं० १९२६-८८), कामता प्रसाद गुरु (सं० १९३२-२००५), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (सं० १९३२-९६), रामदास गौड़ (सं० १९३८ ९४), ज्वालादत्त शर्मा (ज० सं० १९४५) रामचन्द्र वर्मा (जं० स० १९४६) आदि भी अच्छे साहित्यकार थे।

नाट्य-साहित्य का विकास

द्विवेदी-युग के साहित्यकारो और उनकी रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उस युग में मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गये। भारतेन्दु-युग के अन्त में किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९२२-८९) ने जो नाटक लिखे थे उनमें नाम मात्र के लिए नाटकत्व था। द्विवेदी-युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'रुक्मिणी परिणाय' (सं० १९५१) और 'प्रद्युम्न विजय' (सं० १९५०) नामक जो दो नाटक लिखे उनमें भी नाटक-कला का सर्वथा अभाव था। ज्वालाप्रसाद मिश्र, कृत 'सीता बनवास' (सं० १९५२) और 'रामलीला रामायण' (सं० १९६१); बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'नन्दविदा' (सं० १९५७), 'लल्लाबाबू' (सं० १९५७), 'विचित्र विनोद' (स० १९५९), 'नवीन तपस्विनी' (सं० १९५९), 'असत्य संकल्प' (सं० १९५९). 'राजा ययाति' (सं० १९५९), और 'मीरॉबाई (सं० १९५९); चन्द्री दीन दीक्षित-कृत 'सीता हरण' (स० १९५२) और 'सीता स्वयंवर' (सं० १९५२); शिवनन्दन सहाय (सं० १९२२-८९) कृत 'सुदामा नाटक' (सं० १९६४); राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (सं० १९२५-७२) कृत 'चन्द्रकला भानुकमार' (सं० १९६१); देवदत्त शर्मा-कृत 'वाल-विवाह नाटक' (सं० १९५४); जीवानन्द शर्मा काव्यतीर्थ-कृत 'भारत-विजय' (सं० १९६४), 'भीष्म प्रतिज्ञा' (सं० १९६५), 'बाबा का व्याह' (सं० १९७०), 'छूत का भूत' (सं० १९७०), और 'आदर्श विवाह' (सं० १९७०); बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'कुरु-वन-दहन' (सं० १९६९), 'चुंगी की उम्मेदवारी' (सं० १९७१) 'मेम्बरी की धूम' (सं० १९७१) और 'चन्द्रगुप्त' (सं० १९७२) आदि भी साधारण रचनाएँ सिद्ध हुईं। माधव शुक्ल-कृत 'महाभारत' (सं० १९७२); आनन्द प्रसाद खत्री-कृत 'संसार-स्वप्न' (सं० १९७०) और लोचन प्रसाद पाण्डेय-कृत 'प्रेम प्रशंसा' (सं० १९७१) आदि कुछ

अच्छे बन पड़े। द्विवेदी-युग में चारों ओर इतनी अधिक संख्या में नाटक-कम्पनियाँ उत्पन्न हो गयी थीं और उनकी इतनी धूम थी कि उनके लिए खेलने योग्य नाटकों का सदैव टोटा बना रहता था। ऐसी दशा में साहित्यिक नाटक-रचना की ओर किसी साहित्यकार का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। उस युग में अधिकांश मौलिक रंगमंचीय नाटक ही लिखे गये।

द्विवेदी-युग में अंगरेजी, बंगला और संस्कृत के नाटकों के खूब अनुवाद हुए। **लाला सीताराम** (सं० १९१५-९३) ने शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद 'मनमोहन का जाल' (सं० १९५०), 'सिम्बोलीन' (सं० १९५२) और 'भूलभुलैयाँ' (सं० १९७२) के नाम से प्रकाशित किया। जयपुर-निवासी **गोपीनाथ पुरोहित** ने 'एज़ यू लाइक इट' का अनुवाद 'मन-भावन' (सं० १९५३), 'रोमियो जूलियट' का अनुवाद 'प्रेम लीला' (सं० १९५४), 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अनुवाद 'वेनिस का व्यापारी' (सं० १९५४) और 'किंग लियर' (सं० १९५४) प्रकाशित किया। **मथुरा प्रसाद चौधरी** ने भी 'मैकबेथ' का अत्यन्त सुन्दर अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' (सं० १९५०) और 'हैमलेट' का अनुवाद 'जयत' (सं० १९६७) के नाम से किया। बंगला के भी कई नाटकों के अनुवाद हुए। **गोपालराम गहमीरी** ने 'वभ्रुवाहन' (सं० १९४९), 'विद्या-विनोद (सं० १९४९), 'देश-दशा' (सं० १९४९), 'यौवन वियोगिनी' (सं० १९५०) और 'वनवीर' (सं० १९७०); **रूपनारायण पाण्डेय** (ज० सं० १९४१) ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के 'खाँ जहाँ' (सं० १९७५), द्विजेन्द्रलाल राय के 'उस पार' (सं० १९७४), 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' और रवीन्द्र बाबू के 'अचलायतन' आदि कई नाटको के अनुवाद किये। संस्कृत-नाटकों के अनुवाद भी हुए। **लाला सीताराम** ने 'मेघदूत', (सं० १९४०), 'नागानन्द' (सं० १९४४), 'महावीर-चरित' (सं० १९५४), 'उत्तर राम-चरित' (सं० १९५४), 'मालविकाग्निमित्र' (स० १९५५), 'मालती-माधव', (सं० १९५६), और 'मृच्छ कटिक' (सं० १९५६), के अत्यन्त सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। **ज्वाला प्रसाद मिश्र** ने 'वेणी संहार' (सं० १९५२) और

'अभिज्ञान शाकुन्तल' (सं० १६५६); बालमुकुन्द गुप्त (सं० १६२२-६४) ने 'रत्नावली नाटिका' (सं० १६५५) और सत्यनारायण 'कविरत्न' ने 'उत्तर राम-चरित' (सं० १६७०) तथा 'मालती माधव' (सं० १६७५) का सरस अनुवाद किया।

उपन्यास साहित्य का विकास

द्विवेदी-युग में नाटकों की अपेक्षा मौलिक उपन्यास अधिक लिखे गये और अनुवाद भी खूब हुए। देवकी नन्दन खत्री (सं० १६१८-७०) ने 'चन्द्रकान्ता संतति' (सं० १६५३) 'कुसुम कुमारी' (सं० १६५६), 'नौलखा हार' (सं० १६५६), 'गुप्त गोदना' (सं० १६५६), 'काजल की कोठरी' (सं० १६५६), 'अनूठी बेगम' (सं० १६६२) और 'भूतनाथ' (सं० १६६६) नामक कई 'तिलस्म' और 'ऐयारी' के उपन्यासों की रचना की। उनके इन उपन्यासों में भी पहले की भाँति घटना-वैचित्र्य की प्रधानता रही, चरित्र-चित्रण का प्रवेश नहीं हुआ। किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १६२२-८१) ने सं० १६५५ में 'उपन्यास' नामक समाचार-पत्र निकाला और कई सामाजिक, ऐतिहासिक और जासूसी उपन्यासों की रचना की। 'कुसुम कुमारी' (सं० १६५८), 'तारा' (सं० १६५६), 'राजकुमारी' (सं० १६५६), 'चपला' (सं० १६६०), 'लखनऊ की कब्र' (सं० १६६३), 'पन्नाबाई' (सं० १६६७), 'लाल कुँवर' (सं० १६६६), 'रजिया बेगम' (सं० १६७२) आदि उनके प्रमुख ऐतिहासिक; 'त्रिवेणी' (सं० १६५१), 'लीलावती' (सं० १६५८), 'सौतिया डाह' (सं० १६६४) आदि उनके प्रमुख सामाजिक और 'याकूती तख्ती' (सं० १६६३), 'कटे मूड़ की दो-दो बातें' (सं० १६६२), 'जिन्दे की लाश' (सं० १६६२) आदि उनके प्रमुख जासूसी उपन्यास थे। उन्होंने अपनी रचनाओं-द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को बहुत आगे बढ़ाया और उपन्यास-कला की रक्षा भी की। यह सच्च है कि उन्होंने उच्चकोटि और परिष्कृत मनोवृत्ति के उपन्यास नहीं लिखे, पर उन्होंने जो कुछ लिखा उससे उपन्यास के लिए एक क्षेत्र अवश्य तैयार हो गया। उनकी परंपरा में गोपाल राम गहमरी (सं० १६२३-२००५) ने भी कई उपन्यासों की रचना की जिनमें

से कुछ 'जासूसी' कुछ सामाजिक और कुछ ऐतिहासिक हैं। 'अजीबलाश' (सं० १९५३), 'गुप्तचर' (सं० १९५६), 'डबल जासूस' (सं० १९५७), 'खूनी कौन है ?' (सं० १९५७), 'जासूस पर जासूस' (सं० १९६१), 'किले में खून' (सं० १९६३), 'गुप्तभेद' (सं० १९७०) आदि उनके बंगला के प्रसिद्ध रूपांतरित उपन्यास हैं। स० १९५१ मे उन्होंने अँगरेजी के 'मिस्ट्री टेल्स' के ढंग पर एक 'गुप्त-कथा' नामक मासिक पत्र और सं० १९५७ में 'जासूस' मासिक पत्र अपने जासूसी उपन्यासों के लिए निकाला था। यह पत्र सं० १९६६ तक बराबर चलता रहा। उनके लिखने का ढंग अत्यंत मनोरजक था। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १९२२-२००४) ने भी उसी समय 'प्रेमकान्ता' (सं० १९५१), 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (सं० १९५६) और 'अधखिला फूल' (सं० १९६४) नामक उपन्यास लिखे। इन उपन्यासों में भापा का कौशल विशेप था, औपन्यासिक कौशल नहीं था। उनके साथ ही लज्जाराम मेहता (स० १९२०-८८) ने 'धूर्त रसिक लाल' (सं० १९५६), 'आदर्श दंपति' (सं० १९६१), 'बिगड़े का सुधार' (सं० १९६४) और 'आदर्श हिन्दू' (सं० १९७२) नामक उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासो में भी शब्द-कौशल ही था। मन्नन द्विवेदी (सं० १९४२-७८) ने 'रामलाल' (स० १९७१) और 'कल्याणी' (सं १९७५) की रचना की। व्रजनन्दन सहाय बी० ए० (ज० सं०१९३१) के 'अद्‌भुत प्रायश्चित' (सं० १९६२), 'राजेन्द्र मालती' (सं० १९६३), 'सत्यभामा मंगल' (सं० १९६६), 'राधाकान्त' (स० १९३९), 'अरण्यबाला' (सं० १९७२), 'लालचीन' (सं० १९७३), 'सौदर्योपासक' (सं० १९७३) आदि उपन्यासों में सबसे पहले औपन्यासिक कला देखने को मिली।

मौलिक उपन्यासों की भाँति ही अनूदित उपन्यासो का तांता लगा। रामकृष्ण वर्मा (सं० १९१६-६३) ने 'चित्तौर चातकी' (सं० १९५२) का और कार्तिकप्रसाद खत्री (स० १९०८-६१) ने 'इला' (सं० १९५२), 'प्रमीली' (सं० १९५३), 'जया' (सं० १९५३), 'मधुमालती' (सं० १९५५), 'दीनानाथ' (सं० १९५६) आदि का बंगला से अनुवाद किया। गोपालराम

गहमरी ने भी 'चतुरचंचला' (सं० १९५०), 'भानमती' (सं० १९५१), 'नयेबाबू' (सं० १९५१),'सास-पतोहू' (स० १९५६), 'बड़ा भाई' (सं० १९५७) 'देवरानी-जेठानी' (सं० १९५८), 'दो बहिन' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (सं० १९६१) आदि के बंगला से हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किये। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने भी इस दिशा में योग दिया और 'कोकिला' (सं० १९६५), 'हिरण्य-मयी' (सं० १९६५), 'स्वर्णमयी' (सं० १९६७), 'नलिनी बाबू' (सं० १९६८) और 'चन्द्रधर' (सं० १९७५) आदि की रचना की। रूपनारायण पाण्डेय (जं० सं० १९४१) और गंगाप्रसाद गुप्त भी इस युग के सफल अनुवादक थे। गंगाप्रसाद गुप्त ने 'अब्दुल्ला का खून' (सं० १९५०), 'नूरजहाँ' (सं० १९५९), 'पूना में हल-चल' (सं० १९६०), 'हवाईनाव' (सं० १९६०) आदि और रूपनारायण पाण्डेय ने 'रमा' (सं० १९६२), 'भयानक भूल' (सं० १९६३) आदि अनूदित उपन्यास लिखे। अँगरेजी से रेनल्डस-कृत 'लैला', 'लन्दन-रहस्य' और 'टामकाका की कुटिया' का भी अनुवाद हुआ। इस प्रकार, क्या मौलिक और क्या अनूदित, दोनों दृष्टियों से भावी युग में उपन्यास-साहित्य के लिए पर्याप्त क्षेत्र तैयार होगया।

कथा-साहित्य के अन्तर्गत द्विवेदी-युग में कहानी-साहित्य का जन्म हुआ। द्विवेदी-युग के पूर्व कहानी के नाम से 'वृहत्कथा', 'वैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'हितोपदेश', 'रानी केतकी की कहानी,' आदि मिलती थी। उनमें इति-वृत्ति का ही प्रवाह था। स्थितियो और पात्रों के चित्रण का आग्रह नहीं था। ऐसी कहानियाँ सर्व प्रथम बंगला-साहित्य में 'गल्प' के नाम से देखने को मिलीं। उनमे जीवन के मार्मिक और भाव-व्यंजक चित्र मिलते थे। संभवतः उन्हीं कहानियों के प्रभाव से सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९२२-८९) ने 'सरस्वती' मे 'इन्दुमती' (सं० १९५७) शीर्षक कहानी लिखी। इसके पश्चात् बंगला से अनूदित अथवा रूपान्तरित कई कहानियाँ उसमे प्रकाशित हुईं। मौलिक कहानियो में क्रमशः किशोरी-लाल गोस्वामी कृत 'गुलबहार' (सं० १९५९), भगवानदास-कृत

कहानी-साहित्य का आरंभ

'प्लेग की चुड़ैल' (सं० १९५६), वृन्दावन लाल वर्मा-कृत 'राखीबन्द भाई' (सं० १९६६), गिरिजादत्त वाजपेयी-कृत 'पंडित और पंडितानी' (सं० १९६०), रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' (सं० १९६०), और बंग महिला-कृत' दुलाईवाली' (स० १९६४) अधिक लोक-प्रिय हुईं। इनके पश्चात् जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६-९४)-कृत 'ग्राम' (सं० १९६८) नामक कहानी 'इंदु' में प्रकाशित हुई। उसी पत्र में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की भी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। प्रेमचन्द (सं० १९३७-९३) ने भी उसमें 'ग्राम' (सं० १९९३) शीर्षक कहानी लिखी। विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक (स० १९४८-२००३) की पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' (सं० १९७०) 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। राधिकारमण प्रसाद सिंह ने भी उसी समय 'कानों में कंगना' (स० १९७०) नामक एक कहानी लिखी और वह 'इन्दु' में छपी। ज्वालादत्त शर्मा और चतुरसेन शास्त्री ने भी इसी के आस-पास कहानी लिखना आरम्भ किया। सं० १९७२ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सं० १९४०-७९) ने 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी लिखी और 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस कहानी ने हिन्दी-साहित्य में कहानी-कला का वास्तविक रूप प्रस्तुत किया। इसके पूर्व की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान थीं, परन्तु यह सर्वप्रथम चरित्र-प्रधान कहानी सामने आयी और इसने लेखक को अमर कर दिया। सं० १९९३ से प्रेमचन्द की भी कहानियाँ सामने आने लगी। जयशंकर प्रसाद का प्रथम कहानी-संग्रह 'छाया' (सं० १९६९), और प्रेमचन्द के 'सप्त-सरोज' (सं १९७३) और 'नवनिधि' (सं० १९७५) भी इसी समय निकले।

**निबन्ध-साहित्य का विकास**

नाटक, उपन्यास और कहानी की भांति गद्य-शैली के प्रधान अग, निबंध, का भी विकास द्विवेदी-युग में अधिक हुआ। भारतेन्दु-युग में विषयों का क्षेत्र सीमित था। उस समय के निबंधकारो के विषय प्रधानतयः उत्सव, त्योहार, ऋतु, जीवन-चर्या आदि ही थे। द्विवेदी-युग में राजनीतिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्र विकसित होने और पत्र-पत्रिकाओ की संख्या बढ़ने से निबंध की

प्रगति को विशेष सहायता मिली और प्रायः गंभीर एवं साधारण विषयों पर सभी शैलियो में निबन्ध लिखे गये। निबन्धों का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'वेकन-विचार रत्नावली' और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री (सं० १९२७-८८) ने 'निबन्धमाला' नामक अनूदित ग्रथों की रचना की। महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२७-९५) अपने युग के सर्व प्रथम निबन्धकार थे। उन्होंने 'सरस्वती' में अनेक निबन्ध लिखे। उनके अधिकांश निबध पत्रकार-शैली में होते थे और उनमें विचारों की प्रधानता रहती थी। ऐसे निबंधों को वह प्रायः साधारण पाठको अथवा लेखकों को सचेत करने के लिए ही लिखा करते थे। 'कवि और कविता' आदि उनके ऐसे ही निबंध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने कई आलोचनात्मक निबंध भी लिखे। 'कवि-कर्तव्य' उनका सर्वोत्तम निबंध है। उनके निबंधो के पाँच संग्रह मिलते हैं : 'रसज्ञ-रञ्जन', 'अद्भुत अलाप', 'साहित्य-सदर्भ', 'लेखाञ्जलि,' 'साहित्य सीकर' और 'विचार-विमर्श'। इन संग्रहों में उनके जो निबन्ध संगृहीत हैं उन्हें देखने से वह किसी विशिष्ट शैली के जन्मदाता के रूप में हमारे सामने नहीं आते। भाषा उनकी अवश्य शुद्ध और प्रौढ़ है। उनके समकालीन निबन्धकार बालमुकुंद गुप्त (सं० १९२२-६४) के निबन्ध व्यक्तित्व-प्रधान होते थे। वह उर्दू से हिन्दी में आए थे। इसलिए उन्होंने अपने निबन्धों-द्वारा हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में एक विशिष्ट शैली को जन्म दिया था। मीठी चुटकी लेने में वह अद्वितीय थे। उनकी शैली विनोद-पूर्ण, भावात्मक और व्यंगात्मक होती थी। उनके निबन्धों का संग्रह 'गुप्त-निबन्धावली' के नाम से मिलता है। गोपालराम गहमरी (सं० १९२३-२००५) भी कभी-कभी निबन्ध लिखा करते थे। उनके निबन्ध अत्यन्त भाव-व्यंजक और मनोरंजक होते थे। गोविन्दनारायण मिश्र (सं० १९१६-८३) की निबन्ध-शैली संस्कृत-गर्भित होती थी। ब्रजभाषा का पुट भी उसमें रहता था। अनुप्रास के वह बहुत प्रेमी थे। माधवप्रसाद मिश्र (सं० १९२८-६४) भावात्मक निबन्ध लिखने में वेजोड़ थे। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी विपयों पर वह बहुत सुन्दर निबन्ध लिखते थे। उनकी

भाषा में पर्याप्त बल रहता था। श्यामसुन्दर दास ( सं० १६३२-२००२ ) के निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक, गवेषणात्मक अथवा विचारात्मक होते थे। वह शैलीकार नहीं थे, पर भाषा शुद्ध, सरल और गठी हुई लिखते थे। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ( सं० १६३२-६३) हास्य और विनोदपूर्ण निबन्ध लिखने में कुशल थे। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ( सं० १६४०-७७ ) के निबन्धो में प्रसंग-गर्भत्व अधिक रहता था। इसलिए सब उसको समझ नहीं सकते थे। पांडित्यपूर्ण हास्य की सृष्टि उनके निबन्धों की विशेषता थी। वह अपने युग के शैलीकार थे। उनकी शैली में विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता होती थी। अध्यापक पूर्णसिंह (सं० १६३८-८८) के निबन्ध यद्यपि संख्या में कम थे तथापि वे उन्हें निबन्धकार और शैलीकार के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त थे। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी-साहित्य में एक अजीब चीज थी। भावात्मक शैली में उनके निबन्ध बेजोड़ होते थे। 'आचरण की सभ्यता', 'मज़दूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' आदि उनके निबन्ध हिन्दी में अमर हैं।

**समालोचना का विकास**

द्विवेदी-युग में समालोचना-साहित्य का सृजन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ। समालोचना के मुख्यतः दो मार्ग होते हैं : (१) निर्णयात्मक और (२) व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना के अनुसार किसी रचना के गुण-दोष का विवेचन करके उसका मूल्यांकन किया जाता है। इसके विरुद्ध व्याख्यात्मक आलोचना किसी रचना का मूल्यांकन नहीं करती। वह उस ग्रंथ में आई हुई अनेक बातों को सामने रखकर उनका स्पष्टीकरण करती है। उसके अन्तर्गत बहुत-सी बाहरी बातों का भी विचार होता है जिसका सम्बन्ध दूसरी रचनाओं से रहता है। इस प्रकार के सम्बन्ध पर सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव रहता है। इसलिए इस प्रकार के पारस्परिक संबंध को जब आलोचनात्मक ढंग से व्यक्त किया जाता है तब उसे ऐतिहासिक समालोचना कहते हैं। समालोचक जब अपनी आलोचना रचनाकार के जीवन-क्रम और उसकी अन्तर्वृत्तियों पर आधारित

करते हैं तब उनकी आलोचना मनोवैज्ञानिक कहलाती है। वर्तमान युग में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचलन नहीं है। भारतेन्दु-युग में निर्णयात्मक आलोचना का ही आरम्भ हुआ था। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इसी का आश्रय लिया था। उन्होने लाला सीताराम के संस्कृत-अनुवादों की आलोचना इसी निर्णयात्मक शैली में की थी। इसके पश्चात् उन्होंने कुछ ऐसी भी आलोचनाएँ लिखीं जिनसे आलोच्य रचना की विशेषताएँ प्रकट होती थीं। उन्होने अपने समय के लेखको के भाषा की कठोर आलोचना की और इस प्रकार उन्होने आलोचना-साहित्य को काफी आगे बढ़ाया। इसके पश्चात् आलोचना के क्षेत्र में मिश्र-बन्धु आये। उन्होंने 'हिन्दी नव-रत्न' (सं० १९६८) नामक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। अपने ढंग की यह पहली पुस्तक थी, पर आलोचना का उज्ज्वल रूप उसमे नहीं था। पद्मसिंह शर्मा (सं० १९३३-८९) ने कवि बिहारी लाल की तुलनात्मक आलोचना की। इससे तुलनात्मक आलोचना का हिन्दी-साहित्य में प्रवेश हुआ। कृष्णबिहारी मिश्र (ज० सं० १९४७) 'देव और बिहारी' (१९८२) लेकर सामने आये। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन (सं० १९२३-८७) ने 'बिहारी और देव' (१९८३) नामक पुस्तक निकाली। तात्पर्य यह कि उस युग के अंतिम दिनों में रामचन्द्र शुक्ल के उदय होने तक इसी प्रकार की आलोचना चलती रही।

यहाँ तक तो हुआ द्विवेदी-युग के गद्य-साहित्य के सम्बंध में, अब उसके काव्य-साहित्य पर विचार कीजिए। अन्यत्र बताया जा चुका है कि

**काव्य-साहित्य का विकास**

भारतेन्दु-युग के कवियो में हिन्दी-काव्य-धारा को नए-नए विषयों की ओर मोडने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रजभाषा ही रहने दी गयी और छंद, अभिव्यंजना की शैली तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण एवं उसके चित्रण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हो सके। इस प्रकर की स्वच्छंदता का आभास सर्वप्रथम श्रीधर पाठक (सं० १९१६-८५) ने दिया। उन्होंने प्रकृति-चित्रण को रूढ़िबद्ध-परम्परा से निकालकर एक अभिनव रूप प्रदान

किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने खड़ीबोली के काव्य के लिए सुन्दर लय और चढ़ाव-उतार की कई नयी शैलियाँ भी प्रस्तुत कीं। भारतेन्दु की मृत्यु (सं० १९४१) के पश्चात् ही वह अपना 'एकान्त-वासी योगी' (सं० १९४३) लेकर हिन्दी-जगत मे आये। सं० १९४५ में अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली आन्दोलन' के नाम से एक पुस्तिका छपाई और यह प्रचार किया कि ब्रजभाषा और अवधी की रचनाएँ हिन्दी की नहीं हैं। हिन्दी की कविता हिन्दी में होनी चाहिए। इस प्रश्न को लेकर हिन्दी में दो दल बन गये। प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३-५१), राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (सं० १९२५-७२), जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (स० १९२३-८९) आदि ने ब्रजभाषा का पक्ष लिया और महावीरप्रसाद द्विवेदी (सं० १९२१-९५), श्रीधर पाठक (सं० १९१६-८५), नाथूराम 'शकर' शर्मा (सं० १९१६-८९) आदि ने खड़ीबोली का समर्थन किया। इस समय सबसे अधिक मनोरंजक बात यह हुई कि ब्रजभाषा के पक्षपाती खडीबोली में और खडीबोली के समर्थक ब्रज-भाषा में कविता करते थे। फिर भी कुछ दिनो तक पत्र-पत्रिकाओं में जमकर 'तू-तू मैं-मैं' हुई। ऐसे वातावरण से प्रोत्साहित होकर श्रीधर पाठक आगे बढ़े और उन्होंने हिन्दी-साहित्य को कई अनूदित और मौलिक रचनाएँ भेंट कीं। 'साध्य-अटन' से एक उदाहरण लीजिए :—

**'विजन बन प्रान्त था, प्रकृति मुख शांत था,**
**अटन का समय था, रजनि का उदय था॥**
**प्रसव के काल की लालिमा में लसा,**
**बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा॥**
**सद्य प्रफुल्ल-अरविन्द-निभ नील सुवि—**
**शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥'**

संस्कृत-काव्य के संस्कारों के साथ महावीरप्रसाद द्विवेदी के उदय होने से स्वाभाविक स्वच्छंदता का उक्त रूप हिन्दी-काव्य में अधिक दिनों तक नहीं चला। द्विवेदीजी का हिन्दी-गद्य और पद्य पर पूरा प्रभाव था और वह दोनों को अपनी इच्छानुसार विकसित करना चाहते थे।

काव्य के क्षेत्र में उन्होने संस्कृत के कई नवीन छन्दों का प्रवेश किया। वह स्वयं अच्छे कवि नहीं थे। उनकी रचनाएँ वर्णनात्मक होती थीं। एक उदाहरण लीजिए :—

'पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नर-नाग-सृष्टि।
मांगल्य मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि॥
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार भार सहता रहता महाना ?'

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १६२२-२००४) ने भारतेन्दु-युग में ही कविता करना आरंभ किया था और सबसे पहले उन्होंने 'श्रीकृष्ण शतक' (सं० १६३६) की रचना की थी। परन्तु बाद को द्विवेदी जी के प्रभाव से उन्होने 'प्रिय-प्रवास' (सं० १६७१) लिखा। खड़ीबोली के इस प्रथम महाकाव्य में कई रूढ़ियाँ तोड़ी गयीं थीं। उसके नायक श्रीकृष्ण अवतारी श्रीकृष्ण नहीं, केवल महापुरुष थे। उस में छन्दों का विधान संस्कृत-छन्दों के अनुसार किया गया था। महाकाव्य की परंपरा का उल्लंघन करते हुए उसमें श्रीकृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और फिर लौटकर आना ही चित्रित किया गया था। राधा भी 'सूर' अथवा 'बिहारी' की राधा नहीं थीं। वह थीं देश-सेविका राधा। संक्षेप में 'प्रिय-प्रवास' उस समय एक अनूठी कृति थी और उसने सभी रूढ़ियों पर विजय पाई थी। इस रचना ने हिन्दी-काव्य को एक नयी दिशा प्रदान की। उपाध्यायजी की अन्य रचनाएँ इस कोटि की नहीं हुईं। इसका महत्त्व तब भी था और आज भी है। इससे एक उदाहरण लीजिए :—

'धीरे-धीरे दिन गत हुआ, पद्मिनी-नाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया॥
यों ही बीती विपुल घटिका औ' कई बार बीते।
आया न कोई मधुपुर से औ न गोपाल आए॥'

मुहावरों के नमूने के लिए 'चोखे चौपदे' (सं० १६८१) से कुछ क्तियाँ लीजिए :—

'क्यों पले पीस कर किसी को तू ?
है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही,
पेट ! तेरी पटी नहीं मेरी ॥'

उपाध्यायजी ने हिंदी को अपने कई नमूने दिये। उनके पश्चात् मैथली-शरण गुप्त (सं० १९४३) राष्ट्र-कवि के रूप में हमारे सामने आये। सं० १९६७ में उनका 'रंग में भंग' और सं० १९६९ में उनका 'भारत-भारती' प्रकाशित हुआ। 'भारत-भारती' ने हिन्दी-जगत पर उनका रंग जमा दिया। 'जयद्रथ-वध', 'वैतालिक' (सं० १९७६) और 'शकुंतला' (सं० १९७७) आदि भी द्विवेदी-युग समाप्त होते-होते प्रकाश में आये। इन सभी ग्रन्थों में उन्होंने अतीत के इतिवृत्त पर नवयुग की राष्ट्रीय चेतना का शृंगार किया है। 'केशों की कथा', 'स्वर्ण सहोदर' आदि उनकी जो रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुकी थीं, उनमें भी राष्ट्रीय भावनाओं की ही प्रधानता थी। इस प्रकार गुप्तजी आरंभ से ही राष्ट्रीय भावनाओं के चित्रकार हैं और हिन्दी के प्रथम राष्ट्र-कवि माने जाते हैं। गुप्तजी की कविता का 'भारत-भारती' से एक उदाहरण लीजिए:—

'क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन-सहित तन, मन तथा धन भेंट दो ॥
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?'

द्विवेदी-परंपरा में कविता करनेवाले दो प्रसिद्ध कवि और थे, एक रामचरित उपाध्याय (ज० सं० १९२९) और दूसरे लोचनप्रसाद पांडेय (ज० सं० १९४३)। रामचरित उपाध्याय ने द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से 'सरस्वती' में अपनी कविताएँ प्रकाशित कराना आरंभ किया और 'राष्ट्र भारती,' 'देव दूत', 'देव सभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत भक्ति' आदि शीर्षक से कई कविताएँ लिखीं। उन्होंने एक प्रबन्ध-काव्य भी लिखा जिसका नाम 'रामचरित चिन्तामणि' है। उससे उनकी कविता का एक उदाहरण लीजिए—

'मम निवेदन है कुछ आपसे, सुन उसे उर में धर लीजिए।
ग्रहण है करता जिस युक्ति से, मधुप सारस-सार सहर्ष हो ॥
जनकजा रघुनायक हाथे में, तुरत जाकर अर्पण कीजिए।
परवधू जन से रहते सदा, अलग सन्तत सन्त तमीचरा ॥'

लोचनप्रसाद पांडेय (ज० सं० १६४३) बहुत ही छोटी अवस्था में कविता की ओर झुके थे। सं० १६६२ से उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में छपने लगी थीं। 'मृगी दुःख मोचन' से उनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते, थके वहाँ बैठते थे मृग और उसकी घरनी ॥
पगुराते हुए, दृग मूंदे हुए वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते, कभी सिर सींग पै धारते थे टहनी ॥'

द्विवेदी-युग की काव्य-परम्परा में न आनेवाले उसी युग के कवियों में नाथूराम 'शंकर' शर्मा (सं० १६१६-८६) थे। खड़ीबोली में उनकी रचनाएँ केवल भाषा की दृष्टि से होती थीं। उनकी रचनाओं में अनुभूति का योग नहीं था। वस्तुतः वह रीति-कालीन परंपरा के कवि थे। भेद केवल इतना ही था कि उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को अपना लिया था। एक उदाहरण लीजिए:—

'तेज न रहेगा तेज धारियों में नाम को भी,
मंगल मयंक मंद-मंद पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब डूब 'संकर' सरोज सड़ जायेंगे ॥
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन आँखों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे ॥'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १९२३-८९) ने समय के अनुसार अपना चोला नही बदला। वह ब्रजभाषा में ही कविता करते रहे। रीति-कालीन परंपरा के वह अंतिम कवि थे और अत्यन्त मर्म स्पर्शी कविता करते थे। भावात्मक और वर्णनात्मक, दोनो प्रकार की उनकी कविताएँ अत्यंत सुन्दर होती थीं। वह जो कुछ लिखते थे उसमें वह अपने हृदय का सारा रस निचोड़ देते थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं जिनका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ उनकी रचना 'उद्धव-शतक' से एक उदाहरण दिया जाता है:—

'कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै,
ब्रज मैं तिहारी कला नैंकु खटिहैं नहीं।
कहै 'रत्नाकर' न प्रेम-तरु पै है सूखि,
याकी डार-पात-तृन-फूल घटिहैं नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है, ऊधौ,
पी-पी को बिहाइ और रट रटिहैं नहीं।
लौटि-पौटि बात को बवंडर बनावत क्यों,
हिय तै हमारे घनश्याम हटिहैं नहीं॥

उक्त कवियों के अतिरिक्त गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', लाला भगवानदीन 'दीन', रूपनारायण पांडेय, सत्यनारायण 'कविरत्न', मन्नन द्विवेदी, कामताप्रसाद गुरु आदि भी उस युग के अच्छे कवि थे। सारांश यह कि द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक कविताओं की ही धूम रही और उनका अच्छा प्रचार हुआ। हिन्दी-साहित्य में जयशंकर प्रसाद के अभ्युदय तक हिन्दी कविता अपने इसी रूप में विकसित और प्रसारित होती रही।

**उपयोगी साहित्य**

द्विवेदी-युग में अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखी गयीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने नाट्य-शास्त्र (सं० १९६८) लिखा। यह अपने ढंग की सुन्दर पुस्तक थी। भारतेन्दु ने भी इसी विषय पर 'नाटक' (सं० १९४१) की रचना की थी। इसके पश्चात् जगन्नाथ-

प्रसाद गोप ने 'काव्य प्रभाकर' (सं० १६७१), केशवराम शर्मा ने 'छन्दसार पिंगल' (सं० १६७३), भगवान दीन ने 'अलंकार मंजूषा' (सं० १६७३) और जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'छंद सारावली' (सं० १६७४) की रचना की। कई महापुरुषों के जीवन-चरित्र भी लिखे गये। संपूर्णानन्द ने 'धर्मवीर गाँधी' (सं० १६७१) तथा 'महाराज छत्रपाल' (सं० १६७३); चन्द्रमौलि सुकुल ने 'अकबर' (सं० १६७४), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'रूस का राहु' (सं० १६७६), शिवनारायण द्विवेदी ने 'राजाराम मोहनराय' (सं० १६७४) और जगमोहन वर्मा ने 'बुद्धदेव' (सं० १६७४) की रचना की। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'सिरोही राज्य का इतिहास' (सं० १६६८), मिश्रबंधु ने 'जापान का इतिहास' (सं० १६६८), डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'महाराष्ट्रोदय' (सं० १६७०), भवानीदयाल संन्यासी ने 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' (सं० १६७५) और संपूर्णानन्द ने भारत के 'देशी राष्ट्र' (सं० १६७५) लिखकर इतिहास-रचना की ओर सब का ध्यान आकृष्ट किया। इसी प्रकार स्वाधीनता-संग्राम को प्रोत्साहन देनेवाले और भी ग्रन्थ लिखे गये। भवानीदयाल संन्यासी ने 'हमारी कारावास की कहानी' (सं० १६७५) और 'प्रवासी भारतवासी' (सं० १६७५) की रचना की। भाषा-दर्शन विषयक भी कई ग्रन्थ सामने आये। गोविन्द नारायण मिश्र ने 'विभक्ति-विचार' (सं० १६६८), महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' (सं० १६६४), सूर्यकुमार वर्मा ने 'भाषा' (सं० १६६४), बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी भाषा' (सं० १६६५) और जगमोहन वर्मा ने 'आर्ष प्राकृत व्याकरण' (सं० १६६६) की रचना की। विज्ञान पर भी कई उत्तम पुस्तकें लिखी गईं। सारांश यह कि द्विवेदी-युग में सभी साहित्यिक एवं लोकोपयोगी विषयों की ओर साहित्यकारों का ध्यान गया और उन्होंने अपने युग को पूरी तरह सफल बनाने की चेष्टा की।

---

## १५. तृतीय उत्थान-काल : रहस्यवाद-छायावाद-युग

**तृतीय उत्थान काल की पीठिका**

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग अर्थात् द्वितीय उत्थान काल (सं० १६२५-७५) समाप्त होते-होते योरप में भयंकर राजनीतिक आँधियाँ उठने लगीं जिनके कारण वहाँ प्रथम महायुद्ध (सं० १६७१-७५) की घोषणा हुई। इस महायुद्ध ने विश्व का कोना-कोना हिला दिया। जर्मनी के आतंक के कारण ब्रिटिश साम्राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। ऐसे अवसर पर महात्मा गाँधी (सं० १६२६-२००४) के नेतृत्व में भारत ने तन-मन-धन से अँगरेजी-सरकार की सहायता की। इस सहायता के फलस्वरूप तत्कालीन भारत-सचिव मांटेगू ने सं० १६७४ में भारतीयों को शासन-कार्य में अधिक-से-अधिक अधिकार देने का वचन दिया, परन्तु महायुद्ध की समाप्ति (सं० १६७५) के पश्चात् भारतीयों के सामने आया 'रौलट बिल' (सं०१६७६)। 'रौलट बिल' की घोषणा होते ही महात्मा गाँधी ने 'सत्याग्रह-आन्दोलन' आरंभ किया। सं० १६६१ की-सी चेतना-लहर फिर संपूर्ण भारत में दौड़ गयी। स्थान-स्थान पर सभाएँ होने लगी और 'रौलट-बिल' के विरुद्ध प्रस्ताव पास होने लगे। अमृतसर के जिलियाँवाला बाग में भी एक सभा हुई। इस सभा पर जनरल डायर ने मशीनगन से बम-वर्षा की और बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। इस दुर्घटना ने अग्नि में घृत का काम किया। 'सत्याग्रह-आन्दोलन' ने और भी व्यापक रूप धारण किया। ऐसे ही राजनीतिक वातावरण में 'मांटेगू-चेम्सफोर्ड-सुधार' नामक एक्ट (सं०१६७६) की घोषणा हुई, परन्तु इस एक्ट से भी भारत के उग्र राष्ट्रवादियों को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में 'असहयोग आन्दोलन' आरंभ किया। इस आन्दोलन ने तत्कालीन वायसराय लार्ड-रीडिङ्ग के समय (सं०१८७८-८३) में भयंकर रूप धारण कर लिया। देश में हिंसात्मक

प्रवृत्ति जाग उठी और फिर हुआ 'चौरीचौरा का हत्याकाण्ड'। यह देखकर महात्मा गाँधी ने 'असहयोग-आन्दोलन' स्थगित कर दिया। सामान्य दृष्टि से यह 'असहयोग आन्दोलन' के विफलता की सूचना थी। इस विफलता का देश की राष्ट्रीय भावना पर विशेष प्रभाव पड़ा। आशा और निराशा के बीच भारतीय राष्ट्र-भावना चंक्रमण करने लगी। ऐसे ही वातावरण में आधुनिक हिन्दी-साहित्य में तृतीय उत्थान-काल का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रश्न उठता है कि उक्त तृतीय उत्थान-काल को जन्म देनेवाले थे कौन? हम अन्यत्र बता चुके हैं कि अँगरेजी शासन-काल का अभ्युदय होने पर भारतीय समाज में मध्य वर्ग की स्थापना हुई थी। आलोच्य काल में इस मध्य वर्ग की तीन प्रमुख श्रेणियाँ थीं—एक श्रेणी तो उन मध्य-वर्गीयों की थी जो विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर भारत के अतीत गौरव-ज्ञान से शून्य थे और अपने देश को अँगरेजी आँख से देखते थे; दूसरी श्रेणी में वे मध्य-वर्गीय आते थे जो अपनी रूढ़िवादिता के कारण नवीनता के प्रति नाक-भौं सिकोड़नेवाले थे और तीसरी श्रेणी में उन मध्य-वर्गीयों की गणना होती थी जो अपनी खुली आँखों से अपने देश की तत्कालीन दशा पर दृष्टिपात करते थे और उससे प्रभावित होकर तथा उसके अतीत और वर्तमान से सामग्री बटोरकर भावी सामाजिक निर्माण के लिए उत्कंठित थे। इस तृतीय श्रेणी के मध्य-वर्गियों ने ही देश के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में नव-निर्माण की योजनाओं का विधान किया। उनके सामने गाँधीजी का आदर्श था। मशीनों की उत्पादन-व्यवस्था ने जिस द्रुत गति से देश में वैषम्य का बीजारोपण किया था उसके विरुद्ध गाँधीजी ने सबसे पहले अपना स्वर ऊँचा किया था और उसके उन्मूलन के लिए सबके सामने पूर्ण-स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। इस आदर्श को कार्य रूप में परिणत करने के लिए उन्होंने अपने अहिंसात्मक आन्दोलनों-द्वारा भयग्रस्त, पद-दलित एवं त्रसित वर्ग को जगाया और उसे उसकी शक्ति का आत्मबोध कराया था। इससे संपूर्ण देश अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। ऐसे वातावरण से प्रेरणा पाकर हिन्दी-

साहित्यकारों का ध्यान अपने साहित्य की ओर गया और उन्होंने उसके प्रत्येक अंग का परिस्थितियों के अनुकूल शृङ्गार करना प्रारम्भ किया।

आलोच्य काल में हिन्दी-साहित्यकारो को अपने देश के वातावरण से तो प्रेरणा मिली ही, वे अँगरेजी-साहित्य से भी विशेष प्रभावित हुए। इस समय अँग्रेजी साहित्य में वर्डसवर्थ (सं०१८२७-१९०७), शेली (सं०१८४९-७९), कीट्स (स०१८५२-७८), बायरन (सं०१८४५-८१), ब्राउनिङ्ग (सं० १८६९-१९४६), लांगफेलो (सं० १८६४-१९३९), टेनीसन (सं० १८६६-१९४९) और स्विनबर्न (सं०१८९४-१९६६) आदि कवियों की बड़ी धूम थी। इन कवियों की रचनाओं से प्रभावित होकर हिंदी-साहित्यकारों ने उनकी भाव-धारा को ग्रहण कर हिन्दी-काव्य को एक नवीन दिशा की ओर मोड़ने का सफल प्रयत्न किया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का उक्त काल अपने साथ अपने युग की सभी चेतनाओं, सभी विश्वासों को लेकर आगे बढ़ा।

**तृतीय उत्थान काल की विशेषताएँ**

उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के तृतीय उत्थान-काल ( सं० १९७६-९५ ) में ऐसे साहित्यकार सामने आये जो अपने तथा अपने देश के सुख-दुःख, आशा-निराशा तथा विश्वास-अविश्वास से परिचित एवं प्रभावित थे। उनके पास उनकी अपनी आँखें थीं, अपना मन था, अपना हृदय था, अपनी सूझ-बूझ और अपनी वाणी थी। वे अपने युग की माँग से अवगत थे। इसलिए उन्होंने किसी कलाकार-द्वारा आविष्कृत साहित्यिक मशीन पर अपनी रचनाओं का निर्माण नहीं किया। उन्होंने स्वयं अपना मार्ग निर्माण किया, अपने विषय चुने और अपनी रुचि के अनुकूल अपनी भाषा-शैली में रंग भरने की चेष्टा की। द्वितीय उत्थान-काल में वड़े-वड़े साहित्यकारों की नकेल द्विवेदीजी ( सं० १९२७-९५ ) के हाथ में थी, पर इस काल में सब स्वतंत्र होकर हिन्दी-साहित्य के नव निर्माण में योग देने लगे।

द्वितीय उत्थान-काल के समाप्त होते-होते खड़ीबोली में वहुत-कुछ कविता हो चुकी थी, पर कविता के माध्यम से उसका जैसा मँजा हुआ रूप

निखरना चाहिए था, वैसा नहीं निखरा था। तृतीय उत्थान-काल में वह और भी अधिक मॉजी और खरादी गयी और हिन्दी के सब तरह के नए-पुराने छंदों के उपयुक्त बनायी गयी। मैथिलीशरण गुप्त (ज० सं० १६४३), गोपालशरण सिंह (ज० सं० १६४८), जयशंकर प्रसाद (सं० १६४६-६४), सुमित्रानंदन पंत (ज० सं० १६५७), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (ज० सं० १६५५), महादेवी वर्मा (ज० सं० १६६४) आदि कवियो ने उसे अपने-अपने छंद-विधान के माध्यम से नवीन शक्ति प्रदान की। बॅगला और संस्कृत के शब्दों के अतिरिक्त अँगरेजी पद्यों के वाक्य-खंडों के शब्दानुवाद तथा अॅगरेजी पारिभाषिक शब्दो के अनुवाद भी उसमें जोड़ दिए गये। अभिधा शक्ति तो उसमें स्वाभवतः थी ही, उसे ध्वनि और लाक्षणिकता भी प्रदान की गयी। उसके अन्तर्गत भाव-चित्रों को उत्पन्न करने की शक्ति रखनेवाली चित्र-भाषा का भी जन्म हुआ जिसके सहारे कवियों ने अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त विधान से विभूषित किया।

तृतीय उत्थान-काल में उक्त भाषागत विशेषता के अतिरिक्त हिन्दी छन्द-विधान में अभिव्यंजना के एक नवीन रूप, मुक्तवृत्त, का जन्म हुआ। मुक्त वृत्त के प्रवर्तक थे सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। निरालाजी ने बँगला से और बॅगला ने वाल्ट ह्विटमैन की प्रथम रचना 'लीव्ज आफ़ ग्रास' (सं० १६१२) से यह शैली अपनायी। इस शैली का निर्माण गति और लय के आधार पर हुआ और इसमें स्वानुभूति-मूलक काव्य का ही प्राधान्य रहा। नयी पीढ़ी के कवियो ने इसमें सुन्दर रचनाएँ कीं और अब भी कर रहे हैं।

छन्द-व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए वे तो हुए ही, हिन्दी-काव्य के वस्तु-विधान और उसकी अभिव्यंजन-शैली में भी कई प्रकार की नई प्रवृत्तियाँ इस तृतीय उत्थान-काल में उत्पन्न हुईं। जिस स्वदेश-गौरव और स्वदेश प्रेम को लेकर काव्य की नूतन धारा भारतेन्दु-युग में प्रवाहित हुई थी, उसका अधिक प्रसार द्विवेदी-युग में हुआ। द्विवेदी-युग की देश-भक्ति-सम्बंधी रचनाओं में विदेशी-शासन-पद्धति के प्रति असंतोष की भावना तो थी, पर

उसमें कर्तव्य, आत्म-त्याग, उत्साह और क्रान्ति का स्वर नहीं था। तृतीय उत्थान-काल में इस अभाव की पूर्ति हुई। सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और देश के कोने-कोने से राजनीतिक और आर्थिक परतन्त्रता के विरोध की भावना जगायी जाने लगी। इसका साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। कवि देश-प्रेम में मतवाले होकर ओजस्वी गीत गाने लगे। उनका ध्यान अपने अतीत गौरव की ओर गया और उन्होंने उसकी पृष्ठिभूमि पर वर्तमान का सफल चित्रण किया। इस प्रकार इस तृतीय उत्थान-काल में राष्ट्रीय भावना का वास्तविक रूप साहित्य के माध्यम से सामने आया।

राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ तृतीय उत्थान-काल में प्रकृति-चित्रण की ओर भी कवियों का ध्यान गया। रीति-काल में प्रकृति का चित्रण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हुआ था। कवि राज-दरबारों में बैठकर ही उसके मनोरम रूपों का आनन्द लूटते थे। भारतेन्दु-युग में भी इस दिशा में विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। द्विवेदी-युग में श्रीधर पाठक (सं० १९१६-८५) का ध्यान इस ओर गया था। उन्होंने सर्वप्रथम प्रकृति को अपनी आँखों से देखा और उसका सफल चित्रण भी किया। पर उन्होंने मुख्यतः उसके सुखद, सजीले और सुहावने रूप-व्यापारों का ही चित्रण किया था, उन रूप-व्यपारों के बीच मानव-जीवन को रखकर उसके प्रकृत स्वरूप पर दृष्टि नहीं डाली थी। इस अभाव की पूर्ति तृतीय उत्थान-काल में हुई। इस काल के कवियों ने मानव-जीवन को प्रकृति के मनोरम रूप-व्यापारों के बीच प्रतिष्ठित किया और उनके माध्यम से आत्मा और परमात्मा के साहचर्य की रहस्यानुभूति प्राप्त की। अपने इस प्रकार के प्रयत्न में उन्होंने बङ्गला और अंगरेजी साहित्य से विशेष प्रेरणा ग्रहण की। अँगरेजी साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ हो चुकी थीं और उन्हें स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) धारा के अन्तर्गत स्थान दिया गया था। हिन्दी में श्रीधर पाठक द्वारा इस धारा का मार्ग-प्रदर्शन होने पर भी द्विवेदीजी के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण इसका विशेष प्रचार न हो सका। पर ज्यों ही उसका प्रभाव कम हुआ,

इस धारा के समर्थकों ने अपना स्वर ऊँचा किया। उस समय मैथिलीशरण गुप्त (ज० सं० १६४३), मुकुटधर पांडेय (ज० सं० १६५२) और बदरीनाथ भट्ट (सं० १६४८-८६) ने इस धारा में कई रचनाएँ कीं। पदुमलाल पुन्नालल वख्शी (ज० सं० १६५१) ने भी इस रङ्ग में कुछ लिखा। इन रचनाओं में स्वच्छन्दतावाद की परम्परा के अनुरूप 'सत्य' और 'सुन्दरं' की ही प्रतिष्ठा हुई; 'शिव' की नहीं। 'सत्य' और 'सुन्दरं' के साथ 'शिव' का सामञ्जस्य करनेवाले थे, जयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठो 'निराला', और सुमित्रानन्दन पन्त। इन कवियों की रचना-शैली को 'छायावाद' की संज्ञा दी गयी। 'छायावाद' ने आगे चलकर 'रहस्य वाद' का रूप धारण किया। इससे हिन्दी में 'प्रतीकवाद' को प्रश्रय मिला। इस प्रकार एक 'वाद' के पश्चात् कई 'वाद' हिन्दी-साहित्य में अपने विकास का पथ खोजने लगे। इन वादो के समावेश से द्विवेदी-युग की विपय-प्रधान-परम्परा का ह्रास और उसके स्थान पर विषयि-प्रधान परम्परा का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार हिन्दो-कविता वहिर्मुखी से अन्तर्मुखी एवं बौद्धिक हो गयी।

द्विवेदी-युग मे किसी 'वाद' को प्रोत्साहन नहीं मिला था, पर तृतीय उत्थान-काल जब अपने साथ कई 'वादों' कि लेकर आया तब कल्पना और भावुकता के वेग के कारण इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर गीतात्मकता का प्राधान्य हो गया। इससे हिंदी-काव्य में प्रगीत-मुक्तकों की परम्परा चल पड़ी। मैथिलोशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, बदरीनाथ भट्ट, जयशङ्कर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, भगवतोचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा आदि ने अनेक प्रगीत-मुक्तको की रचना की। स्वानुभूति चित्रण की इस स्वीकृत शैली का प्रभाव प्रबन्ध-काव्यो पर भी पड़ा। मैथिली शरण गुप्त-कृत 'साकेत' (सं० १६८६), गुरुभक्तसिंह 'भक्त'-कृत 'नूरजहाँ' (सं० १६६२) और जयशङ्कर प्रसाद-कृत 'कामायनी' (सं० १६६६) आदि महाकाव्यों की इतिवृत्तात्मक शैली पर गीतात्मक शैली का पर्याप्त प्रभाव है। अज्ञेयजी (ज० सं० १६६८) का 'भग्नदूत' (सं० १६६०) भी इस युग मे एक नयी दिशा की ओर संकेत करता है।

प्रश्न उठता है कि तृतीय उत्थान-काल की गीतात्मक रचनाओं को 'छायावाद' का नाम कहाँ से और कैसे मिला ? कुछ लोगों का मत है कि

**छायावादी-रहस्यवादी धारा का विकास**

यह शब्द अंगरेज़ी से अत्यधिक प्रभावित बंगला-द्वारा हिन्दी में आया है, परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। यह भी कहा जाता है कि 'गीतांजलि' और अँगरेज़ी स्वच्छन्दतावादी कवियों की कविताओं की छाया लेकर जो कविता लिखी गयी उसका उपहास करने के लिए व्यङ्ग रूप से उसके विरोधियों ने उसका नाम 'छायावाद' रखा जो आगे चलकर प्रचलित हो गया। आधुनिक आलोचको ने इसी मत को प्रधानता दी है और यह स्वीकार किया है कि हिन्दी में जो कविता 'छायावाद' के नाम से प्रसिद्ध हुई है वह वस्तुतः अगरेजी कवियों की स्वच्छन्दतावादी कविता की अनुरूपणी है। युगों से हिन्दी काव्य में व्यक्ति की जो अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही थी वह स्वच्छन्दतावाद का सहारा पाकर उभर आई। उसका 'मैं' प्रकाश में आगया। वह दबाये न दबा और प्रकृति को आलम्बन बनाकर छायावाद के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार 'मैं' के प्रधान होने से 'मैं' की छाया हिंदी काव्य में प्रधान हो गयी। दुःख से प्लावित मन फूल पर पड़ी ओस की बूंद को अपना आँसू समझने लगा, प्रेम से ओत-प्रोत मन कलियों की मुसकान को अपनी प्रेयसी की मुसकान मानने लगा। सारांश यह कि मानव-मन ने प्रकृति के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। खोजने पर प्राचीन रचना-प्रणाली में भी ऐसी रचनाएँ स्फुट रूप में मिल जायँगी, पर वस्तुतः कवि-धर्म के रूप में 'छायावाद' तृतीय उत्थान-काल में ही गृहीत हुआ और बड़े पैमाने पर हुआ। सं० १९६२ से सं० १९७७ तक वह अपने प्रयोगावस्था में रहा, इसके पश्चात् वह अपने परिपक्वावस्था में आया। तब से सं० १९९५ तक उसका प्रभाव हिन्दी-काव्य-धारा पर बना रहा। इन वर्षों में उसका रूप निखर आया और उसमें अनेक गुणो का समावेश हो गया। उसका वर्गीकरण भी किया गया और उसके चार उन्नायक प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी प्रसिद्ध हो गये।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि छायावाद के उक्त सभी उन्नायकों की रचनाओं में छायावाद का एक ही स्वर, एक ही प्राण आया। छायावाद का कवि विश्व के कण-कण में प्राणों की छाया देखता है। वह व्यक्तिवादी होता है। इसलिए उसकी रचना आत्मपरक होती है और उसमें उसकी व्यक्तिगत आशा-निराशा, व्यथा-वेदना, सुख-दुःख आदि सब प्रतिबिंबित होते हैं। उसमें प्रकृति के चेतन स्वरूप का चित्रण रहता है, उस चेतन स्वरूप का जिस पर कवि के मन की छाया पड़ चुकी रहती है। सब कवियो के मन की दशा एक-सी नहीं होती। इसलिए कवि की वृत्ति के अनुसार छायावाद का विकास होता है। निम्न उदाहरण से इस प्रकार का अन्तर स्पष्ट हो जायगा :—

'विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली।'—निराला
'विकसते मुरझाने को फूल,
उदय होता छिपने को चद,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द।
यहाँ किसका अनन्त यौवन !'—महादेवी

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि छायावादी कवियों ने अपनी-अपनी मानसिक वृत्ति के अनुरूप ही रचनाएँ की हैं। प्रसाद की रचना मे प्रेम-तत्व की प्रधानता है, पंत की प्रारंभिक रचनाओं में कोमल हृदय का प्रकृति-प्रधान-प्रेम है, निराला की रचनाओं में कल्पना और चिन्तन की प्रधानता है और महादेवी की रचनाओं में वेदना का स्वर है। इस प्रकार प्रत्येक का अपना-अपना मार्ग है।

छायावाद से मिलता-जुलता रहस्यवाद भी इस तृतीय उत्थान-काल की देन है। छायावाद में जहाँ कवि-हृदय प्रकृति से साहचर्य्य स्थापित

करता है वहाँ रहस्यवाद में मुख्यतः प्राकृति के माध्यम से कवि-आत्मा परमात्मा के साथ अपना सम्बंध स्थापित करती है। एक में सौंदर्यानुभूति है तो दूसरी में आध्यात्मिक अनुभूति; एक में प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसके सौंदर्य का कारण खोजा जाता है तो दूसरी में विभु की व्यापकता पर मुग्ध होकर उसकी सौंदर्यानुभूति के लिए प्रकृति का सहारा लिया जाता है। दोनों एक केवल इस अर्थ में हैं कि वे अन्तर्मुखी हैं और स्थूल जगत के दृश्य पदार्थों के प्रति उदासीन हैं। इस प्रकार छायावाद अपनी परपक्वावस्था में रहस्यवाद का दर्शन कराता है। हिन्दी-काव्य में छायावाद के साथ ही रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हुई और जो छायावादी कविता के उन्नायक थे वही रहस्यवादी कविता के भी उन्नायक हुए, पर इस दिशा में भी उन्होंने अपनी-अपनी दार्शनिक भाव-भूमि के अनुसार अपनी अनुभूतियों का चित्रण किया। दो उदाहरण लीजिए :—

'शशि के दर्पण में देख देख,
मैंने सुलझाये तिमिर केश;
गूंथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर किरणें अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको,
मेरा अभिनव शृंगार नहीं !'—महादेवी वर्मा

'शशि-मुख पर घूंघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये;
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये।'—जयशंकर प्रसाद

हिन्दी-काव्य-साहित्य में जयशंकर प्रसाद '(सं० १९४६-९४) छायावादी कविता के प्रवर्तक माने जाते हैं। सं० १९७० के पूर्व वह ब्रज भाषा में ही कविता करते थे। उनके काव्य-संग्रह हैं, 'शोकोच्छ्वास' (सं०१९६७), 'कानन कुसुम' (सं० १९६९), 'महाराणा का महत्व' (सं० १९७१), 'प्रेम-

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि छायावाद के उक्त सभी उन्नायकों की रचनाओं में छायावाद का एक ही स्वर, एक ही प्राण आया। छायावाद का कवि विश्व के कण-कण में प्राणों की छाया देखता है। वह व्यक्तिवादी होता है। इसलिए उसकी रचना आत्मपरक होती है और उसमें उसकी व्यक्तिगत आशा-निराशा, व्यथा-वेदना, सुख-दुःख आदि सब प्रतिबिंबित होते हैं। उसमें प्रकृति के चेतन स्वरूप का चित्रण रहता है, उस चेतन स्वरूप का जिस पर कवि के मन की छाया पड़ चुकी रहती है। सब कवियो के मन की दशा एक-सी नहीं होती। इसलिए कवि की वृत्ति के अनुसार छायावाद का विकास होता है। निम्न उदाहरण से इस प्रकार का अन्तर स्पष्ट हो जायगा :—

'विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली।'—निराला

'विकसते मुरझाने को फूल,
उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द।
यहाँ किसका अनन्त यौवन !'—महादेवी

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि छायावादी कवियों ने अपनी-अपनी मानसिक वृत्ति के अनुरूप ही रचनाएँ की हैं। प्रसाद की रचना में प्रेम-तत्व की प्रधानता है, पंत की प्रारंभिक रचनाओं में कोमल हृदय का प्रकृति-प्रधान-प्रेम है, निराला की रचनाओं में कल्पना और चिन्तन की प्रधानता है और महादेवी की रचनाओं में वेदना का स्वर है। इस प्रकार प्रत्येक का अपना-अपना मार्ग है।

छायावाद से मिलता-जुलता रहस्यवाद भी इस तृतीय उत्थान-काल की देन है। छायावाद में जहाँ कवि-हृदय प्रकृति से साहचर्य्य स्थापित

(सं० १६८४), 'ग्रंथि' (सं० १६८७), 'गुंजन' (सं० १६८६), 'युगान्त' (सं० १६६४) आदि उनकी रचनाओं के संग्रह हैं। उन्होंने मुक्तक ही लिखे हैं। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में प्रकृति और मानव-जीवन के प्रति एक कैशोर जिज्ञासा और रहस्य-भावना की प्रधानता है, विश्व-चिन्तन का आग्रह नहीं है। 'वीणा' में संगृहीत रचनाओं में प्रकृति-प्रेम का सबल आकर्षण है जो 'ग्रंथि' में वेदना में परिणत हो गया है। 'ग्रन्थि' एक खण्ड-काव्य है, पर उसमें कहानी का महत्त्व नही है। 'पल्लव' उनकी अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। उसमें संगृहीत 'परिवर्तन' शीर्षक रचना पर उनके दार्शनिक विचारो का प्रभाव है। 'गुंजन' में उनकी मानव-प्रेम संबंधी रचनाएँ हैं। उनका मानव-काव्य हिन्दी-काव्य में एक अभिनव सृष्टि है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उन्होने एक नया मोड लिया है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनकी ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जो छायावादी कविता को प्रगतिशील काव्यादर्श की ओर उन्मुख करती हैं। 'चीटी', 'नारी', 'दो लड्के', 'भारत माता', 'चमारों का नाच', 'धोबियों का नृत्य', 'वह बुड्ढा' आदि इस धारा में उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

वेदना और पीड़ा की गायिका **महादेवी वर्मा** (ज० सं० १६६४) की रचनाएँ हिन्दी-काव्य साहित्य में अपना विशिष्ठ स्थान रखती हैं। 'नीहार, (सं० १६८७), 'रश्मि' (सं० १६८६), 'नीरजा' (सं० १६६२), और 'सांध्यगीत' (सं० १६६३) उनकी कविताओं के संग्रह हैं। इन संग्रहों से उनकी काव्य-साधना का पता चलता है। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करती थीं, पर जब खड़ीबोली के काव्य से उनका परिचय हुआ तब वह खड़ीबोली में रचनाएँ करने लगीं और 'चाँद'-द्वारा उन्होंने हमें अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया। राजनीति के क्षेत्र में वह नहीं गयीं। वह बराबर करुणा और वेदना के ही गीत गाती रही। उनके गीति-काव्य का हिन्दी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। अपने गीतों में उन्होंने परम-तत्व, आत्म-तत्व और प्राकृति-तत्व को प्रधानता दी है और वेदना के माध्म से उनका चित्रण किया है। 'नीहार' में उनकी पृथक-पृथक सत्ता है

जिससे प्रभावित होकर वह वैराग्य की ओर झुकती हैं। यहीं से अद्वैतवाद का दृढ़ आधार उन्हें मिलता है। 'रश्मि' में वह इसी आधार पर अपनी काव्य-साधना को अग्रसर करती हैं। 'नीरजा' में उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसमें उनकी विचार-धारा प्रेम और ज्ञान, जगत और ब्रह्म, तथा सूक्ष्म और स्थूल के कूलों को स्पर्श करती हुई प्रवाहित हुई है। 'सांध्य-गीत' उनकी काव्य-साधना का चतुर्थ चरण है। इसकी रचना में साधना के स्वर हैं। इसमें उन्होने सुख-दुःख के बीच सामंजस्य स्थापित किया है। वेदना के सुखद अनुभव उन्होंने इसी में चित्रित किए हैं। इस प्रकार वह क्रमशः अपनी काव्य-साधना के पथ पर आगे बढ़ी हैं। नारी-हृदय की कोमल प्रवृत्तियों को उन्होंने उभारा है और उनका मार्मिक चित्रण किया है।

छायावाद-युग में गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ( ज० सं० १९४० ), मैथिलीशरण गुप्त (ज० सं० १९४३), उदयशङ्कर भट्ट (ज० सं० १९५४) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (ज०सं० १९५४), भगवतीचरण वर्मा (ज० सं० १९६०), जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (ज०सं० १९६१), रामकुमार वर्मा ( ज० सं० १९६२ ), हरिकृष्ण 'प्रेमी' ( ज०सं० १९६२), केशव प्रसाद पाठक (ज०सं० १९६२) आदि ने भी रहस्यवादी-धारा में रचनाएँ की हैं, पर उसे अपनी प्रतिमा से चमकानेवाले और उसका विकास करनेवाले प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ही हैं। उनकी कविताओं का अन्तःस्वर सर्वत्र उदात्त है और उनकी चेष्टा सदा अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख से ऊपर उठकर समूची जाति के सुख-दुःख को अभिव्यक्ति देने की ओर रही है। रामकुमार वर्मा ने अपनी रहस्य-चेतना को व्यक्तिवाद, निराशा और सन्देह की भावनाओं में रङ्गकर प्रकृति और जीवन के शब्द चित्र अङ्कित किए हैं। 'वीर हम्मीर' (सं० १९८१) उनकी प्रारम्भिक रचना है। इसके पश्चात् 'चितौर की चिता' (सं० १९८६), 'अभिशाप' (सं० १९८७), 'अञ्जलि' (सं० १९८८), 'रूपराशि' (सं० १९९०), 'निशीथ' (सं० १९९०), 'चित्ररेखा' (सं० १९९२), 'चन्द्रकिरण' (सं० १९९४), और 'जौहर' (सं० १९९६) उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

छायावादी-रहस्यवादी-धारा के अतिरिक्त तृतीय उत्थान-काल में

**राष्ट्रीय धारा का विकास**

राष्ट्रीय धारा में भी पर्याप्त रचनाएँ मिलती हैं। इस धारा का सूत्रपात भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। उस समय राष्ट्री भावना केवल जगाई गयी थी। द्विवेदी-युग में विदेशी शासन-सत्ता के विरुद्ध असंतोष प्रकट किया गया और इस काल में उस असन्तोष ने आन्दोलन का रूप धारण किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सारा देश अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। देश-प्रेम की भावना से सब ओत-प्रोत हो गये। ऐसे समय में कवियों ने अपनी रचनाओं में उनकी भावनाओं का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने समय के राष्ट्रीय आंदोलनों के उतार-चढ़ाव को देखा, उनमें सक्रिय भाग लिया और सांप्रदायिक संकीर्णता एवं समाज-सुधार की भावना से आगे बढ़कर उनका सफल चित्रण किया। उन्होंने अतीत के गौरव-गान गये और अपनी ओजस्वी वाणी से जनता के स्वाभिमान को जाग्रत किया। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य, खण्डकाव्य गीतिकाव्य, सब कुछ लिखा और सब के द्वारा राष्ट्रीय भावना का स्वर ऊँचा किया। लोक-प्रचलित पौराणिक कथाओं, इतिहास-वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से उन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को खूब सजाया और उन आख्यानों, वृत्तो तथा घटनाओं के माध्यम से अपने युग की आशा-निराशा के साथ-साथ उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति एवं विदेशी सत्ता के प्रति क्रांति का स्वर मुखर किया। इसलिएइस धाराको राष्ट्रीय धारा कहा जाता है।

राष्ट्रीय धारा में सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त (ज० सं० १६४३) का नाम आता है। 'वैतालिक' (१६७६), 'शकुन्तला' (१६७७), 'पत्रावली' (सं० १६७८), 'पञ्चवटी' (सं० १६८२), 'अनघ' (स० १६८२), 'स्वदेश सङ्गीत' (सं० १६८२), 'हिन्दू' (सं० १६८४), 'वक-संहार' (सं० १६८५), 'वनवैभव' (सं० १६८५), 'सैरन्ध्री' (सं० १६८५), 'शक्ति' (सं० १६८५), 'गुरुकुल' (सं० १६८६), 'विकट भट' (सं० १६८६), 'झङ्कार' (सं० १६८६) 'साकेत' महाकाव्य (सं० १६८८), 'यशोधरा' (सं० १६६०), 'मङ्गलघट' (सं० १६६१), 'द्वापर' (सं० १६६३), 'सिद्धराज' (सं० १६६३) आदि उनके

इस काल के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में उनकी राष्ट्रीय भावना का अच्छा विकास हुआ है। 'साकेत' और 'यशोधरा' उनकी स्थायी कीर्ति के दो स्तम्भ हैं। 'साकेत' राम-काव्य की परम्परा का महाकाव्य है। इसमें राम-वन-गमन के पश्चात् की अयोध्या का वर्णन है और भरत, उर्मिला, कैकेयी, सुमित्रा आदि सभी का चरित्र-चित्रण किया गया है। 'यशोधरा' की रचना प्राचीन चंपू के ढङ्ग की है। मार्मिक भावों की व्यंजना गीतो में की गई है और कथासूत्र का माध्यम गद्य रखा गया है। विरहिणी यशोधरा और कुमार राहुल का चरित्र-चित्रण इस काव्य में अत्यन्त करुणोत्पादक और मार्मिक हुआ है। 'झंकार' में उनकी मुक्तक रचनाएँ हैं।

गुप्तजी के अतिरिक्त गया प्रसाद शुक्ल सनेही (ज० सं० १९४०) ने भी राष्ट्रीय धारा में अत्यन्त ओजस्वी रचनाएँ की हैं। 'जी न चुराओ, रण से, समर सूरवत डटे रहो'—आदि पंक्तियाँ जहाँ उनके राष्ट्र-प्रेम की सूचना देती हैं वहाँ 'तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ'—आदि से उनकी विनयशील भावुकता टपकती है। 'कृषक-क्रन्दन' (सं० १९७३), 'कुसुमांजलि' (सं० १९७३), 'त्रिशूल तरंग' (सं० १९७८), 'राष्ट्रीय मंत्र' (सं०१९७८), और 'राष्ट्रीय वीणा' (सं० १९७९) उनके काव्य-संग्रह हैं। माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' (ज० सं० १९४५) भी इसी धारा के जागरूक कवि हैं। 'हिम-किरीटिनी', (सं० १९९८) उनकी मुक्तक रचनाओं का संग्रह है। इस संग्रह की सभी रचनाएँ राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। 'मुझे तोड़ लेना वनमाली ! उस पथ पर देना तुम फेंक। मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक' में उन्होंने उत्सर्ग और त्याग की जो भावना प्रकट की है वही राष्ट्रीय चेतना का प्राण है। रामनरेश त्रिपाठी (ज० सं० १९४६) ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो में 'मिलन' (सं० १९७५), 'पथिक' (सं० १९७८) 'मानसी' (सं० १९८४), 'स्वप्न' (सं० १९८६) आदि काव्य-ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों में से 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' के कारण उन्हें विशेष ख्याति मिली है। इन खण्ड काव्यों में उन्होंने पौराणि अथवा ऐतिहासिक पात्रों का आधार न लेकर

स्वयं अपनी कल्पना से राष्ट्र-प्रेमी पात्रों की सृष्टि की है और उन्हें तत्कालीन आन्दोलनों के बीच रखकर चित्रित किया है। प्रकृति के अनूठे चित्रण भी उन्होंने किए हैं। 'स्वप्न' में देश-प्रेम और त्याग का उच्च आदर्श देखिए:—

**'विघ्न समस्त करें पद-पद पर, मेरे आत्म-तेज को जागृत।**
**निष्फलता मुझको अधिकाधिक करे सचेष्ट, सतर्क, दृढ़ व्रत॥**
**पश्चाताप मार्ग दिखलावे, भय रखे चौकसी निरन्तर।**
**करे निराशा इस जीवन को शान्ति, स्वतंत्र, सरल शुचि सुन्दर॥'**

त्रिपाठीजी की उक्त पंक्तियों में उनके युग का, उस युग का जिसमे, असहयोग आन्दोलन के विफल होने पर, निराशा, भय, आतंक, पश्चाताप आदि ने जन-जीवन में प्रवेश पा लिया था, सफल चित्रण हुआ है। इस दृष्टि से त्रिपाठीजी हिन्दी के प्रथम राष्ट्र-कवि कहे जा सकते हैं। ठाकुर गोपालशरण सिंह (ज० सं० १६४८) ने भी इसी अवसर पर अपनी राष्ट्रीय रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। कवित्त और सवैये उन्होंने बहुत ही सुन्दर लिखे हैं। वह प्रेम के कवि हैं। 'माधवी' (सं० १६८६), 'कादम्बिनी' (स० १६६४), 'मानवी' (सं० १६६५), आदि उनके काव्य-संग्रह हैं। 'कादम्बिनी' में उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ है। 'सुमना' (सं० १६६८) की रचनाओं पर गांधीवाद का प्रभाव है। प्रकृति के चित्रण में उनकी प्रतिभा विशेष रमी है। नारी-जीवन के कई सुन्दर चित्र उन्होने उतारे हैं। सियारामशरण गुप्त (ज० सं० १६५२) करुण-भावना के कवि हैं। 'मौर्य-विजय' (सं० १६७१), 'अनाथ' (सं० १६७८), 'आर्द्रा' (सं० १६८५), 'विषाद' (सं० १६८६), 'दूर्वादल' (सं० १६८६), 'आत्मोत्सर्ग' (सं० १६६०), 'पाथेय' (सं० १६६१), 'मृण्मयी' (स० १६६३), 'बापू' (सं० १६६५) आदि उनकी काव्य-कृतियाँ हैं। उनकी इन रचनाओ पर गाँधीवाद और मानववाद का विशेष प्रभाव है। 'हिंसा का एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर' आदि उनकी पंक्तियाँ गाँधीवादी प्रभाव की ओर संकेत करती हैं। राष्ट्र की विजय के गीत उन्होंने मुक्त कण्ठ से गाए हैं:—

'कारणवश जब हमें क्रोध कुछ हो आता है।
अवनि और आकाश प्रकंपित हो जाता है॥
यही हाथ वह कठिन कार्य कर दिखलाता है—
स्वयं और भी जिसे देखकर सकुचाता है॥
हम धीर, वीर, गंभीर हैं, है हमको कब कौन भय!
फिर एक बार हे विश्व! तुम, गाओ भारत की विजय॥'

अनूप शर्मा (ज० सं० १९५७) वीर रस के प्रसिद्ध कवि हैं। 'सिद्धार्थ' महाकाव्य (सं० १९९४) उनकी उत्कृष्ट रचना है। ऐतिहासिक और सामाजिक सभी विषयों की ओर उनकी दृष्टि गई है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान-द्वारा उद्घाटित सृष्टि और जीवन-संबंधी नए तथ्यों को भी उन्होंने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति दी है। कवित्त के अतिरिक्त संस्कृत के शिखरिणी, मंदाक्रान्ता आदि छन्दों पर उनका पूरा अधिकार है। गुरुभक्तसिंह 'भक्त' (ज० सं० १९५०) अपने प्रकृति-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। 'सरस सुमन' (सं० १९८२), 'कुसुम कुञ्ज' (सं० १९८४), 'वन-श्री' (सं० १९८९), 'वंशी-ध्वनि' (सं० १९८९), 'नूरजहाँ' महाकाव्य (सं० १९९२) आदि उनके काव्य-ग्रंथ हैं। उनकी शैली वर्णनात्मक है। उनका महाकाव्य 'नूरजहां' का हिन्दी-जगत में विशेष आदर है। सुभद्राकुमारी चौहान (सं० १९६१-२००४) राष्ट्रीय धारा की प्रमुख कवियित्री हैं। उनकी वर्णनात्मक शैली में जो भाव-तन्मयता, ओजस्विता और प्रवाह है वह अन्यत्र नहीं मिलता। उनकी कविता के दो पक्ष हैं: एक में राष्ट्रीयता का उद्घोष, तड़प और तेज है, दूसरे में पारिवारिक जीवन की सरसता एवं वात्सल्य की गरिमा और मधुरता है। इन्हीं दोनों रूपों के बीच उनकी प्रतिभा का विकास हुआ है। 'झांसी की रानी' (सं० १९८३) और 'मुकुल' (सं० १९८८) उनके काव्य-संग्रह हैं। उन्होंने बहुत नहीं लिखा, पर जितना लिखा उसी के कारण वह हिन्दी-जगत में अमर हैं। उनकी 'झाँसी की रानी' हिन्दी का अमर काव्य है। 'वीरों का वसन्त' भी उनकी वीर रस प्रधान रचना है। उदाहरण लीजिए :—

'कहदे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझमें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त !'

उक्त कवियो के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों की भी रचनाएँ इस काल में मिलती हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १६२२-२००४)-कृत 'चुभते चौपदे' (सं० १६८६), 'चोखे चौपदे' (सं० १६७६) और 'पद्य प्रसून' (सं० १६८२); उदयशंकर भट्ट (ज० सं० १६५४)-कृत 'तक्षशिला'-महाकाव्य (सं० १६८८), और 'राका' (सं० १६६२); गोपालसिंह नैपाली (ज० सं० १६६०)-कृत 'पंछी' (सं० १६६१) और 'उमंग' (सं० १६६१); गोकुलचन्द शर्मा कृत 'गाधी-गौरव' (सं० १६७६); रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'-(ज० स० १६७२)-कृत 'मधूलिका' (सं० १६६६) खड़ीबोली की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

खड़ीबोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा-परंपरा में भी रचनाएँ हुई हैं। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (सं० १६२३-८६)-कृत 'गंगावतरण'(सं० १६८५) और 'उद्धव-शतक' (सं० १६८८); रामचन्द्र शुक्ल (स० १६४१-६८)-कृत 'बुद्ध चरित' (सं० १६७६); वियोगी हरि (ज० सं० १६५३)-कृत 'वीर सतई' (सं० १६८४); दुलारेलाल भार्गव-कृत 'दुलारे-दोहावली' (सं० १६६१), रामनाथ ज्योतिषी-कृत 'राम चन्द्रोदय' (सं० १६६४); केसरी सिंह बारहट-कृत 'प्रताप चरित' (सं ०१६६२); राय कृष्णदास (ज० सं० १६४६)-कृत 'ब्रजरज' (सं० १६६३); उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश'-कृत 'ब्रज भारती' (सं० १६६३); वचनेश मिश्र-कृत 'शबरी' (सं० १६६३) आदि इस काल की ब्रजभाषा में प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

काव्य की भाँति ही हिन्दी के नाट्य-साहित्य में भी विशेष परिवर्तन हुए हैं। द्विवेदी-युग में किसी अच्छे मौलिक नाटक की रचना नहीं हुई,

पर इस काल में ऐसे कई नाटककार सामने आये जिन्होंने हिन्दी-नाट्य-साहित्य को अपनी प्रतिभा से चमका दिया। नए विषय, नई शैली, नई सजधज, नए पात्र! इस प्रकार भारतेन्दु युग और द्विवेदी-युग से जो नाट्य-परंपरा चली आ रही थी उसका रूप-रंग बहुत कुछ बदल गया और एक नवीन परंपरा का उदय हुआ। इस परंपरा के सूत्रधार थे जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६-९४)। उन्होंने कुल नौ नाटक लिखे। 'राज्यश्री' (सं० १९७२) उनका पहला ऐतिहासिक नाटक है। इसके पश्चात् 'विशाख' (सं० १९७८), 'अजातशत्रु' (सं० १९७९), 'स्कन्दगुप्त' (सं० १९८५), 'चन्द्रगुप्त' (सं० १९८८) और 'ध्रुव-स्वामिनी' (सं० १९९०) उनके ऐतिहासिक; 'जनमेजय का नागयग' (सं १९८३) और कामना (सं० १९८४) उनके पौराणिक और 'एक घूंट' (सं० १९८६) उनके भावात्मक नाटक हैं। इन नाटकों की रचना-शैली पर अंगरेजी नाटकों का प्रभाव है, पर उनकी विषय-वस्तु, उनका वातावरण और उनमें आए हुए पात्रों का चरित्र-विकास—सब भारतीय है। उन पर अंगरेजी प्रभाव केवल इसी अर्थ में है कि उनमें भारतीय नाट्य-परंपरा के अनुसार वर्जित मृत्यु, वध, युद्ध और चुंबन-आलिंगन आदि दृश्यों को भी रंगमंच पर दिखा दिया गया है। कला की दृष्टि से प्रसादजी के सभी नाटक उच्च कोटि के हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक कथा-वस्तु के आधार पर उन्होंने अपने युग की राष्ट्रीय चेतना का जिस कौशल से चित्रण किया है वह अत्यन्त महान है। उनके नाटकों के पश्चात् माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' (सं० १९७०) एक सुन्दर कृति है। वेचशन शर्मा 'उग्र'-कृत 'महात्मा ईसा' (सं० १९७९) 'चार वेचारे' (सं० १९९४), 'डिक्टेटर' (सं० १९९४) और 'चुंबन' (स० १९९५); सुदर्शन (ज० सं० १९५३)-कृत 'दयानन्द' (सं० १९७४), 'अंजना' (स० १९८०) 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (सं० १९८४) और 'भाग्य चक्र' (सं० १९९५); प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (सं० १९७९), 'कर्बला' (सं० १९८१), 'प्रेम की वेदी' (सं० १९९०); जगन्नाथ प्रसाद 'मलिन्द' (ज० सं० १९६४)-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा'

नाट्य-साहित्य का विकास

(सं० १९८५); गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी'(सं० १९८०), 'वरमाला'(सं० १९८२), 'राजमुकुट'(सं० १९९२) और 'अंगूर की बेटी' (सं० १९९४); सुमित्रानन्दन पंत-कृत'ज्योत्सना'(सं० १९९१);रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'सुभद्रा' (सं० १९८१), 'जयन्त' (सं० १९९१), 'प्रेमलोक' (सं० १९९१) और 'बफाती चाचा' (सं० १९९६); चतुरसेन शास्त्री-कृत 'अमर राठौर' (सं० १९८४), 'उत्सर्ग' (सं० १९८५), और 'मेघनाद' (सं० १९९३); वृन्दावनलाल वर्मा (ज० सं० १९४७)-कृत 'धीरे-धीरे' (सं० १९९६); वियोगी हरि (ज० सं० १९५३)-कृत 'छद्म योगिनी' (सं० १९८०), 'प्रबुद्ध यामुन' (स० १९८६); विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-कृत 'भीष्म' (सं० १९७५);कामताप्रसाद गुरु(सं० १९३२-२००५)-कृत 'सुदर्शन'(सं० १९८८); बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'बेन चरित्र' (सं० १९७८)और 'दुर्गावती' (सं० १९८२); मिश्र बंधुओं-कृत'पूर्व भारत' (सं० १९७९) और 'उत्तर भारत' (सं० १९८०); बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत 'मीराबाई' (सं० १९७५); 'असत्य संकल्प' (सं० १९८२) और 'वासना-वैभव' (सं० १९८२); सेठ गोविन्ददास-कृत 'हर्ष' (सं० १९९२); हरिकृष्ण 'प्रेमी'-कृत 'रक्षाबन्धन' (सं० १९९१), 'शिवा-साधना' (१९९४) और 'प्रतिशोध' (सं० १९९४) तथा उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (सं० १९९०), 'सिन्ध पतन' (सं० १९९१) 'अम्बा' (सं० १९९२), 'सगर-विजय' (सं० १९९४) 'मत्स्यगंधा' (सं० १९९४) और 'विश्वामित्र' (सं० १९९५) में उच्चकोटि की नाटकीय कला है।

समस्या-नाटक का सूत्रपात करनेवाले लक्ष्मीनारायण मिश्र (ज० सं० १९६०) हैं। वह बुद्धिवादी कलाकार हैं और अपनी रचना-शैली में प्रसिद्ध नाटककार इब्सेन (सं० १८९४-१९६३) से प्रभावित हैं। 'संन्यासी' (१९८८), 'राक्षस का मंदिर' (सं १९८८), 'मुक्ति का रहस्य' (सं० १९८९), 'राजयोग' (सं० १९९१) और 'आधी रात' (सं० १९९४) उनके समस्या-नाटक हैं। इन नाटकों की रचना-शैली प्रसाद-परंपरा के नाटकों से भिन्न है। इनमें व्यक्ति की समस्या उठाई गयी है और तर्क से उसका हल निकालने की चेष्टा की गयी है। नारी की समस्या इनमें प्रमुख है। उनकी परंपरा मे भी

अनेक नाटक लिखे गए हैं। 'प्रहसन' की रचना भी हुई है। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव-कृत 'उलट फेर' (सं० १९७५), 'दुमदार आदमी' (सं० १९८६), 'गड़बड़झाला' (सं० १९७६), 'मरदानी औरत' (सं० १९७७) और 'भूल चूक'(सं० १९७७); राधेश्याम-कृत 'कौंसिल की मेम्बरी'(सं० १९७७), बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'लबड़ धौं धौं' (सं० १९८३), 'विवाह-विज्ञापन' (सं० १९८४), और 'मिस अमरीकन' (सं० १९८६), तथा रामदास गौड़-कृत 'ईश्वरीय न्याय' (सं० १९८१) अच्छे प्रहसन हैं जो अभिनेय हैं। इन प्रहसनों में घटनाओं का विकास स्वयं होता है। लेखक ने कोई उपदेशात्मक परिणाम निकालने का प्रयास नहीं किया है।

उक्त मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और अंगरेजी नाटकों के अनुवाद भी हुए। संस्कृत से 'मालतीमाधव' (सं० १९७५), 'स्वप्न वासवदत्ता' (सं० १९८६), मध्यम व्यायोग (सं० १९८२), 'कुन्दमाला' (सं० १९८८) और 'नागानन्द' (सं० १९९२) के अनुवाद हुए। टालस्टाय के तीन नाटकों के अनुवाद 'कलवार की करतूत' (सं० १९८३), 'अंधेरे में उजाला' (सं० १९८५) और 'जिंदालाश' (सं० १९८६) के नाम से प्रकाशित हुए। जान गाल्सवर्दी के नाटकों के अनुवाद 'हड़ताल' (सं० १९८७) और 'न्याय' (सं० १९८८) के नाम से निकले। मारिस मैटरलिंक के एक नाटक का अनुवाद 'उन्मुक्ति का बंधन' (सं० १९७३) के नाम से किया गया। मोलियर के प्रहसन 'मार मार का हकीम' (सं०१९७४), 'आँखों में धूल' (सं० १९७४), 'हवाई डाक्टर' (सं० १९७४), 'नाक में दम' (सं० १९७५), 'साहब बहादुर' (सं० १९७५) और 'लालबुझक्कड़' (सं० १९७५) भी प्रकाशित हुए। जर्मन-कवि शीलर के एक नाटक का 'प्रेम प्रपंच' (सं० १९८४), के नाम से अनुवाद हुआ। इब्सेन का एक नाटक 'चाँदी की डिबिया' के नाम से अनुवाद किया गया। शेक्सपियर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के भी कई अनुवाद निकले। सारांश यह कि आलोच्य काल में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, समस्या-प्रधान, प्रहसन—सभी प्रकार के नाटक लिखे गए और अनुवाद-कार्य भी हुआ।

तृतीय उत्थान-काल के नाट्य साहित्य में एक विशेषता और आई और वह थी एकांकी-कला का प्रादुर्भाव। खोजने से इसके पहले भी कुछ ऐसे नाटक मिल जायँगे जिन्हें एकांकी की संज्ञा दी जा सकती है, पर वास्तव में इस प्रकार की रचना का सूत्रपात इसी काल में हुआ। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रसादजी ने 'एक घूंट' (सं० १६८६) लिखकर संकेत किया। इसके पश्चात् कई एकांकी लिखे गये। सबसे पहले भुवनेश्वरप्रसाद के छः एकाकियों का संग्रह 'कारवाँ' (सं० १६६२) निकला। इन एकांकियों पर वर्नार्डशा (सं० १६१३-२००७) की भाव-धारा का विशेष प्रभाव था। फिर भी हिन्दी-जगत में इनका आदर हुआ। इनके पश्चात् गणेश प्रसाद द्विवेदी-कृत 'सोहाग-बिन्दी' (सं० १६८२) प्रकाशित हुआ। इसमें भी छः एकाकी संगृहीत थे। डा० रामकुमार वर्मा ने भी कई एकांकी लिखे और उनका पहला संग्रह 'पृथ्वीराज की आखें' सं० १६६३ में निकला। जगदीशप्रसाद माथुर ने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही 'भोर का तारा' सं० १६६४ नामक एकांकी लिखा और वह अभिनीत हुआ। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कृत 'देवताओं की छाया में' सं० १६६५ में प्रकाशित हुआ। सत्येन्द्र का 'कुनाल' (सं० १६६४) नामक एकांकी भी सामने आया। इस प्रकार हिन्दी-नाट्य-साहित्य में एकाकी-रचना की परंपरा चल पड़ी और कई सुन्दर और उत्कृष्ट एकांकी लिखे गये।

**उपन्यास-साहित्य का विकास**

तृतीय उत्थान-काल में उपन्यास-साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। द्विवेदी-युग ने उपन्यास के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया था। तिलसमी, ऐय्यारी, जासूसी और घटना-प्रधान ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यासों का हिन्दी जाननेवाले लोगों में अच्छा प्रचार हो चुका था। परन्तु अच्छे, कलात्मक और सुरुचिपूर्ण उपन्यासों के अभाव में अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में उनका प्रचार नहीं था। आलोच्य काल में इस अभाव की पूर्ति प्रेमचन्द (सं० १६३७-१६६३) ने की। प्रेमचन्द ने पहले उर्दू में लिखना आरंभ किया था, पर शीघ्र ही वह हिन्दी की ओर मुड़े और फिर उन्होंने

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की छत्र-छाया में एक ऐसे कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया जिसकी उस समय अत्यंत आवश्यकता थी। उनके समय में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के कारण देश और देश की जनता का दम घुट रहा था। इसलिए उन्होने अपने उपन्यासों में अपने समय का प्रतिनिधित्व किया। इससे उनके उपन्यास सजीव हो उठे और उन्हें पढ़कर लोगों ने घर बैठे अपने देश की दशा का परिचय प्राप्त किया। 'वरदान' (सं० १६७७) और 'प्रतिज्ञा' (सं० १६८६) उनके उर्दू से हिन्दी में आनेवाले उपन्यास थे। उनका पहला हिन्दी-उपन्यास 'सेवा सदन' (सं० १६७५) है। इसके पश्चात् 'प्रेमाश्रम', दो भाग (सं० १६७८), 'निर्मला' (सं० १६७६), 'कायाकल्प' (सं० १६८१) 'रंगभूमि' (सं० १६८५) 'दुर्गादास' (सं० १६८५), 'प्रेम प्रतिज्ञा' (सं० १६८६), 'गबन' (सं० १६८८), 'कर्मभूमि' (सं० १६८६) और 'गोदान' (सं० १६६३) प्रकाशित हुए। इन उपन्यासों ने हिन्दी-जगत में धूम मचा दी। 'कायाकल्प' को छोड़कर उनके सभी उपन्यास बहुत लोक-प्रिय हुए। अपने उपन्यासों में उन्होंने उन्हीं समस्याओं को उठाया जिनका जन-जीवन से संबंध था। पारिवारिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सब समस्याओं को लेकर उन्होने उनका प्रतिनिधित्व करने वाले वास्तविक पात्रों की कल्पना की और उसके द्वारा कथा-सूत्र आगे बढ़ाया। अपने पात्रो के चुनाव के लिए उन्होंने देश का कोना-कोना झाँका और उसकी समस्याओं का अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने अपने उपन्यासों को सजीवता प्रदान की।

प्रेमचन्द की परंपरा में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (सं० १६४८-२००३) ने 'माँ' (सं० १६८६) और 'भिखारिणी' (सं० १६८६) की रचना की। राधिकारमणप्रसाद सिंह (ज० सं० १६४८) 'तरंग' (सं० १६७८) और 'राम रहीम' (सं० १६६४) लेकर सामने आये। शिवपूजन सहाय (ज० सं० १६५०)-कृत 'देहाती दुनिया' (सं० १६८२) निकला। भगवतीप्रसाद वाजपेयी (ज० सं० १६५६)-कृत 'प्रेम-पथ' (सं० १६८३), 'मीठी चुटकी' (सं० १६८४), 'अनाथ पत्नी' (सं० १६८५), 'त्यागमयी' (सं० १६८६),

'लालिमा' (सं० १६६१); 'प्रेम निर्वाह' (सं० १६६१), 'पतिता की साधना' (सं० १६६३) और 'पिपासा' (सं० १६६४) प्रकाशित हुए। जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' (सं० १६८६), 'तितली' (सं० १६६१) और 'इरावती' (अपूर्ण: सं० १६६५) की रचना की। 'कंकाल' में उन्होंने स्त्री-पुरुष के प्रेम की एक मौलिक समस्या का उद्घाटन किया। उसमें उन्होंने समाज के पतित प्राणियों के प्रति सहानुभूति प्रकट की और उनके उद्धार के लिए लोगों को सचेष्ट किया। वृन्दावनलाल वर्मा (ज० सं० १६४७) ने 'गढ़ कुंडार' (सं० १६८४) और 'विराटा की पद्मनी' (सं० १६६०) नामक ऐतिहासिक और 'लगन' (सं० १६८५), 'संगम' (सं० १६८५), 'प्रत्यागत' (सं० १६८६), 'प्रेम की भेंट' १६८७), और 'कुंडलीचक्र' (सं० १६८७) नामक सामाजिक उपन्यास लिखे। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने 'अप्सरा' (सं० १६८८), 'लिली' (१६६०), 'अलका' (सं० १६६०) और 'निरुपमा' (सं० १६६३) की रचना की। गोविन्दवल्लभ पन्त ने 'सूर्यास्त' (सं० १६७६), 'प्रतिमा' (सं० १६६१), 'मदारी' (सं० १६६३) और 'जूनिया' (सं० १६६५) नामक उपन्यास लिखे।

जैनेन्द्रकुमार (ज० सं० १६६२) हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के रूप में सामने आये। विषय-वस्तु, भाषा, शैली, प्रवृत्ति तथा अन्य सभी दृष्टियों से उनका क्षेत्र प्रेमचन्द्र से भिन्न और मौलिक था। उन्होंने 'परख' (सं० १६८७), 'तपोभूमि' (सं० १६६३), 'सुनीता' (सं० १६६३) और 'त्यागपत्र' (सं० १६६४) नामक मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे। अपने इन उपन्यासो में उन्होंने क्षुद्र की महत्ता का उद्घाटन मनोविज्ञान और दर्शन-द्वारा किया। उनके पात्रों की समस्त समस्याएँ मनोवैज्ञानिक हैं जो दार्शनिक भाव भूमि पर चित्रित की गयी हैं। इसी समय भगवतीचरण वर्मा (ज० सं० १६६०) ने 'पतन' (सं० १६८५) और 'चित्रलेखा' (सं० १६६१) की रचना की। 'चित्रलेखा' उनका सर्वोत्तम उपन्यास है। 'तीन वर्ष' (सं० १६६३) उनका वैसा उपन्यास नहीं है। इन उपन्यासो के अतिरिक्त सियारामशरण गुप्त (ज० सं० १६५२)-कृत 'गोद' (सं० १६६०),

'मानुषी' (सं० १९९०), 'अंतिम आकांक्षा' (सं० १९९१) और 'नारी' (सं० १९९५); राहुल सांकृत्यायन-कृत 'बीसवीं सदी' (सं० १९८८), 'सोने की ढाल' (सं० १९९४) और 'जादू का मुल्क' (सं० १९९५); अनूपलाल मंडल-कृत 'निर्वासिता' (सं० १९८३), हरिभाऊ उपाध्याय (ज० सं० १९४९)-कृत 'प्रियदर्शी अशोक' (सं० १९७७), उषादेवी मित्रा-कृत 'पिया' (सं० १९४८), और 'वचन का मोल' (सं० १९९३); ऋषभचरण जैन-कृत 'सत्याग्रह' (सं० १९८७), 'रहस्यमयी' (सं० १९८८), 'चाँदनी रात' (सं० १९९४), और 'दिल्ली का कलंक' (सं० १९९५); विनोदशंकर व्यास-कृत 'अशांत' (सं० १९८४); प्रतापनारायण-कृत 'विदा' (सं० १९८५); चतुरसेन शास्त्री-कृत 'हृदय की परख' (सं० १९७५), 'व्याभिचार' (सं० १९८१); 'इस्लाम का विष वृक्ष' (सं० १९९०), 'अमर अभिलाषा' (सं० १९९०) और 'आत्मदाह' (सं० १९९३) तथा बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चन्द हसीनों के खतूत' (स० १९८४), 'दिल्ली का दलाल' (सं० १९८४), 'बुधुआ की बेटी', (सं० १९८५), 'शराबी' (सं० १९८७), 'सरकार तुम्हारी आँखों में' (सं० १९९४) और 'चुंबन' (सं० १९९४) इसी काल में प्रकाशित हुए। चतुरसेन शास्त्री और बेचन शर्मा 'उग्र' एक ही प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं और प्रकृतवाद से प्रभावित हैं। फ्रांसीसी उपन्यासकार जोला की तरह वे समाज के कुरूप अंगो और वर्जित पहलुओं का निर्भीक होकर चित्रण करते हैं। परोक्ष में चलनेवाले भ्रष्टाचारों और कुरुचिपूर्ण प्रवृत्तियों का अंकन करने में उनका हृदय विशेष रमता है।

**कहानी का विकास**

उपन्यास के साथ-साथ तृतीय उत्थान-काल में कहानियाँ भी खूब लिखी गयीं। जयशंकर प्रसाद (सं० १९४८-९४) का द्वितीय कहानी-संग्रह 'प्रतिध्वनि' सं० १९८३ में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् 'आकाश-दीप' (सं० १९८६), 'आँधी' (सं० १९८६) और 'इन्द्रजाल' (सं० १९९४) निकले। प्रेमचन्द्र (सं० १९२७-९३) के कहानी-संग्रह 'प्रेम पूर्णिमा' (सं० १९७५), 'प्रेम पचीसी' (सं० १९८०) 'प्रेम प्रसून' (सं० १९८१), 'प्रेम-द्वादशी' (सं० १९८३), 'प्रेम तीर्थ'

(सं० १६८६), 'प्रेम चतुर्थी' (सं० १६८६), 'अग्नि समाधि' (सं० १६८६), 'सप्त सुमन' (सं० १६६१) आदि भी प्रकाशित हुए। उन्होंने प्रत्येक वर्ग और सामाजिक स्थिति के लोगो की कहानियाँ लिखीं। उनके कहानी-संग्रहों में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक—सभी प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। मूलतः वह एक यथार्थवादी कलाकार थे। उनकी परंपरा में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (सं० १६४८-२००३) ने भी अत्यन्त सुन्दर कहानियाँ लिखीं। 'गल्प मंदिर' (सं० १६७६), 'चित्रशाला' दो भाग (सं० १६८१), 'मणि माला' (सं० १६८६), 'कल्लोल' (सं० १६६०) और 'पेरिस की नर्तकी' (सं० १६६६) उनके कहानी संग्रह हैं। बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (ज० सं० १६५३) ने सं० १६७३ से कहानियाँ लिखना आरंभ किया। 'पुष्पलता' (सं० १६७६), 'सुप्रभात' (सं० १६८०), 'परिवर्तन' (स० १६८३), 'सुदर्शन-सुधा' (सं० १६८३) 'तीर्थ-यात्रा' ( सं० १६८४ ), 'सुदर्शन-सुमन' ( सं० १६६१ ), 'गल्प-मञ्जरी' (सं० १६६१) आदि उनके कहानी-संग्रह हैं। उनकी कहानियाँ राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक—सभी प्रकार की हैं। उनकी सामाजिक कहानियाँ पारिवारिक जीवन की समस्याओं को लेकर चली हैं जिन पर आर्यसमाजी मनोवृत्ति का प्रभाव है। राय कृष्णदास ( ज० सं० १६४८ ) के दो कहानी संग्रह 'अनाख्या' (सं० १६८६) और 'सुधांशु' (स० १६८६ ) अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी कहानियाँ भावना-प्रधान हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ( ज० सं० १६५६ ) के दो कहानी-संग्रह 'मधुपर्क' (सं० १६८६) और 'दीपमालिका' ( सं० १६८८ ) इसी काल में प्रकाशित हुए हैं।

जैनेन्द्रकुमार ( ज० सं० १६६२ ) ने अपनी कहानियों में वाह्य और आन्तरिक जीवन के उभय पक्षों को पूरी मनोवैज्ञानिक सचाई के साथ समन्वित करने की कोशिश की है और हिन्दी-कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता एवं दार्शनिक गहराई प्रदान की है। 'फाँसी' (सं० १६८६ ), 'वातायन' ( सं० १६८८ ), 'एक रात' ( सं० १६६२ ), 'नीलम देश की राजकन्या' ( सं० १६६५ ), 'नई कहानियाँ' ( सं० १६६५ ) आदि उनके

प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। अन्नपूर्णानन्द-कृत 'महाकवि चच्चा' (सं० १६८६) भी एक अच्छा संग्रह है। बेचन शर्मा 'उग्र' की दिशा उनसे भिन्न हैं। पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज के विरुद्ध जितना गहरा आक्रोश और घृणा उनके मन में है, उनकी कहानियों में वह उतनी ही आवेगमयी ओज-पूर्ण शैली और कलात्मक चरित्र-चित्रण में व्यक्त हुई हैं। 'चाकलेट' (सं० १६८४), 'चिनगारियाँ' (सं० १६८४), 'दोजख की आग' (सं० १६८५), 'बलातकार' (सं० १६८५), 'गल्पांजलि' (सं० १६८५), 'क्रान्तिकारी कहानियाँ' (सं० १६६६) आदि उनके कहानी-संग्रह हैं। भगवतीचरण वर्मा की कहानियाँ 'इन्स्टालमेंट' (सं० १६६२) में संगृहीत हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह-कृत 'गल्प-कुसुमावली,' (स० १६८१), 'सावनीसमा' (सं० १६६५), 'चुनी कलियाँ' (सं० १६६८) आदि भी सफल रचनाएँ हैं। अज्ञेय जी ने भी इसी समय से कहानी लिखना आरम्भ किया है। 'विपथगा' (सं० १६६४) में उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ संगृहीत हैं। यही हैं इस काल के प्रसिद्ध कहानीकार जिन्होंने अपनी-अपनी रुचि और प्रभाव के अनुसार हिन्दी-कहानी-साहित्य का विकास किया है।

**निबन्ध-साहित्य का विकास**

उपन्यास, कहानी, नाटक और एकांकी के साथ-साथ गद्य-साहित्य के विकास में निबन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग तक हिन्दी में सैकड़ों निबन्ध लिखे गए हैं और उनके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की गद्य-शैलियों का विकास हुआ है। सरदार पूर्णसिंह (सं० १६३८-८८) के निबंध यद्यपि संख्या में थोड़े हैं, पर वे अपने विकास के पथ पर हैं। उनके पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं० १६४१-६८) के निबन्ध हैं। शुक्लजी ने सरदार पूर्णसिंह की भावात्मक शैली के स्थान पर आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक शैलियाँ अपनायी हैं। उनका प्रायः संपूर्ण निबंध-साहित्य इन्हीं दोनो शैलियों के अन्तर्गत आता है। आलोचनात्मक शैली के अंतर्गत उनके वे निबन्ध हैं जिनमें किसी कवि अथवा विषय की आलोचना मिलती है। इनके दो रूप हैं: (१) सैद्धान्तिक और (२) व्यावहारिक। 'कविता क्या है?',

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' आदि उनके सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबन्ध हैं। इनके अतिरिक्त भारतेन्दु, सूर, तुलसी, जायसी आदि पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं वे व्यावहारिक आलोचनात्मक निबन्ध हैं। व्याख्यात्मक-शैली के अन्तर्गत उनके मनोविकार-सम्बंधी निबन्ध आते हैं। चिन्ता, घृणा, क्रोध, श्रद्धा-भक्ति आदि उनके इसी प्रकार के निबन्ध हैं। इन निबन्धों में उनका व्यक्तिगत अनुभव है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-निबन्ध साहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है। 'त्रिवेणी' (सं० १९९३ ) और 'चिन्तामणि' दो भाग (सं० १९९६) उनके निबन्ध-संग्रह हैं। **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** ( ज० सं० १९५१ ) भी हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। उन्होंने साहित्य, धर्म, जीवन और समाज को लेकर अत्यन्त सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्ध दो प्रकार के हैं : (१) आलोचनात्मक और (२) वैयक्तिक। 'पंचपात्र' ( सं० १९८० ) साधारण निबन्ध सग्रह है। इसके पश्चात् 'मकरन्द-बिन्दु' ( सं० १९८८ ), 'प्रबन्ध पारिजाति' ( सं० १९८९ ) और 'प्रदीप' ( सं० १९९० ) उनके निबन्ध-संग्रह हैं। **रामवतार पाण्डेय**-कृत 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' ( सं० १९८५ ); **गुलाब राय** ( जं० सं० १९४४ )-कृत 'ठलुआ क्लब' ( सं० १९८५ ) और 'प्रबन्ध-प्रभाकर' ( सं० १९९१ ); **प्रेमचन्द** ( सं० १९३७-९३ )-कृत 'कुछ विचार' (सं० १९९६); **सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** (ज० स० १९५५)-कृत 'प्रबन्ध-पद्म' (सं० १९९१) और 'प्रबन्ध-प्रतिभा' ( सं० १९९७ ); **वियोगी हरि** ( ज० सं० १९५३ )-कृत 'साहित्य-विहार' ( सं० १९८३ ), तथा **जयशङ्कर प्रसाद**-कृत 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' ( सं० १९९६ ) भी निबन्ध-साहित्य में अच्छी कला-कृतियाँ हैं। **श्यामसुन्दर दास** ( सं० १९३२-२००२ ) ने भी कई सुन्दर निबन्ध लिखे हैं।

निबन्ध के अतिरिक्त आलोच्य काल में गद्य-काव्य भी लिखे गए हैं। **राय कृष्णदास** (ज० सं० १९४९) गद्य-काव्य लिखने में अत्यन्त पटु हैं। 'गीतांजलि' (सं० १९६८) से प्रभावित होकर वह इस दिशा की ओर अत्यन्त सफलतापूर्वक आगे बढ़े हैं। 'साधना' (सं० १९७६), 'छाया पथ' (सं० १९

८७) 'संलाप' (सं० १९८३) और 'प्रवाल' (सं० १९८६) में उनके जो गद्य-काव्य संगृहीत हैं उनमें उनकी रहस्यवादी भावनाओं का सफल चित्रण हुआ है। वियोगी हरि-कृत 'तरङ्गिणी' (सं० १९७७), 'अंतर्नाद' (सं०१९८३) 'पगली' (सं० १९८५) 'भावना' (सं० १९८६), 'प्रार्थना' (सं० १९८६), 'ठण्डे छींटे' (सं० १९९०), 'मेरी हिमाकत' (सं० १९९७); दिनेश नन्दिनी डालमिया-कृत 'शबनम' (सं० १९९३) और 'मौक्तिक माल' (सं० १९९४) तथा चतुरसेन शास्त्री-कृत 'अन्तस्तल' (सं० १९७८) आदि गद्य-काव्य की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

**आलोचना-साहित्य का विकास**

गद्य के अन्य अङ्गों की भाँति आलोचना का विकास भी इस युग की एक विशेषता है। द्विवेदी-युग में जो आलोचना-साहित्य तैयार हुआ था वह उच्चकोटि का नहीं था। वस्तुतः उस युग में आलोचक कोई था ही नहीं। मिश्र बन्धुओं ने जिस आलोचना को जन्म दिया था वह अधिकांश कवि की पूर्व-निर्मित रुचि पर अवलम्बित थी और उसमें कुछ तथ्य नहीं था। आलोचना के मान भी उस समय नहीं बने थे। तुलनात्मक आलोचनाएँ ही प्रायः हुआ करती थीं। सूर-तुलसी और देव-बिहारी को लेकर अनेक तुलनात्मक आलोचनाएँ सामने आईं। ऐसी आलोचनाएँ प्रायः पक्षपातपूर्ण ही होती थीं जिनसे आलोचना के विविध अखाड़े बन गए थे और जिनमें एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास होता रहता था। आलोचक का ध्यान जितना रूप-विन्यास की सुघड़ता-कुरूपता पर रहता था उतना विषय-वस्तु पर नहीं। आलोचना-साहित्य के ऐसे वातावरण में आचार्य रामचंद्र शुक्ल (सं० १९४१-९८) ने जन्म लिया। उन्होंने कवियों और लेखकों को सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रखकर उनकी कृतियों तथा साहित्य की सामान्य प्रवृतियों को परखा और हिन्दी-आलोचना का अभिनव ढङ्ग से विकास किया। उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से सैद्धांतिक समीक्षा के ही हर पहलू का गम्भीरतम विवेचन किया और अपनी नई-नई उद्‌भावनाओं-द्वारा उसे शक्तिशाली बनाया। उनके दो सिद्धांत थे: (१) 'काव्यात्मक लोकवाद' का सिद्धांत जिसके अनुसार सामान्य लोक-भूमि

पर ही काव्य की भाव-सत्ता स्थापित होती है और (२) 'साधारणीकरण' का सिद्धांत जिसके अनुसार सत् के चित्रण में श्रोता अथवा पाठक की चितवृत्ति को रसानुभूति होती है, किन्तु असत् के चित्रण में उसकी चितवृत्ति को रसानुभूति प्रायः नहीं होती। शुक्लजी ने अपना संपूर्ण समीक्षा-साहित्य उक्त दोनों सिद्धांतों पर खड़ा किया। आगे के आलोचकों ने इन सिद्धांतों का पूर्णतया समर्थन नहीं किया, पर जिस युग में उन्होंने अपनी आलोचना के उक्त मानदण्ड बनाये उस युग में वह अत्यन्त सफल रहे। सूर, तुलसी और जायसी की रचनाओं की उन्होंने जो गम्भीर आलोचना की वह आज भी आलोचकों का पथ-प्रदर्शन कर रही है। 'त्रिवेणी' (सं० १९९३) में 'सूर', 'तुलसी' और 'जायसी' के संबन्ध में उनके आलोचनात्मक निबन्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'तुलसी-ग्रंथावली' (सं० १९८०), 'जायसी-ग्रन्थावली' (सं० १९८२), 'भ्रमरगीत-सार' (सं० १९८३), और 'भारतेन्दु-साहित्य' (सं० १९८६) उनके सम्पादित ग्रन्थ हैं। 'गोस्वामी तुलसीदास' (सं० १९९०), 'काव्य में रहस्यवाद' (सं० १९८६) और 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सं० १९८७) उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं।

आचार्य शुक्लजी के समकालीन डा० श्यामसुन्दर दास(सं०१९३२-२००२) ने भी कई आलोचना-ग्रन्थ लिखे हैं। 'साहित्यालोचन'(सं०१९७९), 'भाषा विज्ञान' (सं० १९८०), 'रूपक रहस्य' (सं० १९८८) और 'भाषा रहस्य' (सं० १९९२) उनके शास्त्रीय ग्रंथ हैं और 'हिन्दी भाषा का विकास' (सं० १९८०), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (सं० १९८४), 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (सं० १९८७) तथा 'गोस्वामी तुलसीदास' (सं० १९८८) उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १९२२-२००४)-कृत 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (सं० १९९१); गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'-कृत 'महाकवि हरिऔध' (सं० १९७१) और 'गुप्तजी की काव्य धारा' (सं० १९७४); कृष्णशङ्कर शुक्ल-कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सं० १९९१); गुलाब राय-कृत 'नवरस' (सं० १९७८), 'प्रसाद जी की कला' (सं० १९९५) और 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास'

(सं० १६६५); पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी-कृत 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' (सं० १६८१) और 'विश्व-साहित्य' (सं० १६८१); पद्मसिंह शर्मा (सं० १६३३-८६)-कृत 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' (सं० १६८६); सूर्यकांत-कृत 'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (सं० १६८८), 'हिन्दी-साहित्य की रूप रेखा' (सं० १६६५) और 'साहित्य मीमांसा' (सं० १६६८), हजारी प्रसाद द्विवेदी (ज०सं० १६६४ )-कृत 'सूर-साहित्य' (सं० १६६३), ब्रजरत्न दास-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ( सं० १६८६), 'उर्दू-साहित्य का इतिहास' (सं० १६६१), 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ( सं० १६६२ ), 'हिन्दी नाट्य साहित्य' (सं० १६६५) और 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १६६८); डा० नगेन्द्र-कृत 'सुमित्रानन्दन पंत' ( सं० १६६५); शांतिप्रिय द्विवेदी-कृत 'हमारे साहित्य-निर्माता' (सं० १६८६), 'कवि और काव्य' (सं० १६६४) और 'साहित्यिकी' (सं० १६६५); कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (सं० १६५२) कृत 'आधुनिक खड़ीबोली कविता की प्रगति' (सं० १६८६); रामदास गौड़ (सं० १६३८-६४) कृत 'रामचरित मानस की भूमिका' (सं० १६८२); धीरेन्द्र वर्मा (ज०सं० १६-५४)-कृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' (सं० १६६०), 'हिन्दी भाषा और लिपि' (सं० १६६०) और 'ब्रजभाषा व्याकरण' (सं० १६६४); मंगलदेव शास्त्री-कृत 'तुलनात्मक भाषा शास्त्र' (सं० १६८३); अंबिकाप्रसाद बाजपेयी-कृत 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव' (सं० १६६४); कामताप्रसाद गुरु (सं० १६३२)-कृत 'हिन्दी-व्याकरण' (सं० १६७७); कन्हैयालाल पोद्दार (ज०सं० १६२८)-कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (सं० १६७७); रामशंकर शुक्ल 'रसाल'-कृत 'नाट्य निर्णय' (सं० १६८७), 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सं० १६८८) और 'आलोचनादर्श' (सं० १६६५); रामनरेश त्रिपाठी (ज० सं० १६४६)-कृत 'तुलसीदास और उनकी कविता' (सं० १६६५); श्रीरामनाथ 'सुमन' (ज० सं० १६६०)-कृत 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना' (सं० १६६५); रामकृष्ण शुक्ल-कृत 'प्रसाद की नाट्य कला' (सं० १६८६) और 'आलोचना समुच्चय' (सं० १६६६); माताप्रसाद गुप्त-कृत 'तुलसी संदर्भ' (सं० १६६३), रामकुमार वर्मा-कृत 'कबीर का रहस्यवाद' (सं० १६८८),

'साहित्य समालोचना' (सं० १९९५), 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सं० १९९५) और 'हिन्दी-साहित्य की रूप-रेखा' (सं० १९९५) तथा डा० सोमनाथ गुप्त-कृत 'हिन्दी नाटक का इतिहास' (सं० १९९५), आदि उस समय के आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों ने हिन्दी-आलोचना साहित्य में नए-नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं और उनसे उसका स्तर बहुत ऊँचा उठा है।

**उपयोगी साहित्य**

तृतीय उत्थान-काल में केवल साहित्यिक रचनाओं की ही भरमार नहीं रही, उपयोगी साहित्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया। उपयोगी साहित्य से हमारा तात्पर्य उन विषयों से है जिनके अध्ययन से हम विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ऐसे विषयों में जीवन-वृत, इतिहास, भूगोल, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि आते हैं। जीवन-कथाओं मे रामचन्द्र वर्मा-कृत 'महात्मा गाधी' (सं० १९७६); सम्पूर्णानन्द-कृत 'सम्राट हर्षवर्धन' (सं० १९७७), 'महादाजी सिंधिया' (सं० १९७७) और 'सम्राट अशोक' (सं० १९८१); शिवकुमार शास्त्री-कृत 'नेलसन' (स० १९८५); गोरीशंकर चटर्जी-कृत 'हर्षवर्धन' (१९९५); मन्मथनाथ गुप्त-कृत 'चंद्रशेखर आजाद' (सं० १९९५); देवव्रत-कृत 'मुस्तफा कमाल' (सं० १९९५) आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। ललित-कला में हंसकुमार तिवारी-कृत 'कला' (सं० १९९४) तथा विज्ञान में डा० सत्यप्रकाश कृत 'साधारण रसायन' (सं० १९८६) और 'सृष्टि की कथा' (सं०१९९४); रामदास गौड़-कृत 'विज्ञान-हस्तामलक' (सं०१९९३); डा० गोरख प्रसाद-कृत 'आकाश की सैर' (सं०१९९४) और चन्द्रशेखर शास्त्री कृत 'जीवन शक्ति का विकास' (सं० १९९३) आदि उपयोगी ग्रन्थ हैं। इतिहास में हरिमंगल मिश्र-कृत 'प्राचीन भारत' (सं० १९७७); शेषमणि त्रिपाठी-कृत 'अकबर की राज्य व्यवस्था' (सं० १९७८); डा० सम्पूर्णानन्द-कृत 'चीन की राज्य-क्रान्ति' (स० १९७८) और 'मिश्र की स्वाधीनता का इतिहास' (सं० १९८०); गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'अशोक की धर्म लिपियाँ' (सं० १९८०) 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'

(सं० १६८५) और 'जोधपुर राज्य का इतिहास' (सं० १६६५); कमलापति त्रिपाठी शास्त्री-कृत 'मौर्यकालीन भारत का इतिहास' (सं० १६८५); सत्यकेतु विद्यालंकार-कृत 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' (सं० १६८५); महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'पुरातत्व प्रसंग' (सं० १६८७); रामप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'भारतीय शासन-विकास' (सं० १६६३); राहुल सांकृत्यायन-कृत 'विस्मृति के गर्भ में' (सं० १६६४), इन्द्र विद्या वाचस्पति-कृत 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (सं० १६६५) आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव-कृत 'समाजवाद' (सं० १६६५) तथा राहुल सांकृत्यायन-कृत 'सोवियत भूमि' (सं० १६६५) और 'दिमागी गुलामी' (सं० १६६५) के अतिरिक्त धर्म में महावीर प्रसाद द्विवेदी-कृत 'अध्यात्मिकी' (सं०१६८५); नारायण स्वामी-कृत 'मृत्यु और परलोक' (सं० १६८६) और 'ब्रह्म ज्ञान' (सं० १६६०); गंगाप्रसाद उपाध्याय-कृत 'जीवात्मा' (सं० १६६०) और रामदास गौड़-कृत 'हिन्दुत्व' (सं० १६६५) विशेष महत्त्व के हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य काल में हिन्दी-साहित्य बहुत आगे बढ़ा और उसकी प्रत्येक धारा का विकास हुआ। कई पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं। मासिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती', 'सुधा', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'हंस', 'साहित्य संदेश', 'चाँद', 'विश्वमित्र', साप्ताहिक पत्रों में 'विश्वमित्र', 'कर्मवीर', 'भारत जीवन' और दैनिक पत्रों में 'आज' की विशेष धूम रही। 'नागरी प्रचारिणी-सभा' और 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' द्वारा खोज का कार्य भी हुआ। खोज का कार्य प्रकाशित करने के लिए 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' और 'हिन्दुस्तानी' नामक पत्रिकाएँ निकाली गयीं। सारांश यह कि इस काल में हिन्दी ने 'जन-जीवन' की प्रत्येक समस्या को स्पर्श किया और उसे साहित्य में स्थान दिया। इस काल का साहित्य उसकी आशा-निराशा, उसके उतार-चढ़ाव का साहित्य है और वह वास्तविक अर्थ में उसका प्रतिनिधित्व करता है।

---

# १६. चतुर्थ उत्थान-काल : प्रगतिवाद-प्रयोगवाद-युग

**चतुर्थ उत्थान-काल की पीठिका**

आधुनिक काल के अन्तर्गत हिन्दी-साहित्य का तृतीय उत्थान-काल (सं० १६७५-६५) अपने विकास-पथ पर बढ़ ही रहा था कि योरप की राजनीति में फिर भयंकर आँधी उठी और उसने संपूर्ण विश्व को अपनी परिधि में लपेट लिया। यह द्वितीय महायुद्ध सं० १६९६ से सं० २००३ तक होता रहा। इसी बीच भारत में अनेक परिवर्तन हो गये। युद्ध की विभीषिका के कारण वस्तुओं का मूल्य कई गुना बढ़ गया जिससे लोगों को भोजन-वस्त्र की कठिनाई होने लगी। आर्थिक जीवन की भाँति ही उनका राजनीतिक जीवन भी संकटापन्न हो गया। हिन्दुओं और मुलमानों के बीच साम्प्रदयिक भावना इतनी प्रबल हो उठी कि चारो ओर दंगे होने लगे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न हो सका। सं० १६९२ के अधिनियम के अनुसार भारतीयों को जो अधिकार मिले थे उनसे भी उन्हें संतोष नहीं था। भारतीय पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। इसलिए उन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन (सं० १६९७) आरंभ किया। इसके फलस्वरूप हजारों व्यक्ति गिरफ्तार कर लिए गये। सं० १६९९ के आरंभ होते-होते महायुद्ध की भयंकरता और भी बढ़ गयी। भारत की पूर्वी सीमा की ओर जापान का आतंक फैल गया। ऐसी दशा में अँगरेजी सरकार ने नेताओं को मुक्त करके समझौते का प्रयत्न किया, पर इसका भी कोई परिणाम न निकला। अन्त में कांग्रेस ने इतिहास-प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव (सं० १६९९) पास किया और एक भारी आन्दोलन छेड़ने की विस्तृत योजना बनाई, परन्तु भारत-सरकार ने इसके आरंभ होने के पूर्व ही नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया। इससे विद्रोह की आग धधक उठी। भारत-सरकार ने तोपों, गोलो और संगीनों की सहायता से इस आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की। देश की

दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। सं० २००० के अकाल ने तो देश की नस-नस तोड़ दी। बंगाल का बुरा हाल हो गया। सं० २००१ में महात्मा गांधी जेल से मुक्त किये गये। इसी अवसर पर प्रधान मंत्री एटली की अध्यक्षता में मजदूर-मंत्रि-मंडल ने भारत की मांग पर विचार करना आरंभ किया और पार्ल्यामेंट के सदस्यों का एक दल सं० २००३ में भारत आया। उसने भावी शासन की एक योजना बनाई, पर उसके संबंध में भी कांग्रेस और लीग का मतैक्य न हो सका। लीग ने प्रत्यक्ष कार्यवाही आरंभ की जिसके फलस्वरूप चारो ओर दंगे होने लगे। यह देखकर ब्रिटिश पार्ल्यामेंट ने भारत-विभाजन की एक योजना बनाई और उसे अधिनियम का रूप देकर सं० २००४ में भारत और पाकिस्तान को स्वतंत्र घोषित कर दिया।

**प्रगतिवाद का प्रवर्तन**

देश की उक्त राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों मे हिन्दी साहित्य ने छायावाद-रहस्यवाद के कल्पित भावना-क्षेत्र से निकलकर जीवन के वास्तविक क्षेत्र में प्रवेश किया। राष्ट्रीय आन्दोलन, साम्प्रदायिक दंगे और अन्न-वस्त्र का अभाव आदि की समस्याएँ उस समय इतनी भयंकर हो उठीं कि साहित्य उनकी उपेक्षा नहीं कर सका। बंगाल की भुखमरी ने राष्ट्रीय नेताओ का ही नहीं, साहित्यकारों का भी हृदय हिला दिया। निराला, पंत, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन, रामधारी सिंह 'दिनकर', हरिवंशराय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', विद्यावती 'कोकिल', सोहन लाल द्विवेदी, गिरिजाकुमार माथुर, गजानन मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा आदि सब उससे प्रभावित हो उठे और उन्होंने अपनी रचनाओ में उसका करुणापूर्ण चित्रण किया। इस प्रकार उन्होंने अपने समय की गति-विधि से प्रभावित होकर काव्य के क्षेत्र में अपनी नवीन प्रगति का आभास दिया। यह प्रगति नवीन केवल इस अर्थ में भी थी कि इसके पूर्व शोषित जानता के प्रति ऊँचे स्वर में कभी सहानुभूति नहीं प्रकट की गयी थी। हिन्दी-साहित्य में यह

पहला अवसर था जब मुख्यतः 'दिनकर' और 'नवीन' ने उनकी दैन्य दशा की ओर ध्यान दिया और आर्थिक क्रान्ति का स्वर उद्घोषित किया। उन्होंने किसी 'वाद' विशेष के अन्तर्गत अपनी प्रगति का परिचय नहीं दिया। वे जन-मंगल की भावना से उत्प्रेरित राष्ट्रीय चेतना के प्रगतिशील कवि के रूप में सामने आये।

हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिवाद' का प्रवर्तन छायावाद के विरोध में हुआ। छायावाद-काव्य में वर्ण्य विषय की संकीर्णता, भावों की अत्यन्त सूक्ष्मता और वास्तविक जीवन के प्रति उदासीनता देखकर कवियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने उन सबकी प्रतिक्रिया के रूप में कृषक, मजदूरों एवं शोषित-पीड़ितों का प्रतिनिधित्व करना आरभ किया। इस दिशा मे उसे मार्क्सवाद और रूसी क्रान्ति से विशेष प्रेरणा मिली। उसमें अधिकांश कम्युनिस्ट दल के लोग थे। द्वितीय महायुद्ध में जब रूस ने मित्र-राष्ट्रो का साथ देना आरंभ किया तब भारतीय कम्युनिस्टों पर लगी हुई रोक (सं० १९९९) उठ गयी। इससे उन्हें और भी प्रोत्साहन मिला और वे खुलकर साहित्य के माध्यम से मार्क्स, लेनिन और स्टालिन-द्वारा प्राप्त विचारों का प्रचार करने लगे। यही उनका प्रगतिवाद था। प्रगतिवाद का मूलाधार है मार्क्स-द्वारा स्थापित तत्व-दर्शन जिसका प्रमुख तत्व है वर्ग-संघर्ष। इसके अनुसार समाज सदैव बदलता रहता है और उसके दो मुख्य वर्गों, शोषक और शोषित, में सतत संघर्ष होता रहता है। इस वर्ग-संघर्ष के कारण समाज में कोई सनातन व्यवस्था नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में प्रगतिवादियो का यह विश्वास है कि आन्दोलन और क्रान्ति-द्वारा एक ऐसे वर्गहीन समाज का निर्माण किया जा सकता है जिसमें मानव-मात्र की एक-सी स्थिति हो। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद उन्ही आदर्शों का पोषक है जिन्हें राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद ने अपने सामने रखे हैं। साम्यवाद का साहित्यक रूप ही प्रगतिवाद हैं। प्रगतिवाद यथार्थ और भौतिकता में विश्वास करता है। ईश्वर, धर्म, प्रकृति की रहस्यात्मकता आदि का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है।

'प्रगतिवाद' और 'छायावाद' में अंतर हैं। छायावाद यदि अन्तर्मुखी है तो प्रगतिवाद वहिर्मुखी; छायावाद यदि आदर्शवाद की ओर अग्रसर हुआ है तो प्रगतिवाद उस यथार्थ की ओर दौड़ा है जिसमें समाज के नग्न चित्र भी ग्राह्य और प्रशंसनीय माने जाते हैं। छायावाद यदि प्रेम और सौंदर्य के वर्णन में मानसिक पक्ष को अधिक महत्व देता है तो प्रगतिवाद इन्हीं के भौतिक पक्ष को; यदि छायावाद प्रकृति, जीवन और राष्ट्र के गीत गाता है तो प्रगतिवाद किसान-मजदूरों, विश्व के शोषित वर्गों, मास्को और लाल सेना के गीत गाता है।

'वाद' के रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद का जन्म 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना (सं० १९९३) द्वारा हुआ। कई कवियों और आलोचको ने इसका समर्थन किया। धीरे-धीरे राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, और भगवतशरण उपाध्याय-जैसे चिन्तनशील आलोचक; मुलकराज, यशपाल और रांगेय राघव-जैसे उपन्यासकार, अमृतराय-जैसे कहानी-लेखक और शिवमंगल सिंह 'सुमन' तथा नागार्जुन-जैसे कवि प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत आये। इन साहित्यकारों ने प्रायः कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध साहित्य ही प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रगतिवादी साहित्यकार भी आये जिन्होंने अपने स्वाधीन चिन्तन के बल पर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को देश-काल के अनुरूप बनाया और अपना जीवन-दर्शन निश्चित किया।

हिन्दी-कविता में सुमित्रानन्दन पंत (ज०सं० १९५८) का 'युगान्त' (सं० १९९४) छायावाद की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक है। इसके पश्चात् 'युगवाणी' (१९९६), 'ग्राम्या' (१९९७), 'पल्लविनी' (१९९७), 'स्वर्ण किरण' (२००४), 'स्वर्ण धूलि' (२००४), 'मधुज्वाल' (२००४), उनकी रचनाएँ हैं। 'गुंजन' (१९८९) की कविताएँ लोक-कल्याण की भूमियों पर विचरण करती हुई दुःख-सुख में समन्वय स्थापित करने की ओर उन्मुख हुई हैं। उनमें पंतजी के मानवता-प्रेमी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली है। पंत

जी निरालाजी की भाँति न तो संघर्ष-प्रिय हैं और न महादेवीजी की भाँति निराशावादी। वह जीवन को सुख-दुःख से ऊपर मानते हैं। वह बन्धन को ही मुक्ति समझते हैं और जगजीवन की ज्वाला में गलने का उपदेश देते हैं। अपनी इस बौद्धिक चेतना के कारण वह संसार की प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक कि कूड़ा-करकट को भी, सुन्दर समझते हैं। उनका यह दृष्टिकोण—

'पीले पत्ते, टूटी टहनी, दिल के कंकर, पत्थर,
कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर लगता सुन्दर।'

उन्हें बहुत ऊँचा उठा देता है। 'युगान्त' (सं० १९९४), 'युगवाणी' (सं० १९९६) और 'ग्राम्या' (सं० १९९७) में उन्होंने कल्पना की तुलना में लोक-मंगल की भावना से प्रेरित होकर दलित-शोषित मानवता के प्रति जो बौद्धिक सहानुभूति प्रकट की है वह भी उनके उसी दृष्टिकोण का विकसित रूप है। ग्रामों की करुण दशा पर उनका हृदय चीत्कार कर उठा है और उन्होंने कहा है :—

'झाड़ फूस के विवर यही क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़े से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी-नर।'

और फिर उन्होंने कहा है : —

'गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नवजीवन की लालसा गड़ाकर,
छिन्नभिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर।'

सामाजिक जीवन में क्रान्ति के लिए पंत की यह हुँकार प्रगतिवादियों की हुँकार नहीं है। वह क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युगवाणी देना चाहते हैं। क्रान्ति-द्वारा वह पुरातन का, उस पुरातन का जिसमें पाखंड है, अत्याचार है, अनीति है, द्वेष और मनोमालिन्य है, विनाश चाहते हैं और उसके स्थान पर

'निज कौशल, मत, इच्छानुकूल,
सब कार्य विरत हों भेद भूल,
बन्धुत्व भाव ही विश्व-मूल।'

नवजीवन का निर्माण ! 'ग्राम्या' के बाद की रचनाओं में उनका यही स्वर दर्शन का रूप धारण कर लेता है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में एक स्वर्णमयी आशा और सांस्कृतिकता की झलक है। 'उत्तरा' (सं० २००६), 'खादी के फूल' (सं० २००५) 'अतिमा' (सं० २०१२) उनकी नवीनतम रचनाएँ हैं।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (ज० सं० १६५५) भी अपने युग से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने अन्याय तथा उत्पीड़न के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा किया है। 'परिमल' (सं० १६८७) में उनकी ऐसी कई कविताएँ सग्रहीत हैं। 'विधवा' और 'भिक्षुक' में उन्होने जैसे कारुणिक चित्र उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। भारतीय हिन्दू विधवा का एक रेखा-चित्र लीजिए :—

'वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शान्त भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।'

इसी प्रकार 'भिक्षुक' मे उनका दैन्य मूर्तिमान हो उठा है :—

'वह आता —
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को,
मुंह फटी, पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'

निरालाजी के काव्य में सहृदयता अधिक है और पंत के काव्य में बौद्धिक चेतना। पंतजी की भाँति क्रान्ति के साथ-साथ उन्होंने किसी नव निर्माण की योजना प्रस्तुत नहीं की है। बादल की अन्योक्ति-द्वारा ओजमयी

भाषा में अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध क्रान्ति का आह्वान करते हुए वह कहते हैं :—

'वज्र घोष से ऐ प्रचण्ड ! आतंक जमानेवाले ।
कम्पित जंगम-नीड़-विहंगम, ऐ न व्यथा पानेवाले ॥
भय के मायामय आंगन पर, गरजो विप्लव के नव जलधर ।'

निरालाजी का यह उद्घोष प्रगतिवादी उद्घोष नहीं है, समय की मांग का उद्घोष है, राष्ट्रीय भावना का उद्घोष है। 'अनामिका' (नवीन : सं०१९९४), 'तुलसीदास' (सं०१९९५), 'कुकुरमुत्ता' (सं०१९९२), 'अणिमा' (सं० २०००) 'बेला' (सं० २००३), 'नये पत्ते' (सं० २००३), 'अर्चना' (सं० २००६ ) और 'गीत-गुञ्ज' (सं० २०११) उनके अन्य काव्य संग्रह हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—( ज० सं० १९५४ ) की रचनाएँ जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन और देश भक्ति से ओत-प्रोत हैं, वहाँ दूसरी ओर उनमें स्वच्छन्दवादी भावों को आध्यात्मिक रूप देने का सफल प्रयास भी है। 'कुंकुम' (सं०१९९६) में संगृहीत राष्ट्रीय आन्दोलन और गांधीवाद से प्रभावित गीतों में उनका व्यक्तिवाद प्रगति की इतिहास-चेतना का विश्वास भरा स्वर लेकर प्रकट हुआ है। वर्ग-संघर्ष, मज़दूर-आन्दोलन, शोषित-पीड़ित से उनका हृदय मर्माहत हो उठा है और वह कह उठे हैं :—

'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये।'

परन्तु इससे आगे वह नहीं बढ़े। 'अपलक' (सं० २००८) और 'क्वासि' (सं०२००९) में आकर वह प्रेम की भावभूमि का दार्शनिक शृङ्गार करने लगे।

रामधारी सिंह 'दिनकर'—(ज०सं०१९६३) ने जिस समय काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय छायावादी रचनाओं में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं और प्रगतिवादी धारा धीरे-धीरे अपना प्रसार कर रही थी। इसलिए उन्होंने दोनों कूलों को छूते हुए अपनी कविता का मार्ग

निकाला। वह न तो छायावादी थे, न प्रगतिवादी। वह क्रांति-दर्शी तब भी थे और अब भी हैं। जीवन की वर्तमान दैन्यता और कुरूपता के प्रति विद्रोह की भावना से वह अब भी प्रभावित हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ पहले वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा करते सुनाई पड़ते थे वहाँ अब अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से उत्प्रेरित हैं। अपने 'कुरुक्षेत्र' (सं०२००३) में उन्होंने एक युगद्रष्टा कवि की भाँति महायुद्धों से पीड़ित विश्व-जनता की व्यापक शान्ति-कामना को अभि-व्यक्ति दी है। भीष्म कहते हैं :—

'आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से॥
हार में मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीति से।
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग, प्रीति से॥'

'दिनकर' अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं। 'हुँकार' (सं० १९९५) 'द्वंद्व गीत' (सं० १९९७), 'रसवन्ती' (सं० १९९७) 'धूप छाँह' (सं०२००३), 'कुरुक्षेत्र' (सं० २००३), 'बापू' (सं० २००४), 'इतिहास के आँसू' (सं० २००८), और 'रश्मिरथी' महाकाव्य (सं० २००९), 'नील कुसुम' (सं० २०११), 'दिल्ली' (सं० २०११) 'नीम के पत्ते' (सं० २०११) आदि उनके काव्य-ग्रंथ हैं।

छायावाद-युग के उक्त कवियों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा (ज० सं० १९६०) ने जहाँ अपने 'मधुकण' (सं० १९८९) और 'प्रेम संगीत' (सं० १९९४) में उल्लास और यौवन के गीत गाए वहाँ उन्होंने अपने 'मानव' (सं० १९९७) में युग की माँग के अनुकूल शोषित-पीड़ित के प्रति भी अपनी सहानुभूति प्रकट की है। उदयशंकर भट्ट (ज०सं० १९५४) भी

पहले छायावाद के प्रभाव से अपने 'तक्षिला' (सं० १९८८), 'राका' (सं० १९९२) और 'विसर्जन' (सं० १९९९) में वेदना और निराशा के गीत गाते रहे, पर आगे चलकर जब काव्य में प्रगतिवादी विचार-धारा का प्रवेश हुआ तब 'मानसी' (सं० १९९६) में यथार्थ की ओर झुके और आशा, उत्साह तथा जाग्रति का सन्देश देने लगे। 'वन्दना के बोल,' 'बलि 'पथ के गीत,' 'युग दीप,' 'अमृत और विष,' 'यथार्थ और कल्पना,' 'समर्पण' और 'विजय पथ' की कविताएँ उनकी इसी प्रकार की भावनाओ से ओत-प्रोत हैं। **हरिवंश राय 'बच्चन'** (ज० सं० १९६४) अँगरेजी कविता और उमर खैयाम की रूबाइयों से प्रभावित होकर हिन्दी में आए और उन्होंने जीवनोल्लास की रागिनी छेड़ी। 'तेरा हार' (सं० १९९०), 'मधु-शाला' (सं० १९९२), 'खैयाम की मधुशाला' (सं० १९९२), 'मधुबाला' (सं० १९-९३), 'मधुकलश' (सं० १९९४) और 'निशानिमंत्रण' (सं० १९९५) से 'एकान्त संगीत' (सं० १९९६) तक आते-आते उन्होने कई मोड़ लिए और बराबर आगे बढ़ते रहे। 'एकान्त संगीत' में उनकी वेदना अधिक घनीभूत हो गयी। 'आकुल अन्तर' (सं० २०००) की रचनाएँ भी इसी प्रकार की हुईं। परन्तु इसके पश्चात् 'सतरंगिनी' (सं० २००५), 'मिलन यामिनी' (सं० २००७) और 'सोपान' (सं० २०१०) की रचनाएँ पुनः आशा और उल्लास से ओत-प्रोत हैं। 'बंगाल का काल' (सं० २००३), 'हलाहल' (सं० २००३) और 'सूत की माला' (सं० २००५) में वह अपने युग से प्रभावित हैं। 'बंगाल का काल' में वह कह उठे हैं :—

'मन से अब सन्तोष हटाओ,
असंतोष का नाद उठाओ,
करो क्रान्ति का नारा ऊँचा,
भूखो! अपनी भूख बढ़ाओ,
और भूख को ताकत समझो,
हिम्मत समझो,
जुरंत समझो,

कुव्वत समझो,
देखो कौन तुम्हारे आगे—
नहीं झुका देता सिर अपना।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद-युग के अंतिम दिनों (सं० १९९२-९७) में ऐसी प्रवृत्तियाँ मुखरित हो उठी थीं जो उसके सर्वथा प्रतिकूल और प्रतिक्रियात्मक थीं। प्रगतिवाद आन्दोलन ने उन्हें और भी उभारा। ऐसे अनेक तरुण कवि सामने आए जिन्होंने छायावाद-रहस्यवाद की सूक्ष्मता और उसकी समाज-विमुखता के प्रति विद्रोह किया और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और 'वर्ग-संघर्ष' में विश्वास रखते हुए शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट की। क्रान्ति, दुर्भिक्ष, लाल झंडा, हँसिया-हथौड़ा, हड़ताल, रूस, चीन, किसान, मजदूर, लेनिन, मार्क्स, माओ आदि उनके काव्य विषय बन गए और उन्होंने 'रोटी और सेक्स' का राग अलापना आरंभ किया। उन्होंने कहा :—

'धन्य मार्क्स! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय-शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।'

× × ×

'लाल रूस के इन्क़लाब की गाथा दुनिया की गाथा।'

× × ×

'लाल फौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा,
क्यों न उसी की ओर बहे यह दिशा भूल कविता-धारा।'

× × ×

'भूखे शिशुओं की चीत्कारें सोख रहीं नयनों का पानी;
सूखी निचुड़ी चुसी हड्डियाँ करती विप्लव की अगवानी।
मुट्ठी-भर दानों की तृष्णा महाक्रान्ति की आग लगाती;
आज क्षुधा इन कंकालों की मोये ज्वालामुखी जलाती।'

प्रगतिवादी कवियों में शिवमंगल सिंह 'सुमन', 'नागार्जुन', केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव, रामदयाल पांडेय, त्रिलोचन आदि

प्रमुख हैं। इन कवियों ने महायुद्ध के पांच छः वर्षों (सं० १९९६-२००३) में अपने प्रगतिवादी विचारों का अच्छा प्रचार किया, परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति (सं० २००४) के पश्चात् जब राष्ट्रीय जीवन में नयी चेतना आई और स्वाधीनता-आन्दोलन की एकता नष्ट होकर विभिन्न राजनीतिक दलों का सूत्रपात हुआ तब जहाँ कम्युनिष्टो का राष्ट्रीय जीवन से सबंध छूट गया वहाँ उनके साहित्य की गति भी क्षीण हो गयी और वे आगे न बढ़ सके। वे जिस लक्ष्य को लेकर चले थे वह सफल न हो सका। इस धारा के अन्तर्गत **नरेन्द्र शर्मा** (ज० सं० १९७०) और **रामेश्वर शुक्ल 'अचल'** (ज० सं० १९७२) के नाम भी लिए जाते हैं। **नरेन्द्र शर्मा** ने प्रगतिवादी धारा में रचनाएँ अवश्य की हैं, पर उसके साथ उनका भावुक हृदय नही है। वह मन की दुर्बलताओं के कवि हैं। उनकी रचना में 'सेक्स' को प्रधानता मिली है। 'कर्ण फूल,' (सं० १९९१) 'शूल-फूल' (स० १९९३), 'पलाशवन' (सं० १९९७), 'कदली वन' (सं० २०१०), 'प्रभात फेरी' (सं० २०१०) आदि उनकी सुन्दर रचनाएँ हैं। **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** वासनाजन्य तृष्णा और लालसा के कवि हैं। नारी को उन्होने केवल उपभोग्या के रूप में देखा है और 'मधूलिका' (सं० १९९५) तथा 'अपराजिता' (सं० १९९६) में इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। 'किरण बेला' (१९९८), और 'वर्षान्त के बादल' (सं० २०११) मे उनकी प्रगतिवादी रचताएँ हैं, पर उन रचनाओ में भी नारी के प्रति उनका वही संकुचित दृष्टिकोण है।

इस प्रकार छायावाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरंभ हुई उसके दो रूप सामने आये : (१) प्रगतिवाद पहले और (२) प्रयोगवाद बाद को।

**प्रयोगवाद का प्रवर्तन**

प्रयोगवादी धारा प्रगतिवादी धारा से भिन्न एक नयी धारा है जिसका प्रवर्तन हिन्दी- काव्य के प्रस्तुत युग में हो रहा है। सामान्य दृष्टि से रीति-काल, भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल और आधुनिक काल में भी अनेक प्रयोग हुए हैं और इसलिए यह सब प्रयोगवादी साहित्य ही है, परन्तु जिस अर्थ में आजकल के कुछ

कवियों की रचनाएँ प्रयोगवादी कही जाती हैं वह एक नयी मनोवृत्ति, एक नयी दिशा और एक नयी शैली का सूचक है। पहले जो प्रयोग हुए वे किसी 'वाद' के अन्तर्गत नही हुए। इसके विरुद्ध अब जो 'प्रयोग' हो रहे हैं वे एक 'वाद' विशिष्ट के अन्तर्गत हो रहे हैं। इस 'वाद' को 'प्रयोग वाद' कहते हैं। 'प्रयोगवाद' का सामान्य अर्थ है काव्य-विषयक अन्वेषण और उस उन्वेषण के परिणाम स्वरूप काव्य की शैली। इस दृष्टि के प्रयोग वादी रचनाओं में 'प्रयोग' साधन मात्र नहीं है, वह स्वयं साध्य है और उनके काव्य का चरम लक्ष्य है। नए विषय, नए प्रतीक, नए उपमान, नई शैलियाँ, सौंदर्य के नए प्रसाधन उनकी विशेषताएँ हैं। 'प्रयोगवादी कवियों का मत है कि जिस प्रकार हमारा जीवन गतिशील और सत्यान्वेषी है, पूर्ण सत्य की उपलब्धि होनी दुष्कर है, उसी प्रकार काव्य में भी अन्वेषीण ही संभव है, पूर्ण सत्य तक पहुँचना संभव नहीं है।' इस प्रकार सभी राजनीतिक बंधनों से मुक्त होकर काव्य के विषय खोजना और उन्हें नवीन प्रयोगों के आधार पर सामाजिक जीवन के अनुकूल बनाना ही उनका परम ध्येय है।

'प्रयोगवाद' में बुद्धि-वैभव का विलास अधिक है। उसके कवि अन्वेपी होने के कारण शब्दों के साधारण अर्थ को स्वीकार न करके उनमें अपने अनुकूल नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरने की चेष्टा करते हैं। उनके इस प्रकार के प्रयास से उनकी भाषा की समास एवं व्यंजना-शक्ति इतनी बोझिल हो जाती है कि उसका संपर्क सब के साथ नहीं रह जाता। छायावाद में भावनाओं की जैसी रंगीनी, कल्पना की जैसी उड़ान और भाषा की जैसी तरलता मिलती है वैसी उनकी रचनाओं मे नहीं मिलती। विषय भी उनके इतने गहन और गंभीर होते हैं कि सब उसका आनंद नहीं उठा सकते। प्राचीन छंद-योजना के प्रति विद्रोह भी उनकी एक विशेपता है। इस प्रकार वह अपनी काव्य-साधना के क्षेत्र में प्रत्येक दृष्टि से नूतनता के उपासक हैं। उनकी रचनाओं में युग नहीं बोलता, वे स्वयं बोलते हैं।

हिन्दी-प्रयोगवाद पर अँग्रेजी के आधुनिक कवि टी० सी० इलियट

की काव्य-शैली का विशेष प्रभाव है। प्रथम महायुद्ध (सं० १९७१-७५) के दिनों में टी० एस० इलियट ने मेरेडिथ (सं० १८८५-१९६६) और टामसहार्डी (सं० १८९७-१९८५) आदि कवियों की अभिव्यंजना-शैली के विरुद्ध अपनी जो कविताएँ प्रस्तुत कीं उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में एक ऐसी नवीन काव्य-धारा का प्रवर्तन किया जिसमें मानव-जीवन का अशान्त, खोखला, हेय तथा द्वन्द्वमय प्रदर्शन था। सं० १९७२ में उनका सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'प्रुफ्राक' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में उन्होने आधुनिक सभ्यता की शोषक शक्ति की कटु आलोचना की और जटिल उपमाओं-द्वारा अपने विषय की पुष्टि की। इसके पश्चात् 'वेस्टलैंड' (सं० १९८९) में उन्होंने अधिक विस्तार एवं गांभीर्य से अपने युग के अनिश्चयवाद तथा अधार्मिकता का चित्रण किया। हिन्दी के प्रयोगवादी कवियो को उससे विशेष प्रेरणा मिली। द्वितीय महायुद्ध (सं० १९९६-२००३) के बाद भारतीय जीवन में जैसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं उनके प्रति साम्यवाद से प्रभावित मध्य-वर्गीय तरुण-साहित्यकार विद्रोह कर उठे। उनके हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने उपहास, क्रोध, घृणा, आत्म-पीड़न, आत्म-ग्लानि, झुंझलाहट, अहंभाव, महत्वाकांक्षा, आत्म-विश्वास आदि द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की। उन्होंने जहाँ एक ओर समाज और धर्म में प्रचलित नैतिक मान दण्डों तथा आचार-विचारों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की, वहाँ दूसरी ओर साहित्य की प्रचलित परंपराओं का भी उन्मूलन कर उनके स्थान पर नितान्त नई अभिव्यंजना-शैली का प्रयोग किया। प्रगतिवादी कवियों की भांति वे हंसिया-हथौड़ा लेकर काव्य क्षेत्र में नहीं आये। वर्ग-हीन समाज की स्थापना करने का उन्होंने उद्घोष नहीं किया। उन्होंने साम्यवाद की विचार-धारा से अपने विषय लिये और उन्हें एक नूतन शैली में ढालने की कोशिश की। हिन्दी के प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि अज्ञेयजी ने 'तार सप्तक' (सं० २०००) की भूमिका में सात कवियों की रचना-शैली का उल्लेख करते हुए लिखा है—'दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।

बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुये नहीं हैं, अभी राही हैं, अन्वेषी हैं। संभवतः उनके अन्वेषी होने के कारण ही अभी इस धारा का नाम 'प्रयोगवाद' रखा गया है। कुछ लोग इसे 'नयी कविता' कहते हैं। वस्तुतः अभी 'प्रयोगवादी' कविता अथवा 'नयी कविता' की कोई निश्चित रूप-रेखा उभर नहीं पाई है। वह अपने निर्माण-काल में है। भविष्य में उसका क्या रूप होगा, यह नहीं कहा जा सकता। वर्तमान समय में मध्य-वर्गीय शिक्षित नवयुवक के कवियो का एक दल उसका अन्वेषण कर रहा है।'

प्रयोगवादी कविता के आदि प्रवर्तक डा० सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (ज० सं० १९६८) हैं। 'भग्नदूत' (सं० १९९०), 'चिंता' (सं० १९९७), 'इत्यलम' (सं० २००३), 'हरी घास पर क्षण भर' (सं० २००६) तथा 'बावरा अहेरी' (सं० २०११) उनके काव्य-संग्रह हैं। इन काव्य संग्रहों से एक उदाहरण लीजिए:—

'वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार —
शिशिर की राका-निशि की शांति है निस्सार
निकटतर-धंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा।'

प्रयोगवादी कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र, शमशेरबहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, डा० धर्मवीर भारती, केदारनाथ 'प्रभात', कुँवर नारायण, राधाकृष्ण सहाय, शम्भुनाथ सिंह, विजय देवनारायण साही, मलयज, रवीन्द्र भ्रमर, डा० जगदीश गुप्त, वीरेन्द्र कुमार जैन, प्रभाकर माचवे आदि प्रमुख हैं। शम्भूनाथ सिंह-कृत 'जगन्नाथ का रथ' शीर्षक एक कविता से एक उदाहरण लीजिए:—

'मृत्यु के तट पर
ध्वजा गड़ जाय जीवन की !
भड़क कर भग जाय यम का महिष
सुन ध्वनि घोर घर्घर सिन्धु-मन्थन की !
मरें दब कर भक्त-जन होकर विवश
इस 'मुक्ति' के पथ में !
विश्व-विग्रह जगन्नाथ चलें प्रतिष्ठित
शांति-विहग-कपोतवाही महाजन-रथ में !!'

वीरेन्द्र कुमार जैन की एक रचना का उदाहरण लीजिए :—

'वह गई फूल बीनने :
आसोज की तपती दुपहरिया में
सफेद कमलों के कर्णफूल पसीने में भिगोती,
मधु-मक्खियों के उन्मन गुञ्जन से गूंजते-कांपते
उस घाटीवाले बन में :
वह गई फूल बीनने
संध्या के मण्डप-घर की दीवारों पर मांडने के लिये ।'

गिरजा कुमार माथुर 'चंदरिमा' में लिखते हैं :—

'यह झका झक रात
चांदनी उजली कि सूई में पिरोलो ताग
चांदनी को दिन समझ कर बोलते हैं काग
हो रही ताजी सफेदी नए चूने से
पुत रहे घर-द्वार
चांद पूरा साफ़
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल
चिकनी चमक का दलदार ।'

रवीन्द्रकुमार 'भ्रमर' अपने एक 'गीत' में कहते हैं :—

'चांद को झुक झुक कर देखा है
सांझ की तलैया के
निर्मल जल दर्पन में
पारे-सी बिछलन वाले
चमकीले मन में;
रूप की राशि को परेखा है।'

मलयज का अहंभाव इन पंक्तियो में देखिए :—

'हम स्वप्नदर्शी हैं
और स्वप्न यह देखते हैं
कि बेले की नन्हीं पांखुरियों-से स्वप्न ये
युग के धृतराष्ट्र की आंखों में
जीवन के मूल्य नये
दीप्तमान अर्थों की ज्योति-रेख खींचेंगे,
स्वप्न सत्य होते हैं
करके दिखायेंगे......'

भवानी प्रसाद की चिन्तनशीलता इन पंक्तियों में देखिए :—

'फूल लाया हूँ कमल के।
क्या करूँ इनका?
पसारें आप आंचल
छोड़ दूँ,
हो जाय जी हल्का!
किन्तु होगा क्या कमल के फूल का?
ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं
इन्हें हूँ बीच से लाया
न समझो तीर पर के हैं।'

केदारनाथ 'प्रभात' लिखते हैं :—

'आकाश !
सुना है, तुम दिगन्त-व्यापी विभूतियों के स्वामी हो विभापुंज
हे महाशून्य !
तुम धारण करते हो गीतों का अमृत-कोष
हे गहन नील के ज्योति-कण !
तुम लक्ष-लक्ष दीपों का लेकर स्नेह
जल रहे हो अनादि से इसी भाँति ।'

डा० धर्मवीर 'भारती' की 'नीली झील' शीर्षक रचना से एक उदाहरण लीजिए :—

'चल रहा हूँ मैं,
कि मेरे साथ
कोई और
चलता
जा रहा है
दूर तक फैली हुई
मासूम धरती की
सुहागन गोद में सोए हुए
नवजात शिशु के नेत्र-सी
इस शान्त नीली झील
के तट पर
चल रहा हूँ मैं
कि मेरे साथ
कोई और
चलता
जा रहा है ।'

जगदीश गुप्त लिखते हैं :—

'पौ फटी,
चुपचाप काले स्याह भँवराले अंधेरे की
घनी चादर हटी।
मखमूर आखों में गई भर जोत
जब फूटा सुनहला सोत।'

ये हैं प्रयोगवादी कवियों की प्रयोगवादी रचनाएँ! काव्य में ही नहीं, नाटक, कहानी, उपन्यास—सब में इस प्रकार के नवीन प्रयोग हो रहे हैं। डा॰ धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा-द्वारा संपादित अर्द्ध वार्षिक पत्र 'निकष' के अनुसार इनमें सजीवता, नये सौंदर्य-बोध की चेतना, आधुनिकतम परिवेशों में स्थायी मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा, यथार्थ के नये धरातलों का उभार और रस-ग्राही तथा प्रबुद्ध पाठक को छू सकने की शक्ति है। इसमें सन्देह नहीं कि कई प्रयोगवादी कवियों ने नवीन उद्भावनाएँ अभिव्यक्त कर सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है और शैली तथा व्यंजना-संबंधी अनेक प्रयोग कर कविता को रूढ़ि और राजनीति के बंधन से बचाया है, पर कुछ ऐसे प्रयोगवादी कवि भी हैं जिनकी रचनाएँ निरुद्देश्य और मानसिक विकार का स्पष्टीकरण मात्र हैं। अज्ञेय जी, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, केदारनाथ 'प्रभात', जगदीश गुप्त आदि की रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर और स्वस्थ हैं। धर्मवीर-कृत 'ठंडा लोहा' (सं० २००६), और 'अंधायुग' (सं० २०१२); जगदीश गुप्त-कृत 'नदी के पाँव' (सं०२०१२), गिरिजाकुमार माथुर-कृत 'धूप के धान' (सं० २०१२) और भवानीप्रसाद-कृत 'गीत फरोश' (सं० २०१२) श्री रमण-कृत 'आयाम' (सं० २०१२) आदि इस धारा की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। आगे आनेवाली हिन्दी-कविता कैसी होगी, इसका आभास वे अपनी रचनाओं-द्वारा दे रहे हैं।

प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियो के अतिरिक्त पुराने खेवे के कवियों ने भी वर्तमान युग में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अयोध्यासिंह

उपाध्याय-कृत 'वैदेही-वनवास' (सं० १६६७), द्वारिकाप्रसाद मिश्र-कृत 'कृष्णायन' (अवधी : सं० २००२); ठाकुरप्रसाद सिंह-कृत 'महामानव' (सं० २००६); श्यामनारायण पाण्डेय कृत

परंपरागत काव्य

'हल्दीघाटी' (सं० १६६८) और 'जौहर' (सं० २००२); गुरुभक्तसिंह 'भक्त'-कृत 'विक्रमादित्य' (सं० २००६); बलदेव प्रसाद मिश्र (ज० सं० १६५५)-कृत 'साकेत-संत' (स०२००५),गोपालशरण सिंह-कृत'जगदा लोक' (सं०२००६); हरिदयाल सिंह-कृत 'दैत्यवंश' (व्रजभाषा : सं०१६६७) और 'रावण' (व्रज-भाषा : सं० २००६); अनूप शर्मा (ज० सं० १६५६)-कृत 'वर्द्धमान' (सं० २००८); तुलसीराम शर्मा-कृत 'पुरुषोत्तम' (सं०१६६६); केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कृत 'कैकेयी' (सं० २००७) और 'तप्त गृह' (स० २०११); आनन्द कुमार-कृत 'अंगराज' (सं० २००७); डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'-कृत 'काव्य-पुरुष' (सं० २०११); गदाधरसिंह-कृत 'दयानन्दायन' (अवधी : सं० २०११); 'दिनकर' कृत 'रश्मि-रथी' (स० २००६) तथा रामानन्द शास्त्री-कृत 'पार्वती' (सं० २०१२) इस युग के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। इनके अति-रिक्त मैथिलीशरण गुप्त-कृत'नहुष' (सं० १६६७),'कुणालगीत' (सं० १६६६), 'काबा और कर्बला' (सं०१६६६), 'अजित' (सं० २००३) 'पृथ्वी-पुत्र' (सं० २००७), 'हिडिम्बा' (सं० २००७), 'अंजलि और अर्घ्य' (सं० २००७) 'प्रदक्षिणा' (सं ०२००७), 'युद्ध' (सं ०२००६) और 'भूमि भाग' (सं० २०१०); माखनलाल चतुर्वेदी-कृत 'हिमकिरीटनी' (सं०१६६८), 'हिमतरंगिनी' (सं० २००५) और 'माता' (सं० २००८); गोपालशरण सिंह-कृत 'संचिता' (सं० १६६६), 'सुमना' (सं० १६६८), 'सागरिका' (सं० २००१), 'ग्रामिका' (सं० २००८) और 'प्रेमांजलि' (सं० २००८); महादेवी वर्मा-कृत 'दीपशिखा' (सं० १६६६); श्यामनाराण पांडेय-कृत 'आरती' (सं० २००३), 'तुमुल' (सं० २००५) और 'गोरावध' (सं० २००७); आरसीप्रसाद सिंह-कृत 'आरसी' (सं० १६६६) और 'प्रेम गीता' (सं० (सं० २०१२); सोहनलाल-द्विवेदी-कृत 'वासवदत्ता' (सं० १६६६), 'कुणाल' (सं० २०००) और 'प्रभाती' (सं० २००२); सियाराम शरण-कृत 'उन्मुक्त' (स० १६६८); 'नोआखाली

में' (सं० २००३), 'जयहिन्द' (सं० २००३); 'नकुल' (सं० २००३), 'आद्रा' (सं० २००५); और 'अनाथ' (सं० २००८); हरिकृष्ण 'प्रेमी'-कृत 'अग्नि-गान' (सं० १९९७); क्षेमचन्द्र 'सुमन'-कृत 'मल्लिका' (सं० २०००), 'बन्दी के गान' (सं० २००२) और 'कारा' सं० (२००३); गोकुलचन्द्र शर्मा-कृत 'गांधी-गौरव' (सं० २००८), 'अशोकवन' (सं० २००८) और 'मंगल-मार्ग' (सं० २०१२) नामक खण्ड-काव्य तथा शिवमंगल सिंह 'सुमन'-कृत 'विश्वास बढ़ता ही गया' (सं० २०१२) इस युग की सुन्दर कला-कृतियाँ हैं।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का जैसा विकास गत सत्तर वर्षों (सं० १९२५-९५) में हुआ वैसा अब नहीं हो रहा है। इस समय इने-गिने नाटककार ही साहित्य-क्षेत्र में दिखाई देते हैं। इसका एक कारण है, रंगमच का अभाव। हिन्दी के पास अपना कोई रंग-मंच नहीं है। नाटक-कम्पनियों का स्थान सिनेमा ने ले लिया है। प्रत्येक नगर उसका आकर्षण-केन्द्र बना हुआ है। रेडियो के प्रचार एवं प्रसार के कारण बड़े-बड़े नाटकों के लिखने और उन्हें खेलने की ओर किसी का ध्यान नहीं है। गोविन्दवल्लभ पंत की लेखनी जितनी उपन्यास-रचना की ओर गतिशील है उतनी नाटक-रचना की ओर नहीं है। 'अन्तःपुर का छिद्र' (सं० १९९७), 'सिन्दूर-बिन्दी' (सं० २०००), और 'ययाति' (सं० २००८) उनके तीन प्रसिद्ध नाटक हैं। इनमें से प्रथम ऐतिहासिक भाव-नाट्य है। तीनों अभिनेय हैं। नाटकीय घटना की पकड़, कौतूहल जगाने की क्षमता और रोमांचकारी वातावरण उपस्थित करने की कला में पंत जी निपुण हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' इस युग के समर्थ नाटककार हैं। 'आहुति' (सं० १९९७), 'स्वप्नभंग' (सं० १९९७), 'छाया' (सं० १९९८), 'बन्धन' (सं० १९९८), 'मित्र' (सं० २००२), 'विषपान' (सं० २००२) 'उद्धार' (सं० २००६), 'शपथ' (सं० २००८), 'प्रथम जौहर' (सं० २००९) और 'स्तंभ' (सं० २०११) उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। उनके नाटकीय प्रेरणा की पृष्ठभूमि है राष्ट्रीय आदर्श, एक नैतिकता। भारतीय इतिहास के सामन्ती युग से उन्होंने अपने नाटकों की सामग्री

नाटक का विकास

एकत्र की है और अपने आदर्श के अनुकूल उसे नाटकीय छटा प्रदान की है। उनके नाटक भी अभिनेय हैं। उदयशंकर भट्ट के पौराणिक नाटक उनकी गहन अध्ययन का परिचय देते हैं। 'कमला' (सं० १९९६), 'राधा' (सं० १९९८), 'अन्तहीन अन्त' (सं० १९९९) 'मुक्तिपथ' (सं० २००१), 'एकला चलो रे' (सं० २००५), 'समस्या का अंत' (सं०२००५) 'शक विजय' (सं० २००६), 'क्रान्तिकारी' (सं० २०१०), और 'नया समाज' (सं० २०१२) उनके उल्लेखनीय नाटक हैं। उन्होने अधिकांश पौराणिक नाटक ही लिखे हैं। 'मुक्ति-पथ' और 'शक-विजय' उनके ऐतिहासिक तथा 'कमला' और 'अन्तहीन अन्त' सामाजिक नाटक हैं। चतुरसेन शास्त्री ने भी कई पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। 'सीताराम' (सं० १९९६), 'श्री राम' (सं० १९९७), 'राधाकृष्ण' (सं० २००२) आदि उनके पौराणिक और 'अजीतसिंह' (सं० २००६), 'राजसिंह' (सं० २००६) और 'पग ध्वनि' (सं० २००९) उनके ऐतिहासिक नाटक हैं।

नाटक-साहित्य में बुद्धिवाद के प्रवर्तक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आरम्भ में कई समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक लिखे, पर बाद को उन्होंने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक लिखना अरम्भ किया। 'आधीरात' (सं० १९९२) के पश्चात् के उनके सभी नाटक इसी प्रकार के हैं। 'गरुड़-ध्वज' (सं० १९९७), 'नारद की वीणा' (सं० १९९९), 'वत्सराज' (सं०-२००७), 'दशाश्वमेध' (सं० २००७), 'वितस्वा की लहरें' ( सं० २०००), 'चक्रव्यूह' (सं० २०११), 'कवि भारतेन्दु' (सं० २०१२) आदि उनकी नवीनतम रचनाएँ हैं। इन नाटको में जीवन की गम्भीर समस्याएँ ली गयीं हैं और उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण से चित्रण किया गया है।

सेठ गोविन्द दास के नाटक समस्या-मूलक हैं। 'संतोष कहाँ' (सं०-१९९०) 'सुख किसमें' (सं० १९९८), 'दलित कुसुम (सं० २०००), 'गरीबी-या अमीरी' (सं० २०००) 'कर्ण' (सं० २०००), 'शेरशाह' (सं० २००२) 'पाकिस्तान' ? (सं० २००३), 'स्नेह या स्वर्ग' (सं० २००३) 'भूदान' (सं०-२०१३), 'रहीम' (सं० २०१२) और 'भारतेन्दु' (सं० २०१२) उनके नाटक

हैं। इनमें से प्रायः प्रत्येक में कोई-न-कोई समस्या उठाई गई है। पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तीनों प्रकार की समस्याएँ उनके नाटकों में मिलती हैं। उनकी समस्याएँ बहुत गम्भीर नहीं हैं। अपने पात्रों में भी उन्होंने नवीन रंग भरने की चेष्टा नहीं की है।

वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार तो हैं ही, नाटककार भी हैं। उपन्यासों की अपेक्षा उन्हें अपने नाटकों में विशेष सफलता नहीं मिली है। 'फूलों की बोली' (सं० २००४), 'झाँसी की रानी' (सं० २००५), 'हंसमयूर' (सं० २००५), 'पूर्व की ओर' (सं० २००७) और 'बीरबल' (सं० २००७) उनके ऐतिहासिक तथा 'राखी की लाज' (स० २००३), 'बाँस की फाँस' (स० २००४), 'पायल' (सं० २००६), 'मंगल सूत्र' (सं० २००६), 'नीलकंठ' (सं० २००८) और 'निस्तार' (सं० २०१२) उनके सामाजिक नाटक हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से इन नाटकों में विशेष चमत्कार नहीं है। उपेन्द्रनाथ अश्क (जं० सं० १९६७) समस्याओं को लेकर नाटक लिखने में विशेष सफल हुए हैं। 'जय पराजय' (सं० १९९४), 'स्वर्ग की झलक' (सं० १९९६) 'कैद' और 'उड़ान' (सं० २००२), 'छठा बेटा (सं०-१९९७), 'आदि मार्ग' (सं० २००७), 'पैंतरे' (सं० २००९), 'चेतन' (सं०-२००९), और 'अलग-अलग रास्ते' (सं० २०१०) उनके नाटक हैं। सभी अभिनीत हो चुके हैं और सफल रहे हैं। शैली, संवाद, वस्तु-विन्यास, समस्याओं के चित्रण सभी उपयुक्त, मनोवैज्ञानिक और सुगठित हैं। बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'गंगा का बेटा' (सं० १९९९), 'आवारा' (सं० १९९९), और 'अन्नदाता' (सं० १९९९); रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'अम्बपाली' (सं० २००४), तथा 'तथागत' (सं० २००९) नामक ऐतिहासिक नाटक; भगवतीचरण वर्मा-कृत 'बुझता दीपक' (सं० २००७) और 'रुपया तुम्हें खा गया' (सं० २०१२); जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'कोणार्क' (सं० २००८); सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'अजन्ता' (सं० २००६), 'भगवान बुद्ध' (सं० २०१०), 'शबरी' (सं० २०१०), और 'अनारकली' (सं० २०१०); जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'-कृत 'समर्पण' (सं० २००७) 'गौतमनन्द'

(सं० २००८) और 'जीवन-संगीत' (सं० २००६); डा० जनार्दन मिश्र-कृत 'गुरु दक्षिणा' (सं० २००८); पृथ्वीनाथ शर्मा-कृत 'अपराधी' (सं० १६६६), 'साध' (स० २००२); और 'उर्मिला' (सं० २००७); कैलाशनाथ भटनागर-कृत 'श्रीवत्स' (सं० १६६८); विश्वम्भर सहाय-कृत 'बुद्ध-देव' (सं० १६६६); जगन्नाथ नलिन-कृत 'अवसान' (सं० २०१२); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार-कृत 'देव और मानव' (सं० २०१२); रूप-नारायण पाण्डेय-कृत 'पद्मिनी' (सं० १६६६) सुन्दर नाटक हैं। कंचन-लतासब्बरवाल उपन्यास-लेखिका तो हैं ही, नाटककार भी हैं। 'आदित्य सेन गुप्त' (सं० १६६६) 'लक्ष्मीबाई' (सं० २००८) और 'अमित्रा' (सं०-२००८) उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। देवराज 'दिनेश' ने भी कई नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों में 'रावण' (स० २००८), 'मानव-प्रताप' (सं०-२००८) और 'यशस्वी भोज' (सं० २०१२) अधिक प्रसिद्ध हैं। नाटक-कला की दृष्टि से उनके ये तीनों नाटक सफल हैं। वर्तमान युग में नाटक-कला अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है। प्रायः सभी नाटककारों ने अंगरेजी नाट्य-शैली के अनुसार कला का मार्ग प्रशस्त किया है और इसमें उन्हें सफलता भी मिली है।

**एकांकी का विकास**

नाटक की अपेक्षा वर्तमान युग में एकांकी अधिक लिखे गए हैं। एकांकी का अबतक का जीवन (सं० १६८५-२०१२) केवल सत्ताइस वर्ष का है। इन सत्ताइस वर्षों में उसने हिन्दी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उसका नाटक के साथ वही संवध है जो कहानी का उपन्यास के साथ है। नाटक और उपन्यास जैसे एक नहीं हैं उसी प्रकार कहानी और एकांकी भी एक नहीं हैं। कहानी केवल श्रव्य और पठनीय है, एकांकी पठनीय और दृष्टव्य है। एकांकी हमारी समस्त इन्द्रियों को एक साथ प्रभावित करता है और उसमें हमारी आशाएँ-आकांक्षाएँ तथा भाव-विचार साकार हो उठते हैं। कहानी अभिनेय नहीं है, एकांकी अभिनेय है। कहानी में लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रहता है और एकाकी में अप्रत्यक्ष। इस प्रकार का अन्तर

होते हुए भी दोनो के मूल तत्व एक ही हैं और दोनों की कथा-वस्तु को प्रायः समान परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। दोनो ने पाश्चात्य-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है।

वर्तमान युग में **डा० रामकुमार वर्मा** (ज० सं० १९६२) एकांकी के समर्थ कलाकार हैं। 'पृथ्वीराज की आखें' (सं० १९९१) के पश्चात् 'रेशमी टाई' (सं० १९९८), 'चारुमित्रा' (सं० १९९९), 'कौमुदी महोत्सव' (सं० २००५), 'चार ऐतिहासिक एकांकी नाटक' (सं० २००६), 'विभूति' (सं० २००१), 'ध्रुवतारिका' (सं० २००७), 'रम्यरास' (सं० २००७), 'सप्त किरण' (सं० २००४), 'रजत रश्मि' (स० २००९), 'ऋतुराज' (सं० २००९), 'दीप दान' (सं० २०१०) 'इन्द्र धनुष' (सं० २०१२), 'रिमझिम' (सं० २०१२) आदि उनके प्रसिद्ध एकांकी-संग्रह हैं। इन संग्रहो में उनके सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक एकांकियों के अतिरिक्त विनोद, अट्टहास, अतिरंजना, विद्रूप, परिहास, उपहास, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, व्यंग और विकृत आदि विभिन्न शैलियां के एकांकी मिलते हैं। अपने इन इकांकियो के संबंध में वह लिखते हैं—मैंने पिछले पच्चीस वर्षों में एकांकी नाटकों के क्षेत्र में जो प्रयोग किए हैं वे पश्चिम की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर भी भारतीय नाट्य-शास्त्र के क्रोड़ में पोषित हुए हैं। संभवतः इसीलिए मेरे नाटको मे यथार्थवाद से उद्भूत एक नैतिक आदर्शवाद है। परिस्थितियो के विचित्र संघर्षों में रस की स्थिति में मेरा विश्वास है।' वर्माजी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनके सभी नाटक आदर्शोन्मुख हैं। कथानक, संवाद, चरित्र चित्रण, शैली, उद्देश्य आदि सभी दृष्टियो से उनके एकांकी सफल और अभिनेय हैं। विषय की पकड़ उनके-जैसी बहुतों को नहीं हैं। उनसे एकांकी-कला को बहुत बल मिला है। **उदय शंकर भट्ट** (ज० सं० १९५४) मुख्यतः नाटककार हैं। 'अभिनव एकांकी' (सं० १९९९) 'स्त्री का हृदय' ( सं० १९९९ ) 'आदिम युग' (सं० २००५), 'धूम शिखा' (सं० २००६) तथा 'अंधकार और प्रकाश' (सं० २००९) आदि उनके कई एकांकी-संग्रह हैं। **प्यारे लाल**-कृत 'माता की सौगात'

(सं० १९९७); लक्ष्मीनारायण मिश्र(ज०सं० १९६०)-कृत 'कावेरी में कमल' (सं० २०१२); जैनेन्द्र कुमार-कृत 'टकराहट' (सं० २०१०); डा० धर्मवीर भारती-कृत 'नदी प्यासी थी' (सं० २०११); विश्वंभर 'मानव'-कृत 'लहर और चट्टान' (सं० २००६), कृष्ण चन्द्र-कृत 'सराय के बाहर' (सं० २०१०) और 'नए गुलाम' (सं० २०११); जगदीशचन्द्र माथुर-कृत 'रीढ़ की हड्डी' (सं० १९९६), 'भोर का तारा' (सं० २००३), 'पांच नटखट नाटक' (सं० २०१०) और 'ओ मेरे सपने' (सं० २०१०); सद्‌गुरुशरण अवस्थी-कृत 'दो एकांकी' (सं० १९९७) और 'नाटक और नायक' (सं० २००७); सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'एकांकी नाटकावली' (सं० २०१०), रामवृक्ष बेनीपुरी-कृत 'संघमित्रा' (सं० २००४); तथा 'नेत्रदान' (स० २००७); उपेन्द्रनाथ अश्क (ज० सं० १९६७)-कृत 'देवताओं की छाया में' (सं० १९९६); हरिकृष्ण 'प्रेमी'-कृत 'मंदिर' (सं० १९९९) और 'बादलों के पार' (सं० २००६); सेठ गोविन्ददास-कृत 'सप्त रश्मि' (सं० १९९७), 'एकादशी' (सं० १९९९), 'पंच-भूत' (सं० १९९९); 'अष्ट दल' (सं० २००१), और 'चतुष्पद' (सं० २००४); वृन्दावन लाल वर्मा-कृत 'काश्मीर का कांटा' (सं० २००५); 'पीले हाथ' (सं० २००५), 'लो भाई पंचोलो' (सं० २००५), 'जहांदार शाह' (सं० २००७), 'सगुन' (सं० २००७), और 'कनेर' (सं० २००७) कला की दृष्टि से अच्छी रचनाएँ हैं। लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'ताजमहल के आँसू' (सं० २००७), 'पर्वत के पीछे' (सं० २००६) और 'अंधा कुआँ' (सं० २०१२) कला की दृष्टि से सुन्दर कृतियाँ हैं। विष्णु प्रभाकर भी इस युग के समर्थ एकांकी-कार हैं। 'इन्सान और अन्य एकांकी', 'क्या वह दोषी था ?' (सं० १९९८), (सं० २००४), 'हमारा स्वाधीनता संग्राम' (सं० २००७), 'मां का बेटा' (सं० २००७), 'देवताओं की घाटी' (सं० २०११) और 'अशोक' (सं० २०११) उनके एकांकी-संग्रह है। इस समय हिन्दी में एकांकी-कला अपने विकास पर है। फैंटेसी, भावनाट्य, प्रहसन, प्रतीक नाटक, गीति नाट्य, एक पात्रीय नाटक, संवाद-शैली के एकांकी, रिपोर्ताज आदि कई प्रकार के एकांकी लिखे गए हैं। मूकाभिनय भी नाटक की एक नयी दिशा है। इसमें पूर्णरूप से

अभिनय नहीं होता। नेपथ्य में एक व्यक्ति खड़ा होकर वर्णनीय बात पद्य या गद्य मे कहता है और रंगमंच पर पात्र तदनुरूप अभिनय करते हैं। एकांकी की यह शैली भी अपनायी जा रही है।

रेडियो-नाटक वर्तमान युग की देन हैं। रेडियो के साथ-साथ इनका भी प्रचार बढ़ रहा है। इनकी अपनी कला है, अपना रचना-विधान हैं।

**रेडियो-नाटक का विकास**

रंगमंचीय नाटक और एकांकी में अभिनय की प्रधानता रहती है। वे दृष्टव्य हैं। आँख और कान दोनो एक साथ उनका आनन्द उठा सकते हैं। रंगमंच पर नृत्य का भी विधान किया जा सकता है, पर रेडियो नाटक में इन सभी साधनों का अभाव रहता है। हम घर बैठे उनका आनन्द लेते हैं। उस समय हमारे कान सुनते हैं और यह ध्वनि के साधनों-द्वारा संभव होता है। रंगमंचीय नाटकों में संकलन त्रय—कार्य-संकलन, काल-संकलन और स्थान-संकलन-का बन्धन किसी न किसी रूप में रहता है, पर रेडियो-नाटक में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। रेडियो-नाटक में संवाद-योजना पर बल दिया जाता है और रंगमंचीय नाटको में अभिनय पर। रंगमच पर नाटकीय पात्रों के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं होता, परन्तु रेडियो नाटक में एक नैरेटर ( कथाकार ) रहता है जो वर्णन द्वारा पूर्वा पर घटनाओं को संयुक्त करता रहता है। इसके अतिरिक्त जो स्वगत भाषण रंगमंच पर अस्वाभाविक-सा लगता है वह रेडियो पर स्वाभाविक हो जाता है। सारांश यह कि रंगमंचीय नाटक और रेडियो नाटक में पर्याप्त अन्तर है। दोनों के तन्त्र अलग है, दोनों के प्रयोग अलग हैं।

रेडियो-नाटक अभी अपने शैशव-काल में हैं। पश्चिम में यह कला अधिक विकसित हो चुकी है। हिन्दी में भगवती चरण वर्मा, लक्ष्मी नारायण मिश्र, सुमित्रानन्दन पंत, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, गिरजाकुमार माथुर आदि ने कई सुन्दर रेडियो-नाटक लिखे हैं। रेडियो-नाटक कई प्रकार के हो सकते हैं। डा० दशरथ ओझा ने इसके भेद किए हैं : (१)

रेडियो रूपक, (२) फीचर (३) ध्वनि-नाट्य, (४) स्वोक्ति, (५) फैंटेसी, (६) ध्वनि गीति रूपक, (७) रिपोर्ताज, (८) जन-नाटक और (९) व्यंग । उनके अनुसार रेडियो-रूपक में अंकों और दृश्यों का विधान नहीं होता। संकलन त्रय का बन्धन भी उसके लिए आवश्यक नही है । 'स्वगत' की प्रणाली जो रंगमंचीय नाटकों में अस्वाभाविक-सी लगती है, इसमें स्वाभाविक हो जाती है । रेडियो-फीचर रेडियो-नाटक की दूसरी शैली है। इसके अन्तर्गत उपन्यासों को नाटक-रूप में उपास्थत किया जाता है । सूचनात्मक और प्रचारात्मक विषय भी इसके द्वारा प्रसारित किए जाते हैं । ध्वनि-नाट्य संवाद-प्रधान होता है । वाचिक अभिनय इसका आधार है । स्वोक्ति एक पात्रीय नाटक होता है । इसमें कथा सुसम्बद्ध होती है । विष्णु प्रभाकर-कृत 'सड़क' ऐसा ही नाटक है । फैंटेसी में भावात्मक घटना एवं अनुभूति को स्वच्छन्द रीति से चित्रित किया जाता है । ध्वनि-गीति रूपक का माध्यम कविता है । सुमित्रानन्दन पंत-कृत 'शिल्पी' ( सं० २००९ ) इसका उदाहरण है । रिपोर्ताज में घटनाओं का वर्णन नाटकीय ढंग से किया जाता है । क्रिकेट मैंच, स्वतंत्रता दिवस, किसी उत्सव, मेला आदि का जो वर्णन रेडियो से प्रसारित होता है वह इसी प्रकार का होता है। जन-नाटक-द्वारा ग्रामीण जनता में नए विचारो का प्रचार किया जाता है । व्यंग-द्वारा समाज की कुरीतियों और आडम्बरपूर्ण विधि-विधानों का उपहास किया जाता है । हिन्दी में ऐसे सभी प्रकार के रेडियो नाटक लिखे गए हैं और प्रतिदिन प्रसारित होते रहते हैं । लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'अशोक-वन' ( सं० २००७ ) तथा 'प्रलय के पंख पर' ( सं० २००७ ) में सुन्दर रेडियो रूपक संगृहीत हैं । विष्णु प्रभाकर ने भी कई प्रकार के रेडियो-नाटक लिखे हैं। उनका 'बीमार' ध्वनि-नाट्य का सुन्दर उदाहरण है । इसके अतिरिक्त 'कांग्रेस मैन बनो', 'वीर पूजा', 'विभाजन', 'भगवान' आदि उनके कई रेडियो रूपक हैं । उदयशंकर भट्ट भी रेडियो-रूपक लिखने में सिद्धहस्त हैं । 'कालिदास' (सं० २००७), 'मेघदूत' (सं० २००७) और 'विक्रमोर्वशी' (सं० २००७) उनके प्रसिद्ध ध्वनि-रूपक हैं ।

वर्तमान युग में उपन्यास ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इसका एक कारण है और वह यह कि उसके क्षेत्र और रूप में जीवन के सभी विषयों का समावेश अत्यन्त सुगमतापूर्वक हो जाता है। इसलिए वह आज साहित्य-संसार का मूर्धन्य बन गया है। मानव-समाज की यथार्थ जीवन-विधि की जैसी सुन्दर झांकी उसमें देखने को मिलती है वैसी साहित्य के अन्य किसी अंग में नहीं मिलती। जीवन की गुत्थियों और गुह्यतम ग्रंथियों को ईमानदारी और सचाई के साथ सबके सामने रख देना ही उसका चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति उपन्यासकार अपने जीवन-अनुभव के आधार पर करता है। जिस उपन्यासकार को जीवन की गहन अनुभूति होती है और जो अपने चारों ओर के जीवन को आंखें खोलकर देखता, समझता और उससे प्रभावित होता है वही अपनी रचना में सफल हो सकता है। उपन्यास-लिखना कथा कहना नहीं है। कथा में घटनाएँ ही घटनाएँ रहती हैं, पर उपन्यास में कम-से-कम घटनाओं के आधार पर पात्रों के चरित्र का विकास किया जाता है। यही वास्तविक उपन्यास-कला है। इस कला का विकास प्रत्येक साहित्य में क्रमशः होता है। पहले वहिर्मुखी अर्थात् घटना-प्रधान उपन्यास लिखे जाते हैं, फिर अन्तर्मुखी अर्थात् चरित्र-प्रधान उपन्यासों की बारी आती है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम पचास वर्षों (सं० १९२५-७५) में अधिकांश घटना-प्रधान उपन्यास ही लिखे गये। उन दिनों तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी, नीति-प्रधान और कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों का ही बोल बाला रहा। इसके पश्चात् जब हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद का प्रवेश हुआ तब हिन्दी-उपन्यास में एक नया मोड़ आया और कई उत्तम समस्या-प्रधान एवं चरित्र-प्रधान सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये। परन्तु उनके काल कवलित होते ही द्वितीय महायुद्ध (सं० १९९६-२००२) ने जहाँ हमारे आर्थिक जीवन को खोखला कर दिया वहाँ उपन्यास भी उससे प्रभावित होकर आगे बढ़ा और मार्क्सवाद पर आधारित कई प्रगतिवादी उपन्यास लिखे गये। ऐसे उपन्यासों में व्यक्ति के विश्लेषण

उपन्यास का विकास

के बहाने समाज के व्यंजक चित्र प्रस्तुत किए जाने लगे। ऐसे उपन्यास मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार के लिए ही लिखे गये। इसलिए हम उन्हें सिद्धान्त-प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल आदि इसी परंपरा के उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों से भिन्न जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास हैं। जैनेन्द्र नये वैयक्तिक अध्ययन के अग्रदूत हैं। उनके उपन्यासों में व्यक्तियों की समस्या ही प्रमुख है। इसलिए समाज की कठोरता पर उनके उपन्यास गहरा व्यंग करते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण पद्धति पर भी उपन्यास लिखे जा रहे हैं। इलाचंद जोशी, नरोत्तम नागर आदि इसी प्रवृत्ति के उपन्यासकार हैं। अज्ञेयजी का 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है।

प्रेमचन्द (सं० १९३७-९३) और जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६-९४) के समय में जो छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ सजग होकर हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में आयी थीं उनमें से वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि अब भी उपन्यास साहित्य का भाण्डार भरने में लगे हुए हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ने कई अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' (सं० २००३), 'मुसाहिबजू' (सं० २००३) 'कचनार' (सं० २००४), 'अचल मेरा कोई' (सं० २००५), 'मृगनयनी' (सं० २००७) 'सोना' (सं० २००९) 'अमरवेल' (सं० २०१०), 'टूटे कांटे' (सं० २०११) आदि उनके इस समय के प्रसिद्ध उपन्यास हैं। उन्हें 'रोमाँस' अधिक प्रिय है। गोविन्दवल्लभ पंत के उपन्यासों मे 'अनुरागिनी' (सं० २००१), 'अमिताभ' (सं० २००३), 'एक सूत्र' (सं० २००३), 'नूरजहाँ' (सं० २००६), 'तारिका' (सं० २००६), 'प्रगति की राह' (सं० २००८), 'मुक्ति का बन्धन' (सं० २००८), 'चन्द्रकान्त' (सं० २००८), 'यामिनी' (सं० २०१०), 'नौजवान' (सं० २०११) 'जलसमाधि' (सं० २०११) और 'पर्णा' (सं० २०१२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला-कृत 'कुल्लीभाट' (सं० १९९६) हास्यरसपूर्ण एक जीवनी है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी मनोविश्लेषणात्मक सामाजिक उपन्यास लिखते हैं।

'दो बहनें' (सं० १९९७), 'निमंत्रण' (सं० १९९९); 'गुप्तधन' (सं० २००६) 'अंगड़ाई' (सं० २००७); 'चलते-चलते' (सं० २००८), 'पतवार' (सं० २००९), 'मनुष्य और मानव' (सं० २०११), 'मनुष्य और देवता' (२०११), 'यथार्थ से आगे' (सं० २०११), 'धरती की सांस' (सं० २०११) 'हिलोर' (सं० २०१२), 'निर्यातन' (सं० २०१२), 'भूदान' (सं० २०१२) आदि उनके प्रमुख उपन्यास हैं। भगवतीचरण वर्मा की अपनी कुछ औपन्यासिक मान्यताएँ हैं जिनके अनुसार वह अपने पात्रों के चरित्र का विकास करते हैं। वह व्यक्तिगत जीवन की कोई मौलिक समस्या पर विचार करते हुए नहीं दीख पड़ते। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (सं० २००३) और 'आखरी दाँव' (सं० २००७) उनके नवीनतम उपन्यास हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत 'बाण-भट्ट की आत्म कथा' (सं० २००३) एक सुन्दर रचना है। राधिकारमण सिंह ने भी 'पुरुष और नारी' (सं० १९९७) और 'सूरदास' (सं० १९९९) आदि १३ उपन्यास लिखे हैं। जैनेन्द्र कुमार पुरानी पीढ़ी के उपन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मध्य-वर्गीय व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक समस्याएँ, वे समस्याएँ जो व्यापक जीवन में सामंजस्य न पाने से आत्म-पीड़क कुण्ठाओं और असंतोष को जन्म देती हैं, ली हैं। इसलिए उनका क्षेत्र सीमित है, पर अपने सीमित क्षेत्र में ही वह बहुत गहराई तक उतरे हैं। 'कल्याणी' (सं० १९९७), 'सुखदा' (सं० २००९), 'व्यतीत' (सं० २०१०) और 'विवर्त' (सं० २०१०) उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। चतुरसेन शास्त्री-कृत 'राणा राजसिंह' (सं० १९९६), 'नीलमती' (सं० १९९७), 'मन्दिर की नर्तकी' (सं १९९८), 'रक्त की प्यास' (सं० १९९९), 'वैशाली की नगर वधू' (स० २००६), 'पूर्णाहुति' (सं० २००६), 'अपराजिता' (सं० २००९), 'आलमगीर' (सं० २००८), 'धर्म युग' (सं० २०११) 'धर्म पुत्र' (सं० २०१२) 'सोमनाथ' (सं० २०११) 'वयंरक्षामः' (सं० २०१२) और 'हृदय की परख' (सं० २०१२) तथा बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'जीजी जी' (सं० २०००), 'दिल्ली के लड्डू' (सं० २०११) और 'गङ्गा माता' (सं० २०११) में समाज के कुत्सित अङ्गों का चित्रण खुलकर

किया गया है। **नरेश मेहता**-कृत 'डूबते मस्तूल' (सं० २०११) और यज्ञदत्त-कृत 'इन्सान' (सं० २००८) अच्छे उपन्यास हैं। **इलाचन्द जोशी** फ्रायड के भक्त हैं। 'घृणामयी' (सं० १९८६) उनका पहला उपन्यास है। इसके पश्चात् 'संन्यासी' (सं० १९९८), 'पर्दे की रानी' (सं० १९९८), 'प्रेत और छाया' (२००१), 'निर्वासिता' (सं० २००३), 'लज्जा' (सं० २००४), 'मुक्ति पथ' (२००८), 'जिप्सी' (सं० २००९), 'जहाज का पंछी' (सं० २०१२) आदि उनकी अन्य औपन्यासिक रचनाएँ हैं। इन उपन्यासों में काम-चेष्टाएँ अधिक हैं और पात्रों का विकास यांत्रिक ढङ्ग से मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर किया गया है। **श्यामबिहारी मिश्र**-कृत 'चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य' (सं० १९९९), 'पुष्यमित्र' ( सं० २००० ), 'विक्रमादित्य' (सं० २००१), और 'चन्द्र गुप्त मौर्य' (सं० २००२) इस काल के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। **ऋषभचरण जैन** ने भी कुछ उपन्यास लिखे हैं जिनमें से 'हर हाईनेस' (सं० १९९६), 'तीन इक्के' (सं० १९९६), 'दुराचार के अड्डे' (सं० १९९७), 'राजकुमार भोज' (सं० २०११) और 'खडयंत्रकारी' (सं० २०११) उल्लेखनीय हैं। **प्रतापनारायण श्रीवास्तव**-कृत 'विकास' (सं० १९९८), 'बयालीस' (सं० २००५), 'विसर्जन' (स० २००७), 'आशीर्वाद' (सं० २०११) और 'बहादुर शाह' (सं० २०१२) भाषा-शैली, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण संवाद आदि सभी दृष्टियों से सुन्दर उपन्यास हैं। **कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब'** कृत 'लफटंट पिगसन की डायरी' (स० २००३) हास्य रस का सर्व प्रथम उपन्यास है। **राहुल सांकृत्यायन** (ज० सं० १९४२) ने भी कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। 'जीने के लिए' (सं० १९९७), 'वोल्गा से गङ्गा' (सं० २०००) 'जय यौधेय' (स० २००१), 'स्मृति के गर्भ में' (सं० २००३), 'जो दास थे' (सं० २००५), 'घुमक्कड शास्त्री' (सं० २००६), 'सिंह सेनापति' (सं० २००६), 'मधुर स्वप्न' (सं० २००७) आदि उनके उपन्यास हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने प्रमुख व्यक्तियों को न लेकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के माध्यम से मानव के विकास का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों पर मार्क्सवाद का प्रभाव है।

नए लेखको में अज्ञेयजी-कृत 'शेखर एक जीवनी' (सं० १९९८) अत्यंत प्रसिद्ध रचना है। उनपर फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान, अँगरेजी के कवि इलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेंस का विशेष प्रभाव है। अपने उक्त उपन्यास में उन्होंने 'शेखर' की उसके वाल्यकाल से यौवन-काल तक की आत्म-कथा लिखी है। शेखर आरम्भ से विद्रोही है। सेक्स का उसमें प्रावल्य है। वह एक कुण्ठित पात्र है जो अपने मे ही सब कुछ समझता-बूझता और देखता है। 'नदी के द्वीप' (सं० २००८) भी उनका एक मनोविश्लेष्णात्मक उपन्यास है। अपने उक्त दोनो उपन्यासा में उन्होने जीवन के किसी सत्य का उद्घाटन नहीं किया है। यशपाल (ज० सं० १९६१) यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। 'दादा कामरेड' ( सं० १९९८ ), 'देश-द्रोही' (सं० २०००) 'मनुष्य के रूप' (सं० २००१), 'दिव्या' (सं० २००२), 'पार्टी कामरेड' (सं० २००३) आदि उनके उपन्यास हैं। इन उपन्यासों पर मार्क्सवाद का पूरा प्रभाव है। उपेन्द्रनाथ अश्क भी यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकार हैं। 'सितारों के खेल' (सं० १९९७), 'गिरती दीवारें' (सं० २००३), 'गरम राख' (सं० २००६), 'बडी बडी आँखे' (सं० २०१२) आदि उनकी औपन्यासिक रचनाएँ हैं। इन उपन्यासों में वातावरण की सृष्टि बहुत ही सुन्दर है।

**रांगेय राघव** ने सामाजिक और ऐतिहासिक, दोनो प्रकार के कई उपन्यास लिखे हैं! 'घरौंदे' (सं० २००३) उनका पहला उपन्यास है। इसके पश्चात् 'विषाद मठ' (सं० २००३) 'मुर्दों का टीला' (सं० २००५), 'सीधे-साधे रास्ते' (सं० २००८), 'चीवर' (सं० २००८), 'प्रतिदान' (सं० २००६), 'अँधेरे के जुगनू' (सं० २०१०), 'पराया' (सं० २०१०), 'उबाल' (सं० २०११), 'भारती का सपूत' (सं० २०११), 'राणा की पत्नी' (सं० २०११), 'देवकी का बेटा' (सं० २०११) 'बोलते खंडहर' (सं० २०१२) आदि उनके कई छोटे-बड़े उपन्यास हैं। उक्त उपन्यासकारों की भाँति वह भी प्रगतिवादी उपन्यासकार हैं। अमृतराय-कृत 'बीज' (सं० २०१०); **मुल्कराज आनन्द**-कृत 'कुली' (सं० २००६), 'अछूत' (सं० २००७) और 'एक था राजा' (२००७); **मन्मथनाथ गुप्त**-कृत 'अंधेर नगरी' (सं०

२००८), 'बलि का बकरा' (सं० २०१०) तथा 'बहता पानी' (सं० २०११); कमल जोशी-कृत 'बहता-तिनका' (सं० २०११); डा० देवराज-कृत 'पथ की खोज' (सं० २००८) तथा 'बाहर-भीतर' (सं० २०११); देवेन्द्र सत्यार्थी-कृत 'रथ के पहिए' (सं० २००८) तथा 'कठपुतली' (सं० २०११); देवीप्रसाद धवन 'विकल'-कृत 'कुवेर' (सं० २०१०) तथा 'देवी और नर्तकी' (सं० २०१०); नागार्जुन-कृत 'बलचनवा' (सं० २००८), और 'नई पौध' (सं० २०१२), क्षेमचन्द्र 'सुमन'-कृत 'अनीता' (सं० २००६); इन्द्र विद्यावाचस्पति-कृत 'अपराधी कौन' (सं० २०११) और रामचन्द्र तिवारी-कृत 'सागर-सरिता और अकाल' (सं० २००३) तथा 'सोना और नर्स' (सं० २००४) इसी परम्परा से मिलते-जुलते उपन्यास हैं।

आत्मकथात्मक उपन्यासो में शान्तिप्रिय द्विवेदी-कृत 'दिगम्बर' (सं० २०११) एक सुन्दर रचना है। इसके अतिरिक्त श्रीनाथ सिंह-कृत 'एक और अनेक' (सं० २००४); संपूर्णानन्द-कृत 'पृथ्वी से सप्तऋषि मंडल' (सं० २०१०); विष्णु प्रभाकर-कृत 'निशिकान्त' (सं० २०१२); और 'तट के बन्धन' (सं० २०१२), उदयशंकर भट्ट-कृत 'नये मोड़' (सं० २०१२), विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-कृत 'संघर्ष' (सं० २००२); उषादेवी मित्रा-कृत 'सोहिनी' (सं० २००८); कंचनलता सब्बरवाल-कृत 'पुनरुद्धार' (सं० २०१०) और 'मूक तपस्वी' (सं० २०१०); रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'पतितों के देश में' (सं० २००५) और 'दोन के किनारे' (सं० २००८), गुरुदत्त-कृत 'मानव' (२०१२); अनूपलाल मंडल-कृत 'रक्त और रंग' (सं० २०१२), गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'-कृत 'बहता पानी' (सं० २००६) और 'पाप की पहेली' (सं० २००८); देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'-कृत 'प्रवाह' (सं० २००६); धर्मवीर भारती-कृत 'गुनाहों के देवता' (सं० २००५) तथा मोहनलाल 'महतो'-कृत 'शेषदान' (सं० २००८) और 'बूचड़खाना' (स० २००६) इस युग की श्रेष्ठ औपन्यासिक कृतियाँ हैं।

इधर कुछ दिनो से हिन्दी में लघु उपन्यास लिखने की ओर नयी

पीढ़ी के लेखकों का ध्यान गया है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं की अपेक्षा भावों और विचारों की प्रमुखता रहती है। इसलिए उनमें पात्रों की संख्या भी कम होती है। उनमें प्रमुख पात्र ही कथा का सूत्रधार होता है। उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से प्रभावशाली होता है और वही नियामक का कार्य करता है। वह एक ऐसे सत्य का खोजी होता है जो शाश्वत है और जिसका सामाजिक जीवन से विशेष सम्बंध है। इस प्रकार वह संपूर्ण लघु उपन्यास में आकर्षण का केन्द्र बना रहता है। कभी-कभी उसे असाधारण भी बनना पड़ता है, पर इतना नहीं कि उसका मानव-मूल्य ही न रहे। उसके व्यक्तित्व में लेखक को ऐसे तत्वों का समावेश करना पड़ता है जो उसकी अपनी संपत्ति हों और जिनके कारण वह एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्राप्त कर सके। ऐसे पात्र लघु उपन्यासों को सजीव, मार्मिक और स्पंदन-शील बनाते हैं। हिन्दी में कई लघु उपन्यास लिखे गए हैं। डा० देवराज-कृत 'बाहर-भीतर' (सं० २०११), डा० धर्मवीर भारती-कृत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (सं० २००६) और प्रभाकर माचवे-कृत 'परन्तु' (सं० २०१०) तथा 'द्वाभा' (सं० २०१२) इसी प्रकार के उपन्यास हैं।

**कहानी का विकास**

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी, वर्तमान युग में, अधिक लिखी जा रही हैं। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग में जिस प्रकार केवल कविता के लिए मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती रहती थीं, उसी प्रकार अब केवल कहानी के लिए मासिक पत्रिकाएँ निकाली जा रही हैं। इस समय कहानी की जैसी मांग है वैसी साहित्य के किसी अन्य अंग की नहीं है। ऐसी दशा में कहानीकारों की भी भरमार है। हिन्दी में जिसे कुछ भी लिखने का अभ्यास है वह या तो कवि बनता है, या फिर कहानीकार। सैकड़ों कहानीकारों के कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि प्रति वर्ष सौ-सवासौ से कुछ अधिक ही कहानी-संग्रह प्रकाशित होते हैं। यह है कहानी का विकास उसके लगभग ४०-५० वर्ष के जीवन-काल में। सं० १९५७ के पूर्व हिन्दी में कोई कहानी नहीं मिलती। इसके पश्चात्

सं० १९६८ तक जो कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं; वे प्रयोग मात्र थीं। उनमें कला नहीं; केवल कहानी थी। सं० १९६८ में प्रसादजी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी ने हिन्दी में कहानी कला का सूत्रपात किया। इसके पश्चात् सं० १९७३ में प्रेमचन्द कहानी-क्षेत्र में आये और फिर कहानीकारो का तांता लग गया। प्रसादजी और प्रेमचन्द हिन्दी-कहानी के राजपथों के निर्माता थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा के योग से कहानी-कला को बहुत ऊँचा उठाया। वर्तमान युग में कहानी-कला को उन्नत रूप देनेवालों में जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन', वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द जोशी, पहाड़ी, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', विष्णु प्रभाकर, वेचन शर्मा उग्र आदि प्रमुख हैं। इन कहानीकारों ने रवीन्द्र, शरत्, मोपासाँ, जोला, तुर्गनेव, चेखव, टालस्टाय, दोत्सोवस्की, गोर्की, टामस हार्डी, डी० एच० लारेंस आदि अनेक कहानीकारों से प्रभाव ग्रहण किए हैं और अपनी कहानियों में देश-काल, परिस्थियों तथा अपनी रुचि के अनुसार रंग भरा है।

वर्तमान काल की साहित्यिक कहानियाँ प्रायः मानव-केन्द्रित होती हैं। उनका विषय मानव की किसी एक मनोवृत्ति का यथार्थ चित्रण करना रहता है। उनकी कथा-वस्तु अत्यन्त संक्षिप्त होती है और उसमें केवल एक ही सवेदना व्याप्त रहती है। प्रारंभ, विकास, कौतूहल और चरम सीमा—उसके चार तत्व होते हैं। चरम सीमा पर पहुँचकर कहानी समाप्त हो जाती है। कथा-वस्तु की प्रधानता से कहानी कथानक-प्रधान होती है। चरित्र-चित्रण में मानव-सुलभ सत्य—मनोवैज्ञानिक अथवा व्यावहारिक—का ही ध्यान रखा जाता है। इसके लिए प्रायः दो शैलियाँ अपनायी जाती हैं। (१) विश्लेषणात्मक और (२) नाटकीय। विश्लेषणात्मक शैली का लेखक पात्र के चरित्र का स्वयं विश्लेषण करता चलता है, परन्तु नाटकीय शैली का लेखक संवाद और कार्य-कलाप के माध्यम से उसके चरित्र का विकास करता है। उक्त दोनों शैलियों के कारण कहानियाँ चरित्र-प्रधान होती हैं। कला की दृष्टि से वातावरण-प्रधान कहानियों का

विशेष महत्व है। ऐसी कहानियों में कलाकार को अपनी कला की काट-छाँट दिखाने का विशेष अवसर मिलता है। हिन्दी में उक्त सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही हैं।

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' की अधिकांश कहानियाँ कथानक-प्रधान हैं। अपनी ऐसी कहानियों में उन्होने कथानक का विकास बहुत स्वाभाविक और यथार्थ रीति से किया है। 'पेरिस की नर्तकी' (सं० १९९९) की कई कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। विनोदशंकर व्यास-कृत 'पचास कहानियाँ' (सं० १९९७) पर प्रसादजी की कला का प्रभाव है। रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ने सुन्दर भावात्मक कहानियाँ लिखी हैं। 'लालतारा' (सं० १९९५) और 'सीता की माँ' (सं० २००१) उनके कहानी-सग्रह हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिलोर' (सं० १९९६), 'पुष्करिणी' (सं० १९९६), 'खाली बोतल' (सं० १९९७) और 'कला की दृष्टि' (सं० १९९९), में ऐसी कहानियाँ हैं जो न तो कथानक-प्रधान ही कही जा सकती हैं और न चरित्र-प्रधान ही। उनमें कथानक-प्रधान और चरित्र-प्रधान शैलियों का समन्वित रूप है। बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' कृत 'पनघट' (सं०१९९६) में सामाजिक जीवन के चित्र अंकित किए गए हैं। कृष्णदेव प्रसाद गौड़ की कहानियाँ हास्य रस-प्रधान होती हैं। 'बनारसी एक्का' ( सं० १९९२) 'मंसूरी वाली' ( सं० १९९९), 'गांधी जी का भूत' ( सं० २००९) और 'धन्यवाद' (सं० २०१२) उनके हास्य-व्यंग-प्रधान कहानी-संग्रह हैं। बेचन शर्मा 'उग्र' एक विद्रोही कलाकार हैं। उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक कहानियाँ लिखी है। उनकी राजनीतिक कहानियों में देश-प्रेम और त्याग की उदात्त मनोवृत्तियाँ हैं, पर उनकी सामाजिक कहानियों में समाज की आडम्बरपूर्ण नैतिकता के प्रति विद्रोह है। 'क्रान्तिकारी कहानियाँ' (सं० १९९६), 'रेशमी' (सं० १९९९), 'कला का पुरस्कार' (स० २०११) आदि उनके कहानी-संग्रह हैं। चतुरसेन शास्त्री यथार्थवादी कलाकार हैं। 'सिंहगढ़ विजय' (सं० १९९६)' और 'पीरनाबालिग' (सं० २०१२), उनके नवीनतम कहानी-संग्रह हैं। आरसी प्रसाद सिंह-कृत 'पंच

पल्लव' (सं० १६६६) और 'आँधी के पत्ते' (सं० २०१२); अमृतलाल नागर-कृत 'तुलसीराम शास्त्री' (सं० १६६८); मनोहरसिंह सेंगर-कृत 'खून के धब्बे' (सं० १६६८); भगवतशरण उपाध्याय-कृत 'सवेरा' (सं० १६६७), 'गर्जन' (सं० १६६८) और 'संघर्ष' (स० १६६८); राधिकारमण प्रसाद सिंह-कृत 'चुनी कलियाँ' (सं० १६६८); उषादेवी मित्रा-कृत 'नीम चमेली' (सं० १६६८); सत्यवती मल्लिक कृत 'दिनरात' (सं०२०१२), निराला-कृत 'सुकुल की बीबी' (सं० १६६८); डा० धर्मवीर भारती-कृत 'मुर्दों का गाँव' (सं० २००३), 'स्वर्ग और पृथ्वी' ( सं० २००७); 'चाँद और टूटे हुए लोग' (सं० २०१२); विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार-कृत 'शिवालक की घाटियों में' (सं० २०१०); राहुल सांकृत्यायन कृत 'सतमी के बच्चे' (सं० १६६६); यशपाल-कृत 'पिंजरे की उड़ान' (सं० १६६६), 'वो दुनियाँ' (सं० १६६६), 'ज्ञानदान' (सं० १६६६), 'तर्क का तूफान' (सं० २००७), 'भस्मावृत चिन्गारी' (स० २००८),'उत्तराधिकारी' (स० २००८), 'फूलो का कुर्त्ता' (सं० २०१०), 'धर्म युद्ध' (सं० २०११) तथा 'उत्तमी की माँ' (सं० २०१२); रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'-कृत 'ये वे बहुतेरे' (सं० १६६८); कृष्ण चन्द्र-कृत 'पानी का पेड़' (सं० २०१२) और राम प्रसाद पहाड़ी-कृत 'यथार्थवादी रोमांस' (सं० १६६६), 'सफर' (सं० १६६६), 'छाया में' (सं० १६६७), 'अधूरा चित्र' (सं० १६६८), 'सड़क पर' (सं० १६६८) और 'कैद और बुलबुल' (सं० २००७); उपेन्द्रनाथ अश्क-कृत 'पिंजरा' (सं१ २००२); प्रभाकर माचवे-कृत 'खरगोश के सींग' (सं० २००८) आदि वर्तमान युग के सुन्दर कहानी-सग्रह हैं। जैनेन्द्र कुमार ने भी कई कहानियाँ लिखी है। उनकी नई-पुरानी कहानियों के सात संग्रह अभी हाल में प्रकाशित हुए हैं। 'फाँसी, जय संधि और अन्य कहानियों' (सं० (सं० २०१०), 'पाजेब, दो चिड़ियाँ और अन्य कहानियाँ' (सं० २०१०), 'नीलम देश की राजकन्या और अन्य कहानियाँ' (सं० २०१०), 'भाभी, घुंघरू, व्याह और अन्य कहानियाँ' (सं० २०१०), 'एक रात, ध्रुव यात्रा और अन्य कहानियाँ' (सं० २०१०), 'साधु की हठ, कः पन्था और अन्य

कहानियाँ' (सं० २०१०) तथा 'टकराहट एकांकी और अन्य कहानियाँ' (सं०२०१०) में उनका संपूर्ण कहानी साहित्य संगृहीत है। उनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक होती हैं और उनके पात्र अपने ही मन से जूझते रहते हैं।

**निवन्ध का विकास**

वर्तमान युग में हिन्दी-निबंध का भी सर्वांगीण विकास हो रहा है। नए-नए विषय के निबन्ध हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में निकल रहे हैं। द्विवेदी-युग ( सं० १९२५-५० ) में निवन्ध के विषय सीमित थे। उस समय देश की अनेक समस्याएँ उभरी नहीं थीं। अंगरेज़ी साहित्य के पंडितों को हिन्दी-भाषा का ज्ञान नहीं था और हिन्दी के ज्ञाता अंगरेजी साहित्य से भलीभाँति परिचित नहीं थे। खड़ीबोली का रूप भी अधिक मंजा हुआ नहीं था। इने-गिने निबंधकार थे जो थोड़े में अनेक बातें कह जाते थे। खड़ीबोली के तृतीय उत्थान-काल (सं० १९५०-७५) में राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण द्विवेदी युग की अनेक दबी हुई राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक समस्याएँ उभर आईं। उन्हें भाषा का बल भी मिला, गांधीवाद की विचार-धारा भी मिली और फिर कई प्रकार के निवन्ध तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं तथा पाठ्य-पुस्तकों-द्वारा हमारे सामने आये। अरस्तू की संश्लेषण-विशिष्ट निगमन शैली और फ्रांसिस बेकन (सं० १६१८-८३) की विश्लेषण-विशिष्ट आगमन शैली में अनेक निवन्ध लिखे गये। आत्म-व्यंजक और अनात्म-व्यंजक निबंध भी देखने को मिले। सरल-से-सरल और गंभीर-से-गंभीर विषय निवन्ध-रचना में अपनाये गये। इस प्रकार उस युग में निवन्ध अपने विकास-पथ पर द्रुति-गति से अग्रसर हुआ। वर्तमान युग में उसके विषय की सीमाएँ और भी बढ़ गई हैं। भाषा-सम्बन्धी उसकी कठिनाई भी दूर हो गयी है और विभिन्न प्रकार के देशी-विदेशी-निबंध-साहित्यों से उसे प्रेरणाएँ भी मिल रही हैं।

हिन्दी के वर्तमान निबन्धकारों में माखनलाल चतुर्वेदी (जं० सं० १९४६) भावात्मक गद्य-शैली के एक विशिष्ट रूप के प्रवर्तक हैं। उनकी शैली 'गद्य-काव्य' कही जाती है। 'साहित्य देवता' (सं०२०००) उनके गद्य

काव्यात्मक निबंधों का संग्रह है। इस संग्रह में लगभग उनके बीस वर्षों के भाव-निबन्धों का संकलन है। इन निबन्धों की शैली और सरदार पूर्णसिंह के निबंधों की शैली में अन्तर केवल यह है कि सरदार पूर्णसिंह की शैली जहाँ नीत्यात्मक उपदेश-प्रधान है वहाँ चतुर्वेदी की शैली सौंदर्य-संवेदन-क्षम सूक्ष्मता और कोमलता प्रधान है। रायकृष्ण दास-कृत 'साधना' (सं० १९७९); दिनेशनंदिनी डालमिया-कृत 'शारदीया' (सं० १९९६); डा० रघुवीरसिंह-कृत 'शेष स्मृतियाँ' (सं० १९९६), डा० रामकुमार वर्मा-कृत 'हिमहास' (स० १९९९), 'जीवन कण' (सं० २०१०) तथा 'जीवन-धूलि' (स० २०११) इसी परंपरा की कला- कृतियाँ हैं। 'विचार-दर्शन' (सं० २००४) में उनके आलोचनात्मक निबन्ध हैं।

महादेवी वर्मा कवियित्री तो हैं ही शैली-कर्त्री भी हैं। उनकी गद्य-शैली के दो रूप हैं। उसका एक रूप उनके विवेचनात्मक निबंधों ने मिलता है जिनका सग्रह 'शृंखला की कड़ियाँ' (सं० १९९९) है। इसके विरुद्ध 'अतीत के चल-चित्र' (सं० १९९८) और 'स्मृति की रेखाएँ' (सं० २००१) में उनके उच्च कोटि के संस्मरणात्मक निबंध संगृहीत हैं। इनमें संकलित निबंधों की शैली 'रेखा चित्र' अथवा 'शब्द-चित्र' कही जाती है। रेखा-चित्र में कोई कथानक अथवा कोई घटना नहीं होती। उसमें कहानी की तरह कुतूहल अथवा चरम सीमा का भी कोई स्थान नहीं होता। उसमें लेखक अपने किसी विशिष्ट दृष्टि कोण से किसी के असाधारण व्यक्तित्व को द्रुति गति से उभार कर पाठकों के सामने रख देता है। हिन्दी में प्रसादजी की 'मधुवा' शीर्षक कहानी इसी प्रकार की है। महादेवी वर्मा विचार-परिप्लुत विवेचनात्मक निबंध लिखने में तो पटु हैं ही, रेखा-चित्र में भी अत्यन्त कुशल हैं। रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी-कृत 'गेहूँ और गुलाब' (सं० २००७), 'माटी की मूरतें' तथा 'मशाल' (सं० २००६); बनारसी दास चतुर्वेदी-कृत 'साहित्य और जीवन' (सं० २०११), 'हमारे आराध्य' (स० २०१०), और 'रेखा चित्र' (सं० २०१०), सियारामशरण गुप्त-कृत 'झूठ-सच' (सं० १९९६),

लक्ष्मी कान्त झा-कृत 'चलचित्र' (सं० २०११) तथा 'रेखा चित्र' (सं० २०११) और भदन्त आनन्द कौशल्यायन-कृत 'जो मैं भूल न सका' (सं० २००५), 'जो मुझे लिखना पड़ा' (सं० २००६) तथा 'रेल का टिकट' (सं० २००६); प्रकाशचन्द्र-कृत 'पुरानी स्मृतियाँ और नए स्केच' (सं० २०११) और विनय मोहन शर्मा-कृत 'रेखा और रंग' (सं० २०१२) आदि इसी शैली के निबंध संग्रह हैं।

पुराने खेवे के लेखको में से जो अभी जीवित हैं उनमें **गुलाबराय** (ज० सं० १६४४) प्रमुख हैं। उनके अधिकांश निबंध आत्म-व्यंजक हैं जो 'फिर निराशा क्यों ?' (सं० १६१३); 'मेरी असफलताएँ' (सं० १६६७) और' मेरे निबन्ध' (सं० २०१२) में संकलित हैं। इन निबंधों से उनके संबंध में बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। दार्शनिकता और संदर्भशीलता उनके निबंधों की विशेषताएँ हैं। उनकी शैली के विविध रूप नहीं है, उसमें कहीं उतार-चढ़ाव भी नहीं हैं, वह सदा एक गति से प्रवाहित होती है। 'मन की बात' (सं० २०११) मे उनके उत्कृष्ट निबंध संगृहीत हैं। उनके साथ के लिखनेवालो में **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** (ज० सं० १६५१), भी एक प्रसिद्ध निबंधकार हैं। उनके दो निबंध-संग्रह 'कुछ' (सं० २००५) और 'यात्री' (सं० २००७) अधिक प्रख्यात हैं। अपने इन निबंध-संग्रहों में उन्होंने संस्मरण, रेखा-चित्र, प्रसंग-चित्र, आत्म-कथात्मक संस्मरण, आलोचना आदि सभी विषयो को स्थान दिया है। उनके किसी एक निबंध की एक शैली नहीं है, कई शैलियाँ उसमें आकर मिल जाती हैं। इसका मूल कारण उनकी बहुज्ञता है। देशी-विदेशी साहित्य का उन्हे इतना अधिक ज्ञान है कि जब वह कुछ लिखने बैठते हैं तब वह ज्ञान उनके मस्तिष्क को अपनी अभिव्यक्ति के लिए झकझोरने लगता है। इसलिए जिस शैली की ओर उनकी लेखनी उठ जाती है वही शैली सामने आती है। उनके निबंधो में उनका आलोचक प्रमुख रहता है। **परशुराम चतुर्वेदी** (ज० सं० १६५१) भी हिन्दी के प्रौढ़ निबन्धकार हैं। 'नव निबंध' (सं० २००८) में उनके कई निबंध संगृहीत हैं। बख्शीजी की

भाँति उनका आलोचक भी उन पर सवार रहता है, पर जहाँ बख्शीजी अपनी शैली से भटक जाते हैं वहाँ चतुर्वेदीजी सजग और जागरूक रहते हैं। उनके लिए विषय का विशेष महत्व है। 'गार्हस्थ्य जीवन और ग्राम सेवा' (सं० २००६) में सामाजिक एवं राष्ट्रीय विषयों पर तथा 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' (स० २००६) में और 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' (सं० २०१२) में उनके विवेचनात्मक निबंध संगृहीत हैं। **हजारी-प्रसाद द्विवेदी** (ज० सं० १९६४) भी अत्यन्त प्रौढ़ निबन्धकार हैं। चतुर्वेदीजी की भाँति ही उनकी मूल निष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृतियों में है, पर इसके साथ ही नवीनता का आग्रह भी उनमें पाया जाता है। 'अशोक के फूल' (सं० २००५), 'विचार और वितर्क' (सं० २००६), 'कल्पलता' (सं० २००७), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' (सं० २००१), 'मध्यकालीन धर्म-साधना' (सं० ५००६) और 'निबध-संग्रह' (सं० २०१०) उनके श्रेष्ठ निबंध-संग्रह हैं। इनमें उनके साहित्यिक, सास्कृतिक, गवेष्णात्मक और आलोचनात्मक निबंध संगृहीत हैं। उनके शुद्ध साहित्यिक निबंध अधिकांश भावना-प्रधान हैं और वही वास्तव में निबन्ध का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। उनकी शैली पर रवीन्द्रनाथ की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दी-गद्य को गवेष्णात्मक शैली उनकी देन है। **हरिभाऊ उपाध्याय** (ज० सं० १९५१) ने कई विचारत्मक और संस्मरणात्मक निबंध लिखे हैं जो 'स्वतंत्रता की ओर' (सं० १९९२), 'मनन' (२००२), 'बापू के आश्रम में' (सं० २००७) और 'पुण्य स्मरण' (सं० २००७) में संगृहीत हैं। अज्ञेयजी का 'अरे यावर रहेगा याद' (सं० २०१०) रेखाचित्र-संबंधी एक उत्कृष्ट रचना है।

हिन्दी के अन्य प्रसिद्ध निबन्धकारों में **जैनेन्द्र कुमार** (ज० सं० १९६२) प्रमुख हैं। 'जैनेन्द्र के विचार' (सं० १९९४), 'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय' (सं० २०१०), 'मन्थन' (सं० २०१०), 'सोच विचार' (सं० २०१०) और 'पूर्वोदय' (सं० २००७) उनके निबंध-संग्रह हैं। इन निबंधों में उनकी विषयों की पकड़ देखने योग्य है। कहानी-कार और उपन्यास-कार होने के नाते उनके निबंधों में उनका कहानीकार और निबंधकार

रूप घुल-मिल जाता है। सरलता और सरसता उनकी शैली के गुण हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी आलोचक और भावुक निबंधकार हैं। 'कवि और काव्य' (सं० १९९४), 'साहित्यिकी' (सं० १९९५), और 'युग और साहित्य' (सं० (१९९८) से उनकी भाव-प्रधान शैली के दर्शन होते हैं। 'साकल्य' (सं० २०१२) उनका नवीनतम निबंध-संग्रह है। सरसता, सूक्तिमयता, सुन्दर शब्द-चयन की सुष्ठु सुरुचि आदि उनकी शैली की विशेषताएँ हैं। श्रीरामनाथ 'सुमन' (ज० सं० १९६०) भी एक प्रौढ़ निबंधकार हैं। 'जीवन यज्ञ' (सं० २००२) भावात्मक शैली में लिखा गया उनका नवीनतम निबंध-संग्रह है।

विचार-प्रधान निबन्ध लिखनेवालों में वासुदेव शरण अग्रवाल अधिक प्रसिद्ध हैं। 'पृथ्वी-पुत्र' (सं० २००६), 'माता भूमि' (सं० २०१०) और 'कल्प वृक्ष' (सं० २०१०) उनके निबन्ध-संग्रह हैं। इनमें संगृहीत अधिकांश निबन्धो में स्थान-स्थान पर वैदिक साहित्य से समुचित उद्धरण पाए जाते हैं। उनके निबन्ध एक खोजी के निबन्ध हैं जो अपने कथन को संपुष्ट करने के लिए चारों ओर से प्रमाण एकत्र करता है। भगवत शरण उपाध्याय-कृत 'मैंने देखा' (सं० २००८), सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (ज० सं० १९४७)-कृत 'ऋतम्भरा' (सं० २००८) और आचार्य क्षितिमोहन सेन कृत 'संस्कृत संगम' (सं० २००७) में संगृहीत निबन्ध भी गवेषणात्मक होने के कारण विचार-प्रधान हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी कुछ निबंध लिखे हैं जो 'मिट्टी की ओर' (सं० २००३) और 'रेती के फूल' (सं० २०११) में संगृहीत हैं। उनके निबन्धो की शैली भावात्मक है। यशपाल के निबन्धों की शैली बात-चीत की शैली है। उन्होंने व्यंग भरे पत्रकारिता-प्रधान अच्छे निबन्ध लिखे हैं। 'सिंहावलोकन' (सं० २००८) में उनके आत्म-कथात्मक संस्मरण अत्यन्त रोचक और आकर्षक हैं। व्यंगमयता उनकी शैली का प्रधान गुण है। 'चक्कर क्लब' (सं० २००८), 'देखा, सोचा, समझा' (सं० २००८) और 'बात-बात में बात' (स० २०११) में उनके रेखा-चित्र हैं। भगवतीचरण वर्मा (ज० सं० १९६०) लघु निबंध लिखने में अत्यन्त

कुशल है। उनके लघु निबंध 'हमारी उलझन' (सं० २००४) में संगृहीत हैं। 'सन्तुलन' (सं० २०११) में उनके आलोचनात्मक निबन्ध हैं। धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'विचार-धारा (सं० २००५) में आलोचनात्मक निबन्ध हैं।

आलोचना का विकास वर्तमान युग की प्रमुख विशेषता है। प्रथम महायुद्ध (सं० १९७१-७५) के पूर्व इसका क्षेत्र सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल जी ने तैयार किया था। उन्होंने मिश्र-बन्धुओं और पद्मसिंह शर्मा (सं० १९३३-८९) द्वारा प्रचारित तुलनात्मक आलोचना को अवैज्ञानिक ठहराकर उसके स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कवियों के मत आदि की उनके ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि पृष्ठ-भूमियों के अनुसार उदारता और सहानुभूतिपूर्वक आलोचना की थी। आलोचना की इस ऐतिहासिक पद्धति का उनके समय में अच्छा प्रचार हुआ। श्यामसुन्दर दास, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि कई सुलझे हुए आलोचक सामने आये। विश्वविद्यालयों में अनुसधान-कार्य भी आरभ हुआ और इसी पद्धति पर कई थीसिसें लिखी गयीं। इन थीसिसों से हिन्दी-समालोचना-साहित्य को बहुत बल मिला। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब हिन्दी-काव्य में निराला, प्रसाद, पंत और महादेवीका प्रवेश हुआ और उन्होंने अपने काव्य-गत छायावादी-रहस्यवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए अपनी रचनाओं की भूमिका में अपने विचार व्यक्त किए तब शुक्लजी-द्वारा प्रतिपादित काव्यगत सामाजिक मर्यादा और नैतिकता की प्रतिक्रिया के रूप में एक नयी प्रकार की समालोचना पद्धति का जन्म हुआ जिसे व्याख्यात्मक समालोचना कहते हैं। इस पद्धति के अनुसार कवि की आन्तरिक संवेदना, भावाभिव्यक्ति, कल्पना-सौंदर्य, अनुभूति, व्यक्तित्व, लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता की आलोचना की जाती है। व्याख्यात्मक समालोचना के साथ ही एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक आलोचना भी हमें इस युग में मिलती है। हिन्दी में इसका सूत्रपात फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। फ्रायड ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के सहारे यह प्रतिपादित किया है कि साहित्य अतृप्त

आलोचना का विकास

वासनाओं की तृप्ति का साधन है। उनका कहना है कि संयम और सामाजिक बन्धनों के कारण मानव की जो अनेक प्रवृत्तियाँ अतृप्त रह जाती हैं वे जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठती हैं तभी साहित्य का जन्म होता है। उनके इस मत के अनुसार मनोवैज्ञानिक आलोचक को कवि के वैयक्तिक स्वभाव और उसकी आन्तरिक एवं निजी जीवन की अनुभूतियों में उसकी कृति का मूल खोजना पड़ता है। हिन्दी के आलोचना-साहित्य में इस प्रकार के भी आलोचक मिलते हैं। द्वितीय महायुद्ध (सं० १९९६ २००३) के समय से हिन्दी में एक नवीन प्रकार की आलोचना पद्धति का विकास हो रहा है। इस आलोचना पद्धति को प्रगतिवादी आलोचना कहते हैं। इस आलोचना का आधार समाजवादी यथार्थवाद है। इसका जन्म रूस में हुआ है और इसके आदि प्रवर्तक मैक्सिम गोर्की माने जाते हैं। मार्क्सवाद 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' पर आश्रित है। वह वस्तु जगत, वर्ग-संघर्ष और आर्थिक दृष्टि से उत्पादन एव वितरण के साधनों पर बल देता है। धर्म, ईश्वर, आत्मा, भाग्य, पुनर्जन्म में उसका विश्वास नहीं है। सामन्तवाद और पूँजीवाद का वह घोर विरोधी है। उसके लिए व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं हैं। शोषित वर्ग के प्रति उसकी सारी सहानुभूति है। मार्क्सवाद के इन विचारों से प्रभावित होकर हिन्दी के आलोचक भी इसे अपना रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में आलोचना का विकास निर्णयात्मक—तुलनात्मक—ऐतिहासिक—व्याख्यात्मक—मनोवैज्ञानिक—प्रगतिवादी के रूप में हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक आलोचना-पद्धति अपने में पूर्ण है। उत्तम आलोचना में यथास्थान अधिक-से-अधिक पद्धतियो का समन्वय मिलता है।

वर्तमान समय में शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति को अपना कर चलने वालों में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रवली पाण्डेय, गुलाबराय आदि का प्रमुख स्थान है। इन आलोचकों ने शुक्लजी के नीतिवादी और व्यावहारिक पक्ष का तो समर्थन नहीं किया है, पर उसके स्थान पर किसी नवीन पद्धति को जन्म भी नहीं दिया है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की आलोचना

अधिकांश शास्त्रीय-पद्धति का अनुसरण करती है। 'वाङ्मय विमर्श' (सं० १९९९) और 'केशवदास' (सं० २०१८) उनकी रचनाएँ हैं। गुलाब राय की समीक्षा-पद्धति में सामाजिक तत्वों की प्रधानता है। 'हिन्दी-नाट्य विमर्श' (सं० १९९८), हिन्दी-काव्य विमर्श' (सं० २००६), 'काव्य के रूप' (सं० २००७), 'सिद्धान्त और अध्ययन' (सं० २००८), 'साहित्य और समीक्षा' (सं० २००८) तथा 'आलोचक रामचन्द्र शुक्ल' (सं० २००६) उनके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। रामकृष्ण 'शिलीमुख'-कृत 'कला और सौंदर्य' (सं० २०१२) और चन्द्रबली पाण्डेय कृत 'विचार और विमर्श' (सं० २००२), 'तसव्वुफ़ और सूफ़ीमत' (सं० २००४) 'साहित्य संदीपनी' (सं० २००४), 'केशवदास' (सं० २००८) तथा 'हिन्दी-कवि चर्चा' (सं० २००६) आलोचना के अच्छे ग्रन्थ हैं। व्रजरत्न दास-कृत 'हिन्दी-नाट्य साहित्य' (सं० २००१) भी इसी परंपरा का ग्रंथ है।

आलोचना की कई प्रवृत्तियों को एक साथ लेकर चलनेवालों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी; नन्ददुलारे वाजपेयी आदि का विशिष्ट स्थान है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कई आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें से 'सूर-साहित्य' ( सं० १९९७ ), 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' ( सं० १९९७ ), 'कबीर' ( सं० १९९९ ), 'मध्य कालीन धर्म साधना' ( सं० २००६ ), 'हिन्दी साहित्य का आदि काल' ( सं० २००६ ) 'हिन्दी साहित्य' ( सं० २००६ ), 'साहित्य-धर्म' (सं० २००६) आदि प्रमुख हैं। नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी कई आलोचना पुस्तके लिखीं हैं। द्विवेदीजी जहाँ अपनी आलोचना में मानवतावादी हैं वहाँ वाजपेयीजी का दृष्टिकोण मूलतः शास्त्रीय तथा सौंदर्यवादी है। जयशंकर प्रसाद ( सं० १९९७ ), 'हिन्दी साहित्यः बीसवीं सदी' ( सं० १९९९ ), 'आधुनिक साहित्य' (सं० २००७), 'महा कवि सूरदास' (सं० २००६), 'नया साहित्य', 'नए प्रश्न' ( सं० २०१२ ) उनके आलोचना-ग्रन्थ हैं। पशुराम चतुर्वेदी की आलोचना पद्धति वैज्ञानिक है। हिन्दी साहित्य के मध्य-युग तथा संत साहित्य उनकी आलोचना के आकर्षण विन्दु हैं। 'उत्तरी भारत की संत-

परम्परा' ( सं० २००७ ), 'मध्य कालीन प्रेम-साधना' ( सं० २००६ ) 'हिन्दी काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' (सं० २००६), 'वैष्णव-धर्म' (सं० २०१०) 'कबीर साहित्य की परख' ( सं० २०१२ ) 'भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ' ( सं० २०१? ) और 'भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा' (सं० २०१३) उनके आलोचना ग्रन्थ हैं।

प्रगतिवादी आलोचना के प्रवर्तक शिवदान सिंह चौहान हैं। सब से पहले उन्होंने अपने आलोचनात्मक निबंधों में प्रगतिवाद की व्याख्या की है। उन्होने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को न अपनांकर उसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य और समाज के संबंध का प्रश्न उठाया है। 'साहित्य के अस्सी वर्ष' (सं० २०११) और 'हिन्दी-गद्य-साहित्य' (सं०२०११) उनके आलोचना-ग्रंथ हैं। रामविलास शर्मा भी उन्हीं की भांति प्रगतिवादी आलोचक हैं। 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (सं० २०११) उनकी सुन्दर रचना है। डा० देवराज-कृत 'साहित्य-चिन्ता' ( सं० २००७ ) पर शुक्लजी तथा टी० एस० इलियट का प्रभाव है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित होकर आलोचना करनेवालो में डा० नगेन्द्र और 'सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन अज्ञेय' प्रमुख हैं। 'विचार और अनुभूति' (सं० १९९१), 'आधुनिक हिन्दी-नाटक' (सं० १९९९), 'काव्य चिन्तन' ( सं० २००५ ), 'विचार और विवेचना' ( सं० २००७ ), 'विचार और विश्लेषण' ( सं० २०१२ ) और 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' ( सं० २०१२ ) डा० नगेन्द्र के ग्रन्थ हैं। चतुरसेन शास्त्री-कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' ( सं० २००३), मिश्रबन्धु-कृत 'हन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० १९९७), अज्ञेय-कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सं० १९९७), बृजरत्नदास-कृत 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य' (सं० १९९८) आदि भी उत्तम ग्रन्थ हैं।

उक्त आलोचकों के अतिरिक्त कुछ आलोचकों ने प्राचीन और आधुनिक कवियो की रचनाओं की आलोचना की है। ऐसी आलोचनाओं में भगवतशरण उपाध्याय-कृत 'नूरजहाँ' (सं० १९९८); गंगाप्रसाद

पाण्डेय-कृत 'कामायनी' (सं० १६६६); शान्तप्रिय द्विवेदी-कृत 'ज्योति विहग' (सं० २००६); महावीरप्रसाद अधिकारी-कृत 'जयशकर प्रसाद' (सं० २०१२), रामविलास शर्मा-कृत 'प्रेमचन्द्र' (सं० १६६८), मोहनलाल मनोरिया-कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' (सं० २००६); शिवनाथ-कृत 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (सं० २०००); सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'अभिनय नाट्य शास्त्र' (सं० २०१०), शिववालक-कृत 'दिनकर' (स० २०००); डॉ० इन्द्रनाथ मदान-कृत 'प्रेमचन्द्र एक विवेचन' (सं० २०११), लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (स० २००८); भगीरथ प्रसाद दीक्षित कृत 'महाकवि भूषण' (सं० २००८); लेखक-कृत 'कबीर दर्शन' (सं० २०१२); डा० भगीरथ मिश्र-कृत 'तुलसी रसायन' (सं० २०११); पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव-कृत 'कबीर साहित्य का अध्ययन' (सं० २००८); भोलानाथ तिवारी-कृत 'महाकवि देव' (सं० २००६), डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित-कृत 'सुन्दरदर्शन' (सं० २०१०), जगन्नाथ प्रसाद शर्मा-कृत 'हिन्दी-गद्य-निर्माता' (सं० २००७), माताप्रसाद गुप्त कृत 'तुलसीदास' (सं० १६६६) और गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल' (सं० २०१२) का विशिष्ट स्थान है।

इस युग के अन्य आलोचना-ग्रंथो में डा० प्रेमनारायण शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य में विविध वाद' (सं० २०१०); डा० दशरथ ओझा-कृत 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास (सं० २०११) तथा 'समीक्षा शास्त्र' (सं० २०१२); डा० प्रेम शंकर-कृत 'प्रसाद का काव्य' (सं० २०१२); अशोककुमार सिह-कृत 'काव्य के वाद' (सं० २०१०) और 'काव्य के संप्रदाय' (सं० २०१०); कमलकुल श्रेष्ठ-कृत 'हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य' (सं० २०१०), डा० रघुवंश-कृत 'प्रकृति और काव्य : हिन्दी' (सं० २००५) और 'प्रकृति और काव्यः संस्कृत' सं० २००८); विजय नारायण मल्ल-कृत 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' (सं० २००४); जगन्नाथ प्रसाद मिश्र-कृत 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (सं० २०००) और 'साहित्य-विवेचन' (सं० २०१२); वासुदेव शरण

अग्रवाल-कृत 'कला और संस्कृति', केसरीनारायण शुक्ल-कृत 'आधुनिक काव्य' (सं० २००७) और 'आधुनिक काव्य धारा के सांस्कृतिक स्रोत' (सं० २००४); कुमारी शकुंतला शर्मा कृत 'आधुनिक काव्य में सौदर्य-भावना' (सं० २००६); त्रिभुवन सिंह-कृत 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' (सं० २०१२); रामधारी सिंह 'दिनकर'-कृत 'अर्द्धनारीश्वर' (सं० २००६); सुधाकर पाण्डेय-कृत 'हिन्दी साहित्य और साहित्यकार' (सं० २०११), डा० हरिकान्त श्रीवास्तव-कृत 'भारतीय प्रेमाख्यान', (सं० २०१२); डा० एस० पी० खत्री-कृत 'आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त' (सं० २०११); डा० लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'हिन्दी-कहानी की शिल्प विधि का विकास' (सं० २०११); डा० धर्मवीर भारती-कृत 'प्रगतिवाद एक समीक्षा' (सं० २००६) और 'सिद्ध-साहित्य' (सं० २०१२); प्रभाकर माचवे-कृत 'व्यक्ति और वाङमय' (स० २००६); डा० देवराज-कृत 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' (स० २०११); डा० रामकुमार वर्मा-कृत 'साहित्य शास्त्र' (स० २०१२); पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी-कृत 'हिन्दी कथा-साहित्य' (स० २०११); बल्देव उपाध्याय-कृत 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (स० २००७); डा० शशिभूषण दास-कृत 'राधा का क्रम विकास' (सं० २०१२), डा० सत्येन्द्र-कृत 'लोक-साहित्य प्रवेश' (स० २०१२); सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'अभिनव नाट्य-कला' (स० २००८), महेन्द्र भटनागर-कृत 'आधुनिक साहित्य और कला' (स० २०१२); राजपति दीक्षित-कृत 'तुलसी दास और उनका युग' (स० २००६); डा० हरवंशलाल शर्मा-कृत 'सूर और उनका साहित्य' (स० २०१०); डा० प्रतिपाल सिंह-कृत 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' (सं० २०१२); रामखेलावन पाण्डेय-कृत 'काव्य और कल्पना' (स० २०११); रामदहिन मिश्र-कृत 'काव्य दर्पण' (स० २००४); डा० भोलाशंकर व्यास-कृत 'हिन्दी दशरूपक' (२०११); डा० सत्य व्रत सिंह-कृत 'हिन्दी-काव्य प्रकाश' (सं० २०१२); करुणापति त्रिपाठी-कृत 'शैली' (स० १९९९); गंगाप्रसाद पाण्डेय-कृत 'छायावाद रहस्यवाद' (स० १९९८), डा० एस० पी० खत्री-कृत 'हास्य की रूप रेखा' (स०

२०१२) और श्रीकृष्णदास-कृत 'हमारी नाट्य परम्परा' (सं० २०१३) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भाषा-विज्ञान में डा० उदयनारायण तिवारी (ज० सं० १६६२)-कृत 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' (सं० २०११) तथा 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' (सं० २०१२) बहुत ही सुन्दर और खोजपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या-कृत 'राजस्थानी भाषा' (सं० २००६); भोलानाथ तिवारी-कृत 'भाषा विज्ञान' (सं० २००८) और सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'भाषा लोचन' (सं० २०१०); धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'ब्रज भाषा' (सं० २०११); नामवर सिंह-कृत 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' (सं० २००६); और कपिलदेव द्विवेदी-कृत 'अर्थ विज्ञान और व्याकरणादर्श' (सं० २००८) प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

**जीवनियाँ और आत्म कथा**

वर्तमान युग की एक विशेषता और है और वह है आत्मकथाओं का निर्माण। महापुरुषों को जीवन-चरित्र प्रायः अन्य व्यक्ति ही लिखते हैं, पर कभी-कभी वे स्वयं भी अपना जीवन चरित्र लिखते हैं। ऐसी रचनाएँ आत्म-चरित अथवा आत्म-कथाएँ कहलाती हैं। आत्म-कथा तथा जीवनियों में जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और वास्तविक रूप में देखने को मिलती है। उनमें नायक की आशा-निराशा, उसकी अभिलाषा-आकांक्षा और उसके गुण-दोष का यथातथ्य वर्ण रहता है। उपन्यास, महाकाव्य और नाटक के रूप में भी आत्म-चरित और जीवनियाँ लिखी जा सकती हैं, परन्तु उनमें कल्पना का इतना अधिक पुट रहता है कि उन्हें हम वास्तविक जीवन का लेखा-जोखा नहीं कह सकते। आत्म-चरित और जीवनियों में कल्पना का अभाव सा रहता है। उनमें कोई बात जोड़ी अथवा घटाई नहीं जा सकती। इसलिए जीवनी-लेखक का कार्य जहाँ सीमित है वहाँ उपन्यासकार अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है। वह अपने चरित्र-नायक को उठा भी सकता है और गिरा भी सकता है। जीवनी-लेखक न तो अनावश्यक बात पर प्रकाश डालता है और न आवश्यक बात की उपेक्षा करता है। जीवन का वास्त-

विक चित्र उतारने में ही उसकी कला को सफलता मिलती है। वह व्यक्ति को महत्त्व देता है, उसके समय के इतिहास को नहीं। इतिहासकार व्यक्ति की जिन बातो को अनावश्यक समझकर छोड देता है उन्हें जीवनीकार आवश्यक समझकर अपनाता है। इस प्रकार जीवन-चरित्र लिखने की एक पृथक कला है। आत्म-कथा की लिखने की कला उससे भी भिन्न है। जीवनीकार अपने चरित्र-नायक से दूर अथवा निकट रहकर उसकी जीवन-घटनाओं का वर्णन करता है, परन्तु आत्म-कथा चरित्र-नायक स्वयं लिखता है। हिन्दी में दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। अशोक, हर्ष, चन्द्रगुप्त, अकबर, महात्मा गांधी, टैगोर, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, नैपोलियन, हिटलर, लेनिन, स्टालिन, गोर्की, आदि महापुरुषों की अनेक जीवनियाँ लिखी गयी हैं। रत्नाकुमारी-कृत 'सेठ गोविन्द दास' (सं० १६६६); घनश्याम दास बिड़ला-कृत 'जमुनालाल जी बजाज' (सं० १६६६); मोहनलाल 'महतो'-कृत 'आरती के दीप' (सं० १६६७); श्री रामनाथ 'सुमन'-कृत 'हमारे नेता' (सं० १६६६), 'हमारे स्वर्गीय राष्ट्रय निर्माता' (सं० २००६) तथा 'युगाधार गांधी' (सं० २००८), हरिभाऊ उपाध्याय-कृत 'श्रेयार्थी जमुनालालजी' (स० २०७८); रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'तीस दिन मलवीय जी के साथ' (सं० १६६६); सुशीला नैयर-कृत 'बापू की कारावास की कहानी' (सं० २००७), और राजेश्वर नारायण सिंह-कृत 'रूसी क्रान्ति के अग्रदूत' (सं० २०११) इस धारा की सुन्दर रचनाएँ हैं। आत्म-कथा साहित्य में महात्मा गांधी-कृत 'आत्मकथा' (सं० १६८५) और जवाहरलाल नेहरू-कृत 'मेरी कहानी' (सं० १६-६१) के पश्चात् भवानीदयाल संन्यासी-कृत 'प्रवासी की कहानी' (सं० १६६६); राजाराम-कृत 'मेरी कहानी' (सं० १६६६); गुलाबराय-कृत 'मेरी असफलताएँ' (सं० १६६७), शान्तिप्रिय द्विवेदी-कृत 'परिव्राजक की प्रजा' (सं० २०१२), श्यामसुन्दर दास-कृत 'मेरी आत्मकथा' (सं० १६६६); राजेन्द्र प्रसाद-कृत 'आत्मकथा' (सं० २००४); राहुल सांकृत्यायन-कृत 'मेरी जीवन-यात्रा' (सं० २००६); हरिभाऊ उपाध्याय-

कृत 'साधना के पथ पर' (सं० २००२); इन्द्रविद्यावाचस्पति-कृत 'मेरी झाँकियाँ' (सं० २००७); वियोगी हरि-कृत 'मेरा जीवन प्रवाह' (सं० २००७) और गंगाप्रसाद उपाध्याय-कृत 'जीवन चक्र' (सं० २०१२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में संस्मरण के ढंग पर भी जीवनियाँ लिखी जा रही हैं। संस्मरण में लेखक का अपना दृष्टि कोण तो होता ही है, साथ ही स्वयं को भी अपने आलंबन के पास रखता है। उनमें कभी आलंबन दब जाता है और लेखक सामने आ जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत अनुभूतियों और प्रति-क्रियाओं के लिए पूरा स्थान उनमें नहीं रहता। उनकी प्रायः तीन शैलियाँ मिलती हैं—(१) शुद्ध संस्मरण (२) डायरी और (३) इन्टरवियु। हिन्दी में तीनों शैलियों का प्रयोग हुआ है। घनश्यामदास बिड़ला-कृत 'डायरी के पन्ने' (सं० १९९९) और 'गांधी जी की छत्रछाया में' (सं० २०१२); हरिभाऊ उपाध्याय-कृत 'पुण्य स्मरण' (सं० २००७); सत्यवती मल्लिक-कृत 'अमिट रेखाएँ' (सं० २००८); ग० वा० मावलंकर-कृत 'मानवता के झरने' (सं० २०११); कैलाशनाथ काटजू-कृत 'मैं भूल नहीं सकता' (सं० २०-१२); बनारसीदास चतुर्वेदी-कृत 'संस्मरण' (सं० २०१०), पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'-कृत 'मैं उनसे मिला' (सं० २०१०) आदि में सुन्दर संस्मरण संगृहीत हैं।

**उपयोगी साहित्य**

उपयोगी साहित्य प्रस्तुत करने की ओर भी वर्तमान लेखकों का ध्यान गया है उन्होंने प्रायः सभी विषयो पर सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। कला सम्बंधी रचनाओं में रायकृष्णदास-कृत 'भारत की चित्र-कला' (सं० १९९६) तथा 'भारत की मूर्ति कला' (सं० १९९६); आचार्य नंदलाल वसु-कृत 'शिल्प-कथा' (सं० २००६); और हरद्वारी लाल शर्मा-कृत सौंदर्य शास्त्र (सं० २०१०) प्रमुख हैं। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता सम्बंधी रचनाओं में शिवदत्त ज्ञानी-कृत 'भारतीय संस्कृति' (सं० २००१); मंगलदेव शास्त्री-कृत 'भारतीय संस्कृति : वैदिक धारा' (सं० २०११), रामधारी सिंह 'दिनकर'-कृत 'हमारी

सांस्कृतिक एकता' (सं० २०१२) तथा 'संस्कृत के चार अध्याय' (सं० २०१२) और डा० मोतीचन्द्र-कृत 'सार्थवाह' (सं० ,२०१२) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इतिहास और राजनीति में अभी बहुत सुन्दर रचनाएँ सामने नहीं आई हैं। इस दिशा में विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। भगवानदास केला-कृत 'कौटिल्य की शासन पद्धति' (सं० १९९८); संपूर्णानन्द-कृत 'व्यक्ति और राज' (सं० १९९७) तथा 'आर्यों का आदि देश' (सं० १९९८); शतीशचन्द्र काला-कृत 'मोहन जोदडो तथा सिन्धु सभ्यता' (सं० १९९८); भगवतशरण उपाध्याय-कृत 'कालीदास का भारत' (सं० २०१२); वासुदेव शरण अग्रवाल-कृत 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' (स० २०१२) और आचार्य नरेन्द्रदेव-कृत 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' (सं० २००६) तथा 'बौद्धधर्म दर्शन' (सं० २०१३); अपने ढंग की सुन्दर रचनाएँ हैं। धर्म तथा दर्शन में हरिभाऊ उपाध्याय-कृत 'भागवत धर्म' (सं० २००८), डा० भगवान-दास- कृत 'पुरुषार्थ' (सं० २०१०); डा० देवराज-कृत 'भारतीय शास्त्र का इतिहास' (सं० २००७) और बलदेव उपाध्याय-कृत 'भागवत सम्प्रदाय' (सं० २००६) प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। यात्रा-सम्बंधी ग्रन्थों में राहुल सांकृत्यायन-कृत 'किन्नर देश में' (सं० २००५); सेठ गोविन्द दास-कृत 'पृथ्वी परिक्रमा' (२०११); सज्जनसिंह-कृत 'लद्दाख यात्रा की डायरी' (सं० २०१२), यशपाल जैन-कृत 'जय अमरनाथ' (सं० २०१२) प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अन्य समाजिक विषयों में धीरेन्द्र मजूमदार-कृत 'समग्र ग्राम सेवा' (सं० २००४); हरिदत्त वेदालंकार-कृत 'हिन्दू-परिवार मीमांसा' (सं० २०११), गोरखनाथ सिंह-कृत 'राजकीय यव्यय प्रबन्ध के सिद्धान्त' (सं० २०११) और विज्ञान मे डा० सत्यप्रकाश-कृत 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' (सं० २०१०) सुन्दर रचनाएँ हैं। डा० यदुवंशी-कृत 'शैव मत' (सं० २०१२) का महत्त्व उसके नाम से ही स्पष्ट है।